बहुवचन

हिंदी की अंतरराष्ट्रीय त्रैमासिक पत्रिका

प्रधान संपादक

गिरीश्वर मिश्र

संपादक

अशोक मिश्र

ज्ञान शांति मैत्री

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा का प्रकाशन

बहुवचन
अंतरराष्ट्रीय त्रैमासिक
अंक : 48 (जनवरी-मार्च 2016) ISSN- 2348-4586
प्रकाशक : महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा (महाराष्ट्र)

संपादकीय संपर्क :
संपादक बहुवचन
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय
गांधी हिल्स, पोस्ट- हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा- 442005 (महाराष्ट्र)
मो. संपादक- 09422386554, ईमेल- bahuvachan.wardha@gmail.com

प्रकाशन प्रभारी : राजेश कुमार यादव
ईमेल- rajeshkumaryadav97@gmail.com फोन- 07152-232943, मो. 09975467897

© **संबंधित लेखकों एवं रचनाकारों द्वारा सुरक्षित**
प्रकाशित रचनाओं की रीति-नीति या विचारों से महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा या संपादकों की सहमति अनिवार्य नहीं है।

पत्रिका न मिलने की शिकायत इस पते पर करें :
प्रचार प्रसार : सुरेश कुमार यादव
फोन : 07152-232943, मो. 09730193094, ईमेल- s.ujala80@gmail.com

बिक्री और प्रसार कार्यालय :
प्रकाशन विभाग, **महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय**
गांधी हिल्स, पोस्ट- हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा- 442005 (महाराष्ट्र) भारत
फोन : 07152-232943, फैक्स : 07152-230903

वार्षिक सदस्यता के लिए बैंक ड्राफ्ट **महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय** के नाम से, जो वर्धा में देय हो, ऊपर लिखित बिक्री कार्यालय के पते पर भेजें। मनीऑर्डर स्वीकार्य नहीं।

अंक : रु. 75/-, वार्षिक शुल्क रु. 300/-, द्विवार्षिक शुल्क रु. 600/- व्यक्तिगत
संस्थाओं के लिए वार्षिक शुल्क रु. 400/-, द्विवार्षिक रु. 800/- (डाक खर्च सहित)
विदेश में : हवाई डाक : एक प्रति 15 अमेरिकी डॉलर/7 ब्रिटिश पाउंड
समुद्री डाक : एक प्रति 8 डॉलर/5 ब्रिटिश पाउंड
आवरण : देवप्रकाश चौधरी

BAHUVACHAN
A QUARTERLY INTERNATIONAL JOURNAL IN HINDI
PUBLISHED BY: MAHATMA GANDHIANTARRASHTRIYA HINDI VISHWAVIDYALAYA
GANDHI HILLS, POST-HINDI VISHWAVIDYALAYA, WARDHA-442005 (MAHARASHTRA) INDIA.

मुद्रक : क्विक ऑफसेट ई-17, पंचशील गार्डन, नवीन शाहदरा, दिल्ली-110032 (फोन : 011-22824606, मो. 9811388579)

अनुक्रम

आरंभिक

भीख नहीं किताब दो की अनूठी पहल 4

भीष्म साहनी पर विशेष

भारतीय समाज की अंदरूनी क्रूरता का खुलासा / *शंभु गुप्त* 6

स्मृति शेष

संपादन में नया प्रतिमान रचने वाले- रवीन्द्र कालिया/ *चित्रा मुद्गल* 21

बाबूजी के बिना दीवाली/ *सत्यकेतु सांकृत* 25

कवि से कहीं जियादा बड़े मनुष्य थे वीरेन डंगवाल/ *शैलेन्द्र चौहान* 38

वैचारिकी

हमारे समय में साहित्य का पक्ष/ *ज्योतिष जोशी* 44

स्त्री-प्रश्न : सरोकार एवं चुनौतियां/ *शशिकला त्रिपाठी* 48

उपन्यास अंश

निर्वासन!/ *चंद्रकांता* 56

कहानी

त्रास/ *रवीन्द्र कालिया* 73

एक नए भगवान का जन्म/ *महीप सिंह* 78

संस्मरण

गंगा-यमुनी संस्कृति का सबसे रौशन झूमर/ *नासिरा शर्मा* 83

संवाद

'हस्तक्षेप सार्थक होना चाहिए' (विश्वनाथ प्रसाद तिवारी से साधना अग्रवाल की बातचीत) 91

कविता 97

लीलाधर मंडलोई

दिनेश कुशवाह

अविनाश मिश्र

आलोचना

बाल साहित्य की हिंदी का विकसित होता रूप/ *दिविक रमेश* 106

प्रकृति के पड़ोस में कविता/ *माधव हाड़ा* 113

रेणु की कहानियों में आर्थिक समस्याएं/ *भारत यायावर* 118

यथार्थ के भविष्य की आहट/ *भरत प्रसाद* 125

प्रेमचंद और लू शुन की कहानियों का तुलनात्मक अध्ययन/ *चाओ वाई* 132

रेत की भाषा और राजस्थानी कविता का शिल्प/ *रूपा सिंह* 140

जीवन-दृष्टि और कला-दृष्टि का विलक्षण संयोग/ *संजय कुमार* 151

आरंभिक

भीख नहीं किताब दो!

इस बार आरंभिक की शुरुआत एक प्रेरणास्पद घटना से। करीब सप्ताह भर पहले ही राष्ट्रवाद और देशद्रोह को लेकर हंगामे के बीच एक टीवी चैनल की खबर थी कि हरियाणा के एक गांव दुर्जनपुर की दलित युवती अनु चिनिया ने चंडीगढ़ में उसके लिए परिजनों द्वारा तय की गई शादी करने से इसलिए इनकार कर दिया कि वह नौकरी छोड़कर समाजसेवा करना चाहती है जबकि उसके ससुराल वाले ऐसा नहीं चाहते थे। साहसी युवती ने ससुराल पक्ष को स्पष्ट जवाब देते हुए अपने अभिभावकों की सहमति से फैसला किया कि वह समाजसेवा जारी रखने के लिए शादी नहीं करेगी। आम तौर पर देखने में आता है कि उच्च शिक्षा प्राप्त कर हर लड़की विवाह कर अच्छे घर में जाना चाहती है। यह युवती जब भी गांव के पास स्थित एक चौराहे पर कुछ बच्चों को भीख मांगते हुए देखती तो सोचती कि इन बच्चों के हाथों में बस्ता क्यों नहीं है? इस घटना ने उसके मन मस्तिष्क को झिंझोड़कर रख दिया और उसने तय किया कि वह शिक्षा दान को अपने जीवन का उद्देश्य बनाएगी और ऐसे गरीब बच्चों को वह खुद शिक्षा देगी। खबर के मुताबिक यह युवती यहीं नहीं रुकी और उसने अपने गांव के आसपास के ऐसे सैकड़ों बच्चों को शिक्षा का महत्व समझाया और उन्हें मात्र एक श्यामपट और चाक से मुफ्त शिक्षा देनी शुरू की। इस काम में भी पहली अड़चन यह आई कि जो बच्चे दिन भर भीख मांगकर सौ- दो सौ रुपये कमाकर शाम को परिवारवालों को लाकर देते थे उनके अभिभावकों ने अनु की इन बच्चों की शिक्षा के लिए की गई पहल का विरोध किया। अनु अपने मजबूत इरादे के साथ डटी रही। धीरे-धीरे उसकी पहल रंग लाई और गांव वाले आज अपनी इस बेटी पर फख्र करते हैं। अनु और गांव के कुछेक नौजवानों ने एक संगठन बना लिया है जिसका नाम रखा है 'भीख नहीं किताब दो।' यह घटना दर्शाती है कि समाज में बदलाव किसी की भी पहल से आ सकता है। जीवन में अर्जित की गई निजी उपलब्धियों से किसी भी व्यक्ति का मूल्यांकन नहीं होता। उसका मूल्यांकन इससे होता है कि उसने समाज और देश के लिए क्या किया। दरअसल हमारे खबरिया चैनल टीआरपी या खबरों की एकतरफा होड़ में या तो किसी को नायक बनाते रहते हैं या बेसिर पैर की बहसें चलाकर सुप्रीम कोर्ट की भूमिका में आ जाते हैं। जरूरी है कि समाचार चैनलों पर राजनीति, अपराध और अंधविश्वास का प्रसार करने वाली खबरों के बजाए प्रेरणादायक खबरें दिखाई जानी चाहिए ताकि समाज में जो कुछ घट रहा है उससे दूसरे प्रेरणा ग्रहण कर सकें।

पिछले तीन बरसों से पुस्तक मेला मेरे अनुभव में हर बार ही स्मृतियों में दुखद प्रसंग जोड़ता रहा है। यह संयोग है या कि कुछ और कि पहले अमरकांत, फिर तुलसीराम और इस बरस प्रख्यात कथाकार रवीन्द्र कालिया का निधन पुस्तक मेला के दौरान ही हुआ। सोचा था कि पुस्तक मेला में उनसे जरूर मुलाकात होगी लेकिन चार जनवरी को ही यह खबर मिली कि वे अस्वस्थ हैं और गंगाराम अस्पताल में भर्ती हैं मन उदास हो गया। निश्चय किया कि शनिवार की सायं हर हालत में मिलूंगा लेकिन कई बार अपना सोचा होता नहीं। अचानक तीन बजे के आसपास मित्रों के मैसेज मोबाइल पर आने शुरू हो गए कि कालिया जी नहीं रहे। मन एकाएक उनकी स्मृतियों में डूब गया। अगला दिन रविवार था और उस दिन विश्वविद्यालय

के कुलपति प्रो. गिरीश्वर मिश्र विश्व पुस्तक मेला में विवि के प्रकाशन विभाग के स्टाल का अवलोकन करने आ रहे थे। वे आए उन्हें कालिया जी के निधन की खबर मिल चुकी थी। यह भी इत्तफाक है कि कालियाजी विश्वविद्यालय की कार्यकारिणी के सदस्य भी थे। इसके बाद कुलपतिजी दिल्ली विश्वविद्यालय से संबद्ध विद्वान बलराम शुक्ल की कार से मेरे और हिंदी अधिकारी राजेश कुमार यादव के साथ अंतिम संस्कार स्थल लोदी रोड श्मशान गृह के लिए रवाना हुए लेकिन दिल्ली के चिड़ियाघर के सामने लगे जाम ने हम सभी को बिलंब करा दिया। जिसका परिणाम यह हुआ कि पहुंचने पर पता चला कि अंतिम संस्कार दो मिनट पहले ही समाप्त हो चुका था। कालियाजी की स्मृति में शोकसभा चल रही थी जिसे निवर्तमान कुलपति विभूति नारायण राय संबोधित कर रहे थे। प्रथम कुलपति अशोक वाजपेयी भी वहां उपस्थित थे। दिविक रमेश ने कुलपति गिरीश्वरजी को ममता कालिया से मिलवाया लेकिन वे अपनी सुध-बुध खो चुकी थीं आखिर कालियाजी की जीवन संगिनी जो ठहरीं। मौके पर साहित्यिक समाज के चित्रा मुद्‌गल सहित कई लेखक दिखे और मिले लेकिन वातावरण में मौन और अपने किसी के चले जाने का दर्द साहित्य से जुड़े हर व्यक्ति के चेहरे पर था।

वे एक कथाकार या फिर बेजोड़ संस्मरणकार थे। वे साठोत्तरी पीढ़ी जिसमें ज्ञानरंजन, काशीनाथ सिंह, दूधनाथ सिंह शामिल हैं उसके बेजोड़ कथाकार रहे। उनकी रचनाएं विशेषकर 'काला रजिस्टर' ने मुझे बहुत प्रभावित किया था। इसका एक और कारण था कि 'काला रजिस्टर' पत्रकारिता की अंदरूनी स्थितियों पर केंद्रित थी और पत्रकार होने के नाते यह मेरी भी दुनिया बन चुकी थी इसलिए यह कहानी मुझे बहुत प्रभावित करती थी। 'गालिब छुटी शराब' ने उन्हें हिंदी का स्टार लेखक बना दिया था। यह किताब इतनी बिकी कि हिंदी की बेस्ट सेलर बन गई। रवीन्द्र कालिया ने उस दौर में संपादन शुरू किया जब अधिकांश लोग रिटायर हो जाते हैं। इसके बावजूद उन्होंने अपने प्रयोगधर्मी संपादन से पहले 'वागर्थ' फिर 'नया ज्ञानोदय' को हिंदी की बहुपठित पत्रिकाएं बना दिया। वे हिंदी में विमर्शधर्मी संपादक नहीं थे लेकिन पाठकों की नब्ज की पर्याप्त समझ रखते थे और निष्प्राण पत्रिकाओं में जान डाल देते थे। वे पिछले कुछ समय से बीमार चल रहे थे। उनकी स्मृति को विश्वविद्यालय की ओर से सादर नमन।

'बहुवचन' का पिछला अंक जो आलोचना पर केंद्रित था लोगों को अच्छा लगा, यह हमारे लिए संतोषप्रद है। इस अंक में रवीन्द्र कालिया को याद करते हुए उनकी प्रतिनिधि कहानी 'त्रास' और वरिष्ठ कथाकार चित्रा मुद्‌गल का संस्मरण दिया जा रहा है। इसके साथ ही इस बीच दिवंगत वरिष्ठ आलोचक गोपाल राय को सत्यकेतु सांकृत और नई कविता के सशक्त कवि वीरेन डंगवाल को शैलेन्द्र सिंह याद कर रहे हैं। वैचारिकी खंड में स्त्री विमर्श की चुनौतियों पर शशिकला त्रिपाठी एवं साहित्य के पक्ष पर ज्योतिष जोशी के लेख दिए गए हैं। यह भीष्म साहनी का जन्म शताब्दी वर्ष है। इस मौके पर विस्तार से उनके उपन्यास 'कुंतो' की चर्चा कर रहे हैं कथा आलोचक शंभु गुप्त। कवि आलोचक विश्वनाथ प्रसाद तिवारी से उनकी कविताओं और आलोचना पर साधना अग्रवाल की बातचीत पठनीय है। 'चंद्रकांता' का उपन्यास अंश और दिवंगत कथाकार महीप सिंह की कहानी व कवि संपादक लीलाधर मंडलोई के साथ-साथ महत्वपूर्ण कवियों दिनेश कुशवाहा, अविनाश मिश्र की कविताएं भी दी जा रही हैं। अमृत लाल नागर को कहानियों के बहाने याद किया है सुप्रसिद्ध कथाकार नासिरा शर्मा ने। आलोचना खंड में दिविक रमेश, माधव हाड़ा, भारत यायावर, भरत प्रसाद, चाओ वाई, रूपा सिंह, संजय कुमार के अलग-अलग विषयों पर लिखे गए आलोचनात्मक लेख उम्मीद है कि पाठकों को पसंद आएंगे। आप सभी को अंक कैसा लगा यह जानने की जिज्ञासा जरूर रहेगी, आपकी प्रतिक्रियाओं और सुझावों का इंतजार रहेगा।

अशोक मिश्र

भीष्म साहनी पर विशेष

भारतीय समाज की अंदरूनी क्रूरता का खुलासा

शंभु गुप्त

यथार्थ की कार्य-कारण शृंखला अर्थात् एक काल-खंड विशेष का जीवन-यथार्थ

हिंदी के शीर्षस्थ कथाकार भीष्म साहनी का छठा उपन्यास 'कुन्तो' अपने कथा-सूत्रों और कथा-फलक में बहु-आयामी और व्यापक होते हुए भी स्त्री-पुरुष प्रेम-संबंधों, दांपत्य, भारत के पुरुष-प्रधानतावादी समाजों में स्त्री की दोयम दर्जे की स्थिति, स्त्री-स्वातंत्र्य जैसे मुद्दों पर मुख्यतः केंद्रित है। दरअसल यही मुद्दे उसके समेकित और केंद्रीय कथ्य का निर्माण करते हैं। यों प्रसंगवश सन सैंतालीस और उससे कुछ पहले की अनेक ऐतिहासिक घटनाओं-परिघटनाओं के संदर्भ बीच-बीच में यहां आए हैं किंतु वे केवल देश-काल, वातावरण की ऐतिहासिक प्रामाणिकता और विश्वसनीयता के लिए ही लाए गए प्रतीत होते हैं। प्रोफेस्साब के संयुक्त परिवार तथा उनसे जुड़े जिन दो-तीन परिवारों की अंदरूनी कहानी यहां चित्रित की गई है, दरअसल वही इस उपन्यास की मूल विषय-वस्तु है। किंतु इस कहानी की ऐतिहासिक समयावधि एवं संघटना के प्रमाण तथा पहचान के लिए ये संदर्भ भी यहां उतने ही जरूरी और आवश्यक जान पड़ते हैं। ये संदर्भ हमें यह द्योतित कराते हैं कि यह जो प्रोफेस्साब के संयुक्त परिवार की कहानी है या यह जो जयदेव-कुन्तो, सुषमा-गिरीश, धनराज-थुलथुल आदि के दांपत्य और उसमें आती दरारों, पति द्वारा अपनी पत्नी की उपेक्षा और अन्य स्त्री के प्रति उसके आकर्षित होने, पत्नियों द्वारा आत्महत्या या पत्नियों के घुट-घुटकर मर जाने, प्रोफेस्साब के यथास्थितिवादी छद्मपूर्ण तथाकथित मध्यम-मार्ग, स्त्री के प्रति बरती जाने वाली क्रूरता, प्रेम की संवेदना में आते चलते ह्रास, स्त्री-पुरुष प्रेम-संबंध--दांपत्य-- की परंपरित सामंतवादी और पुरुष- प्रधानतावादी अमानवीय अवधारणा के अभी भी समाज में बरकरार रहने आदि-आदि की कहानी है; यह ऐतिहासिक रूप से इस कालखंड-विशेष की कहानी है। इस काल-खंड विशेष की ऐतिहासिक पहचान इस कहानी में अंतर्निहित अनेक गूढ़ रहस्यों, मंतव्यों तथा यथार्थ की कार्य-कारण शृंखला की ओर सार्थक संकेत कर सकती है, करती है। कहते हैं कि जीवन-यथार्थ का हर टुकड़ा परस्पर सापेक्ष और कार्य-कारण शृंखला से जुड़ा होता है। एक काल-खंड विशेष का जीवन यथार्थ उस काल-खंड विशेष की राजनीति एवं समाजार्थिक परिस्थितियों पर आधारित एवं उनसे निर्मित होता है। इस उपन्यास में लेखक अपनी मूल कथा-वस्तु के साथ-साथ इस कथा-घटना के सम-काल की जो विभिन्न राजनीतिक, समाजार्थिक एवं अन्य घटनाओं का विवरण देता चलता है तो उसका रचना उद्देश्य दरअसल यही प्रतीत होता है कि लेखक यथार्थ की कार्य-कारण शृंखला को सृजित कर इस

काल-खंड के वास्तविक जीवन-यथार्थ को प्रामाणिकता के साथ प्रस्तुत कर सके।

बदलता हुआ राजनीतिक एवं समाजार्थिक परिवेश :

इस उपन्यास की कथा-घटना सन सैंतालीस की आजादी, भारत-विभाजन तथा उससे कुछ समय पहले से जुड़ी है। उपन्यास का कथा-स्थल मुख्यतः लाहौर के पास एक शहर है, जो पाकिस्तान में है। उपन्यास में हिंदू-मुस्लिम दंगों तथा इनके सांप्रदायिक पलायन के उल्लेख भी हैं। जिन परिवारों और चरित्रों की कहानी इसमें है वे लगभग सभी पंजाबी मूल के हैं। किंतु जैसा कि इस उपन्यास के ब्लर्व में कहा गया है, 'यह उपन्यास किसी कालखंड का ऐतिहासिक दस्तावेज न होकर मानवीय संबंधों, संवेदनाओं, करवट लेते परिवेश और मानव नियति के बदलते रंगों की ही कहानी कहता है।' ये ऐतिहासिक/सामयिक संदर्भ इस उपन्यास की मूल वस्तु नहीं है। ये सभी संदर्भ प्रसंगवश ही यहां आए हैं। इस उपन्यास की मूल कथा-वस्तु है- मानवीय संबंध और संवेदनाएं। इसमें यदि कहीं इतिहास है तो वह बदतला हुआ राजनैतिक एवं सामाजिकार्थिक परिवेश तथा इस नए परिवेश में नए तरीके से बनते-बिगड़ते, निर्धारित होते मनुष्य संबंध हैं।

एक काल-खंड विशेष का बदलता हुआ राजनीतिक एवं समाजार्थिक परिवेश तथा इस नए परिवेश में बदलते, नए तरीके से बनते-बिगड़ते तथा निर्धारित होते मनुष्य संबंधों की पहचान और पकड़ ही दरअसल इस उपन्यास के आलोचनात्मक अध्ययन की मुख्य समस्या है।

यह बदलता हुआ और नया राजनीतिक एवं समाजार्थिक परिवेश क्या है और कैसे वह उस समय के मानवीय-संबंधों को प्रभावित कर रहा था, दरअसल यही इस उपन्यास का मुख्य विचार-बिंदु है।

इस उपन्यास में मुख्यतः दांपत्य संबंधों में उस समय आते बदलाव पर लेखक की नजर है। इस उपन्यास में मुख्यतः तीन दम्पति-जोड़े हैं : जयदेव-कुन्तो, धनराज-थुलथुल और सुषमा-गिरीश। यों, इनके अलावा अनेक पति-पत्नियां हैं, मसलन-- प्रोफेस्साब और उनकी पत्नी, जयदेव के पिता लालाजी और उनकी पत्नी, प्रोफेस्साब के बड़े भाई और उनकी पत्नी, जयदेव की बड़ी बहिन विद्या और उसका पति आदि-आदि। लेकिन ये पति-पत्नी चूंकि पिछली पीढ़ी के हैं और अपनी उमर भुगत चुके हैं अतः इनके जीवन में एक सपाटपन और पुरानापन है। इनकी लीक पूर्व-निर्धारित और परंपरागत है। इनके दांपत्य में एक घिसापिटापन और स्थिरता है। नयापन, उत्तेजना, बदलाव और उथल-पुथल यदि कहीं है तो वह जयदेव, कुंतो, सुषमा, गिरीश, धनराज, थुलथुल, सहदेव आदि नौजवान पीढ़ी के लोगों में है।

नई पीढ़ी के इन लोगों में यह नयापन, उत्तेजना, बदलाव और उथल-पुथल क्या है और क्यों है, दरअसल इसी का सूक्ष्म और सतर्क अध्ययन विस्तार के साथ यह उपन्यास करता है।

नए और पुराने के बीच घालमेल अर्थात यथास्थितिवाद अर्थात प्रोफेस्साब :

यहां सबसे पहले हम यह देखें कि इस उपन्यास के कथा-समय का वह बदलता हुआ और नया परिवेश क्या है, जो तत्कालीन युवा-जीवन को तेजी से प्रभावित कर रहा था? मोटे तौर पर कहा जाए तो यह दस्तक देती राजनीतिक आजादी, यूरोपीय किस्म का तथाकथित नवजागरण (आधुनिकतावाद) और स्त्री-स्वातंत्र्य व स्वाभिमान की अधिकार-चेतना जैसी स्थितियां थीं, जो भारत- जैसे पुराने समाज के लिए नई चीजें थीं। इन नई चीजों के साथ कुछ पुरानी चीजों का घालमेल भी हुआ। ये पुरानी

चीजें थीं- भारतीय समाज के पुराने सामंतवादी अथच दांपत्य के पुरुष-प्रधानतावादी संस्कार, जिनके तहत स्त्री दोयम दर्जे की मानी जाती रही थी, रक्त का शुद्धतावाद, स्त्रियों की अधिकार-हीनता आदि-आदि। इन दोनों के बीच संपन्न हुए घालमेल ने परिदृश्य को इतना धुंधलाया कि दाम्पत्य संबंधों में गतिहीनता, स्थिरता और ठसपन आता चला गया।

नए और पुराने के इस घालमेल के प्रतीक/प्रतिनिधि यहां प्रोफेस्साब हैं जो एक प्रकार से शुरू से लेकर अंत तक उपन्यास में छाए रहते हैं। उनका 'गोल्डन मीन' का फलसफा अर्थात मध्यम-मार्ग वस्तुतः नए-पुराने का यही घालमेल है, जो उपन्यास का समापन होते-होते किसी के काम का नहीं रह पाता। अंततः हर आदमी उसका आलोचक हो आता है। रामनाथ तो शुरू से ही प्रोफेस्साब के इस मध्यम-मार्ग का तीखा आलोचक था ही, धीरे-धीरे सहदेव, उनका अपना सगा छोटा भाई धनराज तथा एक समय उनका एकतान रूप से अंध-भक्त रहा जयदेव भी अंततः उनका आलोचक हो उठता है। ये तीनों पात्र धीरे-धीरे इनकी पकड़ से मुक्त होते हुए अपना रास्ता खुद तय करने लगते हैं। अंततः खुद प्रोफेस्साब को यह महसूस होने लगता है कि 'लगता है, किसी एक को भी मेरी जरूरत नहीं रह गई है। किसी एक ने भी मेरी नहीं सुनी। (पृ. 280)। दरअसल होना तो यह चाहिए था कि नए व पुराने के बीच उस समय संघर्ष व द्वंद्व होता; न कि घालमेल। संघर्ष व द्वंद्व से चीजें आगे बढ़ती हैं, उनका नवोन्मुखी विकास होता है, जबकि घालमेल से वह जहां की तहां ठहरकर पीछे चलने लग जाती हैं। नई चीजें धीरे-धीरे अपने स्थान से उखड़ना शुरू हो जाती हैं और इनसे रिक्त हुए स्थान को फिर पुरानी और दकियानूस चीजें ही भरना शुरू करती हैं। इस तरह समय ठहरे हुए पानी की तरह रुककर सड़ने लग जाता है।... भारत की तथाकथित राजनीतिक आजादी (1947) का समय लगभग इसी दलदल में फंसा प्रतीत होता है; जबकि राजनैतिक तौर पर यहां जनतांत्रिक नेताओं और सामंतवादी शक्ति-पुंजों के बीच सत्तोन्मुखी गठबंधन घटित हुआ। राजनीतिक क्षेत्र के इस गठबंधन ने लोकतांत्रिक नवजागरण की ओर बढ़ते उस समय के समाज और सामाजिक संबंधों पर भी अपना संक्रामक असर डाला और उसकी गति बाधित हुई। लेखक ने हालांकि राजनीतिक हवाले यहां नहीं दिए हैं किंतु यह एक सुस्थापित और मान्य तथ्य है कि राजनीति में जनतांत्रिक और सामंतवादी एजेंसियों के बीच बड़ा व्यापक घालमेल उस समय हुआ था। राजनेता सामंतों की गोदियों में जा बैठे थे और सामंतों ने लोकतंत्र का चोंगा पहनना शुरू कर दिया था। एक तरह से लगभग यही प्रक्रिया सामाजिक क्षेत्रों में घटित हुई। लोकतांत्रिक नवजागरण की ओर अग्रसर होते समाज को पुरातनपंथियों और वर्णाश्रम-व्यवस्थावादियों ने बड़े चालाक तरीके से अपने चंगुल में लेना शुरू किया और देखते-देखते चीजें पलटने लगीं। नवजागरणवादी ताकतों ने पुनरुत्थानवादियों से खूब लोहा लिया किंतु इन दोनों के बीच में चलने वाले तीसरे किस्म के लोगों ने- यानी कि मध्यममार्गियों ने- सबसे अधिक घातक भूमिका निभाई। ये मध्यमवर्गी इधर भी थे और उधर भी पर दरअसल ये न इधर थे, न उधर। ये दरअसल वहां थे, जहां निर्विघ्न इनके स्वार्थ पूरे होते थे। अपनी इस स्वार्थ-पूर्ति में ये किधर भी, किसी के साथ भी हो सकते थे। नवजागरण और पुनरुत्थानवाद के घालमेल को ढंकने के लिए जिस आसानी से न पकड़ में आने वाले छद्म की आवश्यकता होती है, उसका ये बिचौलिए बहुत अच्छी तरह प्रतिनिधित्व करते थे। दरअसल नवजागरण और पुनरुत्थानवाद के बीच, निर्णायक संघर्ष के स्थान पर, जो घालमेल की स्थितियां पैदा हुईं, उसके पीछे और उसके आगे इसी तरह के

छद्म-पूर्ण अवसरवादी लोग थे। अपने सीमित और स्वनिर्मित दायरे में ये लोग हर युग में, हर स्थिति में बीच का रास्ता निकालते हुए हर चीज को अपने निहित स्वार्थ में इस्तेमाल करने में सफल होते हैं। इस उपन्यास में विस्तार और अंतर्दृष्टि के साथ बीच के रास्ते की इस असलियत को उल्लेखनीय कथात्मक संयम और कौशल के साथ संरचित किया गया है। प्रोफेस्साब का चरित्र बड़ी सूझ-बूझ और रचनात्मक विवेक के साथ कथाकार ने सिरजा है। प्रोफेस्साब के एक शिष्य रामनाथ के माध्यम से लेखक ने बीच-बीच में बार-बार प्रोफेस्साब के इस तथाकथित मध्यम-मार्ग पर गंभीर नुक्ताचीनी करते हुए इस संबंध में अपना स्पष्ट अभिमत व्यक्त किया है। इस बीच के रास्ते की सबसे बड़ी विडंबना यह है कि यह यथास्थितिवादी होता है, न केवल यथास्थितिवादी, बल्कि पश्चगामी भी। रामनाथ एक स्थान पर कहता है 'प्रोफेस्साब सदा मार्क-टाइम करते रहते हैं। मुंह सामने की ओर, भविष्य की ओर, पर वहीं खड़े-खड़े कभी दायां तो कभी बायां पांव उठाते और रखते रहते हैं। वहीं खड़े-खड़े लेफ्ट-राइट, लेफ्ट-राइट करते रहते हैं।' (पृ. 233)।

नवजागरण का एक महत्वपूर्ण अभिलक्षण : स्त्री-पुरुष समानता

जयदेव और सहदेव इस उपन्यास में भारतीय समाज में आते नवजागरण का प्रतिनिधित्व करते हैं। सहदेव के चरित्र में नवजागरण के तत्व सर्वाधिक हैं। यह एक ओर विदेशी शासन-अंग्रेजों- के खिलाफ संघर्षरत शक्तियों के स्पष्टतः साथ है और स्वयं संघर्ष में शामिल है तो दूसरी ओर एक नई पारिवारिक जीवन-दृष्टि भी वह अपने अंदर विकसित करता प्रतीत होता है। यह नई पारिवारिक जीवन-दृष्टि उसके उस लंबे पत्र से संकेतित होती है, जिसे उसने कहीं दूर-पार से अपनी नव विवाहिता पत्नी को लिखा था; और जिसमें कि वह अपनी पत्नी को बिल्कुल एक मित्र की भांति अपने निजी अंदरूनी अनुभव का आत्मीय हिस्सेदार बनाता है। अपनी कमियां, कमजोरियां भी इसमें वह खोलता चलता है और अपनी सारी आपबीती लिखता चलता है। पति-पत्नी के संबंधों में इस समय आया यह नवजागरण का एक महत्वपूर्ण अभिलक्षण था जिसके अंतर्गत स्त्री पुरुष के बराबर और समान महत्व प्राप्त कर रही थी। पुरुष का अहम्; जिसके तहत स्त्री-पत्नी- को वह महत्वहीन मानता आया था; इस समय परे हो रहा था। सहदेव की यह नव-विवाहिता पत्नी उपन्यास में प्रत्यक्ष नहीं है, प्रत्यक्ष तो केवल सहदेव ही है किंतु लेखक का ध्यान वस्तुतः यहां पुरुष-मानसिकता में आते इस ऐतिहासिक परिवर्तन पर ही सबसे ज्यादा केंद्रित है, जिसके तहत अपनी पत्नी को वह अपने 'साथी' के रूप में ग्रहण करने की स्थिति में आ रहा था। हालांकि इसी के साथ यह भी कि ऐसा परिवर्तन बहुत कम लोगों में आ रहा था। लेखक इस तथ्य को रेखांकित करता है कि स्त्री-संबंधी यह धारणागत परिवर्तन बहुत कम लोगों में आ रहा था। जयदेव, धनराज, गिरीश, विद्या का सेल्समैन पति, जयदेव के पिता लालाजी, प्रोफेस्साब के जर्मनी वाले बड़े भइया और स्वयं प्रोफेस्साब; ये सबके सब लोग कहीं-न-कहीं, किसी न किसी तरीके से अपनी-अपनी पत्नी को दोयम दर्जे पर ले आते हैं, उसे अपमानित/हतोत्साहित करते हैं और उसकी परवाह नहीं करते हैं।

आधुनिकतावाद बनाम पुराना सामंतवादी रवैया

जयदेव, धनराज, गिरीश और प्रोफेस्साब के जर्मनी वाले बड़े भइया यूरोपीय किस्म के नवजागरण या कि आधुनिकतावाद की गिरफ्त में हैं। प्रोफेस्साब के जर्मनी वाले बड़े भइया यों सोलह साल जर्मनी में रहे और वहां उन्होंने अपनी दूसरी गृहस्थी बसा ली थी; जबकि यहां उनकी पत्नी और जवान बेटी

उनकी राह देखती रही थीं। यहां लौटकर भी उनके रंग-ढंग वैसे ही रहे। जर्मनी में भी दूसरी गृहस्थी बसा लेने के बाद भी उनके अभिसारों में कमी नहीं आई थी। (पृ. 288)।

प्रोफेस्साब का छोटा भाई धनराज सात साल सिंगापुर रहा और वहां अपनी एक सह-पाठिनी-डार्की डार्लिंग- के प्रेम-पाश में बंधा रहा और इधर उसकी बीवी थुलथुल बेसब्री से उसकी राह देखती रही। वह स्वदेश लौटा लेकिन अपना दिल वहीं छोड़कर। अपनी बीवी के सामने ही अपनी डार्की डार्लिंग की फ्रेम जड़ी तस्वीर को सीने से लगाकर वह उसकी याद में मशगूल रहता दिखाई देता है। उस तस्वीर को अपने कमरे में तिपाई पर सजाकर रखता था जो उसकी बीवी की कुढ़न के लिए काफी थी। डार्की डार्लिंग के पत्र भी खुलेआम उसके नाम आते थे। थुलथुल उसके लिए व्यर्थ-सी हो गई थी। बाद में जब प्रोफेस्साब इस मामले में हस्तक्षेप करते हैं तो किसी तरह डार्की-डार्लिंग से थुलथुल निजात पाती है। किंतु धन्ने मन ही मन फिर भी उसे याद करता रहता है। धीरे-धीरे वह अपने ही शहर की एक और लड़की के संपर्क में आता है और जल्दी ही 'उसके शरीर की महक और अलसाई चितवन और मादक मुस्कान का भास' पा लेता है। (पृ. 226)। सिंगापुरवाली प्रेमिका का स्थान अब यह लड़की-कोकिला- ले लेती है। हालांकि कोकिला के साथ-साथ मन ही मन मोना भी निरंतर उसके जेहन में रहती है। यदि उसके मन में किसी के लिए जगह नहीं है तो वह है उसकी बीवी थुलथुल, जिसके साथ निरंतर मार-पीट, प्रताड़ना, अवमानना का क्रम वह जारी रखता है। यह क्रम थुलथुल को अंततः जलाकर मार देने पर ही जाकर खत्म होता है। प्रोफेस्साब का दोगलापन और स्त्रियों के प्रति उनका दोयम दर्जे का रूख यहां फिर उभरकर सामने आता है। वे जानते थे कि थुलथुल को जलाया गया है। वह आग में जलती हुई उन्हीं के कमरे के सामने बचाने की गुहार लगाती है लेकिन प्रोफेस्साब चुपचाप उसे जलता, पिघलती मोम के पिंड-सा बनते देखते रहते हैं। वे पहले उसे आत्महत्या और फिर अचानक आग लग जाने के कारण हुई आकस्मिक मौत कह देते हैं। हालांकि वे जानते थे कि थुलथुल के जल मरने के पीछे उसके पति धनराज का हाथ है, बल्कि उसके पति ने ही उसे जलाकर मार डाला था। किंतु प्रोफेस्साब अपने भाई से कुछ नहीं कहते, बल्कि वे कोकिला के साथ बढ़ते उसके 'अभिसार' को शह ही देते हैं। एक ओर तो वे ऐसा करते हैं और दूसरी ओर थुलथुल को शांत रहने व घर की मर्यादा का पालन करने की नसीहत देते रहते हैं। (पृ. 136-37, 45)। प्रोफेस्साब का यह रवैया उनके तथाकथित मध्यम-मार्ग का वह पुनरुत्थानवादी पहलू है जिसके तहत पति जो करे ठीक है। पत्नी हर हाल में उसके साथ निर्वाह करे, कोई शिकायत न करे। शिकायत भी करे तो अंततः समझौता भी करे; आदि-आदि। यानी कि जो कुछ है वह पुरुष ही है। स्त्री केवल उसके उपयोग के लिए है। ....धनराज का पर-स्त्री प्रेम तथा अपनी पत्नी को जलाकर मार डालना- ये दोनों तथ्य उसके आधुनिकतावाद की पुष्टि करते हैं। हालांकि उसके इस तर्क में दम है कि थुलथुल के साथ उसकी मर्जी से उसका विवाह नहीं हुआ। वह कहता है- 'गलत आदमी के साथ उसे बांध दिया गया तो बेचैन रहती है, रोती-बिलखती है।' (पृ. 140)। 'आप लोगों ने जब मेरा ब्याह किया था तो क्या मुझ से पूछकर किया था?' (पृ. 185)। लेकिन इसी थुलथुल के साथ जब चाहे वह रमण भी करना चाहता है। यदि सचमुच थुलथुल के लिए अपने को गलत आदमी वह मानता था और जबर्दस्ती अपने को उससे बांधा गया मानता था तो सिंगापुर से लौटता ही नहीं और कभी उसके शरीर को छूता भी नहीं। लेकिन ऐसा वह नहीं कर पाता। उसे दरअसल शिकायत

यह है कि थुलथुल अन्य स्त्रियों से उसके प्रेम को लेकर ऐतराज क्यों करती है! पहले वह सिंगापुर वाली मोना डार्लिंग से कुढ़ती रहती है और फिर कोकिला से। और जब-जब वह इनके प्रति अपनी नाराजगी जताती है, अपने पति द्वारा प्रताड़ित की जाती है। यानी कि थुलथुल इन्हें पूरी तरह स्वीकार कर ले और चुपचाप घर में पड़ी रहे!... यही, दरअसल वह आधुनिकतावाद है, तो बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में हमारे यहां बड़े पैमाने पर फैला और जिसने दांपत्य की जड़ें खोखली कीं। लेखक कहीं इस 'आधुनिकतावाद' का शाब्दिक उल्लेख नहीं करता किंतु उसका कथा- विन्यास कुछ ऐसा है कि हमारा ध्यान इसी ऐतिहासिक परिघटना पर जाकर टिकता है। यदि प्रोफेस्साब के शब्दों में कहें तो कहेंगे कि- 'तुम्हारी गृहस्थी भी बनी रहे और तुम्हारा अभिसार भी चलता रहे।' (पृ. 263)। लेकिन धनराज जैसे चरित्र पुरुष की सामंतवादी मनोवृत्ति के ही प्रतीक हैं। सामंत अभिसार के लिए निरंकुश और स्वतंत्र होते थे। घर पर पत्नी हो तो भी और न हो तो भी नई-नई स्त्रियों से निरंतर उनका अभिसार चलता रहता था। यह विचित्र किंतु सत्य है कि बीसवीं शताब्दी का आधुनिकतावाद एक सीमा के बाद हमारे पुराने सामंतवादी रवैयों से काफी हद तक मेल खाने लगता है।

युवा पीढ़ी का तत्कालीन दिग्भ्रम अर्थात् जयदेव

आधुनिकतावाद का थोड़ा भिन्न और परिमार्जित-सा रूप इस उपन्यास के कथानायक जयदेव में मिलता है। जयदेव प्रोफेस्साब के व्यक्तित्व के आधुनिकतावादी पक्ष से अत्यधिक प्रभावित है; यहां तक कि सम्मोहित-सा है। इस सम्मोहन के चलते ही अपने घर--मां--बाप- के वातावरण को वह बहुत ही दकियानूस मानता है और प्रोफेस्साब को, उनके घर के वातावरण को बहुत खुला हुआ और आधुनिक। इसीलिए जब प्रोफेस्साब अपनी छोटी बहिन कुंतो के विवाह का प्रस्ताव उसके सामने रखते हैं तो जैसे वह अभिभूत और कृतकृत्य-सा खुद को महसूस करता है और अपने मां-बाप की सहमति-असहमति की परवाह किए बिना- दरअसल उसके मां-बाप तक यह बात पहुंचे उससे पहले ही- खुद इसकी स्वीकृति दे देता है। बावजूद इसके कि शुरू से ही वह अपनी मौसेरी बहिन सुषमा से प्रेमाकर्षण में बंधा है, वह कुंतो से विवाह कर लेता है। सुषमा के प्रति जो उसका आकर्षण है, उसका वास्तविक रूप दरअसल यह है- 'बचपन के प्यार बड़े गहरे होते हैं। कहीं यह बचपन का पहला प्यार तो नहीं? वह बरसों तक दिल में बना रहता है और उसकी आंच आजीवन अंदर-ही-अंदर सुलगती रहती है।' (पृ. 20)। सुषमा जयदेव की मौसेरी बहिन है अतः हिंदू परंपरा और संस्कारों के कारण इन दोनों की शादी नहीं हो सकती। किंतु जयदेव इस संस्कार के बावजूद सुषमा के प्रति प्रेमाबद्ध है, सुषमा के प्रति आखीर तक उसका प्रेम मरता नहीं; कुंतो के साथ विवाह के बाद भी वह जीवित बना रहता है, इससे उनके दांपत्य में दरार तक आ जाती है, यहां तक कि कुंतो अंदर ही अंदर घुलती हुई एक दिन मौत की आगोश में चली जाती है। और उधर जयदेव कुंतो की मौत के साल भर बाद ही इस नतीजे पर पहुंच जाता है- 'जयदेव को लगा जैसे कुंतो अपने घर का आंगन सुषमा के लिए खाली करके चली गई है।... उसे लगा जैसे कुंतो सचमुच उसे मुक्त करके चली गई है।' (पृ. 327)।

जयदेव की सुषमा के प्रति यह प्रेमबद्धता, बावजूद तमाम ऐतराजों के, आधुनिकता के अंतर्गत है। प्रेम इस आधुनिकता का अभिलक्षण है। युवक-युवती के बीच प्रेमाकर्षण इस जैव-सृष्टि का सबसे स्वाभाविक, शाश्वत और आवश्यक तत्व है अतः यह हर युग में आधुनिक और प्रासंगिक है। यहां

यह इस अर्थ में तो आधुनिक है ही। किंतु आधुनिकता का इससे भी बड़ा तत्व इसमें यह है कि बावजूद अपनी सामाजिक परंपरा और संस्कारों के जयदेव सुषमा के प्रति अपनी संलग्नता को न तो छुपाता है, न कम करता है और न इस मामले में उसे कोई अपराध-बोध ही है। सामाजिक परंपरावादी, शुद्धतावादी, तत्ववादी जैसे लोग चाहे इसे लाख अनैतिक कह लें, लेकिन प्रेम दरअसल एक ऐसी संवेदना है, जो अधिकांशतः सापेक्षिक होती है।

इस उपन्यास के प्रोफेस्साब; जो कुल मिलाकर अंततः इन्हीं परंपरावादी, शुद्धतावादी और तत्ववादी लोगों का प्रतिनिधित्व करने लगते हैं; सुषमा के प्रति जयदेव के प्रेमाकर्षण को अत्यंत ही स्वाभाविक और जरूरी मानते हैं। (पृ. 21)। वे जब भी और जहां भी इसका विरोध करते-से प्रतीत होते हैं तो इसका कारण वस्तुतः यह नहीं होता कि यह मौसेरे भाई-बहनों के बीच का प्रेमाकर्षण है, बल्कि यह होता है कि इससे इस समय व आने वाले समय में उनके हित प्रभावित हो सकते हैं। उनका अपना यह हित है- अपनी छोटी बहिन कुंतो का विवाह- जयदेव के साथ कर देना। उपन्यास में यह कहीं भी स्पष्ट नहीं होता कि प्रोफेस्साब आखिर जयदेव से ही अपनी बहन का ब्याह क्यों करना चाहते थे। क्या जयदेव में कोई ऐसी खूबी थी, जो अन्यत्र उन्हें नहीं मिली या मिलती। या उनकी छोटी बहिन ने क्या यह हठ पकड़ लिया था कि वह ब्याह करेगी तो इसी के साथ; अन्यथा नहीं। या ऐसी ही कोई और बात! लेकिन नहीं। ऐसा दरअसल कुछ भी नहीं था। कोई बाध्यता नहीं थी। तो फिर आखिर क्या था कि प्रोफेस्साब जयदेव पर ही आकर अटक गए! और, यहां एक बार फिर प्रोफेस्साब के चरित्र का एक बेहद लिजलिजा पहलू उभरकर सामने आता है। प्रोफेस्साब, यों प्रेम-तत्व के बड़े हिमायती हैं। संयुक्त परिवारों में रहने वाले युवक-युवतियों के बीच के आकर्षण को स्वाभाविक मानते हैं, लड़के-लड़कियों की दोस्ती को प्रोत्साहन देते हैं। विवाह से पहले दोनों के एक-दूसरे को नजदीक से जान लेने, बातचीत करने के हिमायती हैं। यहां तक कि एक विवाहित पुरुष के पर-स्त्री के साथ मन-बहलाव/शारीरिक संबंधों को भी बुरा नहीं मानते, यहां तक कि वे स्वयं जब कभी अत्यधिक अशांत और उद्विग्न होते हैं तो अपने एक मित्र की पत्नी के साथ कुछ देर बैठकर उन्हें बड़ा सुख मिला करता है, क्योंकि; उनका मानना है कि 'कष्ट के समय पुरुष, स्त्री के सान्निध्य में ही अपने लिए त्राण खोजता है।' (पृ. 316)। किंतु यह सारा दर्शन, ये सारे तर्क, सारे उपाय उन्हें तभी तक सह्य हैं, जबकि वे खुद उनके अपने काम आ रहे हों और इनके अपने व्यक्तिगत/पारिवारिक हितों को कोई चोट न पहुंचती हो। अन्यथा सिंगापुरवाली डार्की डार्लिंग मोना ने ऐसा कौन-सा अपराध किया था कि प्रोफेस्साब ने एक संदेशवाहक के मार्फत उसे अपने भाई धनराज को चिट्ठी लिखने, उससे अपने सारे संबंध तोड़ लेने की हिदायत भिजवा दी थी। मोना ने धनराज से सिंगापुर में प्रेम ही तो किया था और अब भी करती आ रही थी। खुद धनराज अब तक उससे पहले जैसा प्रेम करता आ रहा था, उसकी याद कर-कर झूरता रहता था। प्रोफेस्साब को यह पसंद नहीं था क्योंकि इससे उन्हें लगता था कि धनराज की बीवी थुलथुल इससे कष्ट पाती है। लेकिन थुलथुल का कष्ट तो उस समय और भी बढ़ गया था, जब धनराज अपने ही शहर के एक वरिष्ठ डॉक्टर देवीदयाल की आजाद-खयाल बेटी कोकिला के प्रेम-जाल में जा फंसा था। थुलथुल के लिए तो जैसी मोना वैसी कोकिला। दोनों की वजह से ही उसका पति निरंतर उसके लिए पराया हुआ जा रहा था। पहले धनराज मोना को चाहता था, बाद में कोकिला को चाहने लगा। उसने यदि

कभी किसी को नहीं चाहा तो वह थी उसकी अपनी बीवी थुलथुल। प्रोफेस्साब को यदि थुलथुल से सच्ची/वास्तविक सहानुभूति होती तो वे कोकिला से भी धनराज को अलग कराने का उपक्रम करते। लेकिन वे ऐसा नहीं करते बल्कि इसके उलट धन्ने को वे प्रोत्साहित ही करते हैं, एक प्रकार से इन संबंधों को स्वीकृति देते हैं। क्या इसलिए कि वे प्रेम की संवेदना के हिमायती हैं और दो प्रेम करने वालों को सहयोग करना चाहते हैं? नहीं, ऐसा कदापि नहीं! बल्कि असलियत यह है कि वे धन्ने को इसलिए इसकी छूट देते हैं कि ''कोकिला के साथ दोस्ती हो जाने से धनराज को सिंगापुरवाली की याद कम सताएगी और इसके सिंगापुर लौट जाने की आशंका भी कम हो जाएगी।' (पृ. 226)। और, प्रोफेस्साब इसके सिंगापुर लौट जाने की आशंका से क्यों दुखी हैं? क्या इसलिए कि थुलथुल अकेली रह जाएगी और कष्ट पाएगी। नहीं। वे इससे दुखी इसलिए हैं कि उसके सिंगापुर लौट जाने के बाद उसकी पत्नी को वे किस ठौर लगाएंगे, उसकी परवरिश कौन करेगा, उसका बोझ वे कैसे उठाएंगे! वे अपने भाई से स्पष्ट कहते हैं- 'यह नहीं हो सकता कि तुम तो अपनी जिंदगी से अपनी पत्नी को निकाल फेंको और हम उसे संभालते फिरें।' (पृ. 184-85)। और दरअसल इसीलिए वे यह बीच का रास्ता निकालते हैं कि धन्ने की दोस्ती कोकिला से करा देते हैं। यहां उनका अभिमत है कि- 'थोड़ा-बहुत इधर-उधर मुंह मारता है तो मारता रहे, घर तो बना रहेगा।' (पृ. 226)। लेकिन हम जानते हैं कि इन हरकतों से घर बनता नहीं टूटता ही है। लेकिन प्रोफेस्साब यहां इन हरकतों के हिमायती हैं तो दरअसल इसलिए कि ऐसा होने से वे खुद एक व्यर्थ की जिम्मेदारी से बच जाएंगे। थुलथुल दीवार से अपना माथा पीटती रहे तो उनकी बला से, जला कर मार दी जाए तो उनकी बला से! थुलथुल की मौत के एक साल बीतते न बीतते कोकिला ब्याह कर घर ले आई जाती है। निश्चय ही प्रोफेस्साब अपने छोटे भाई की बीवी के लालन-पालन का बोझा क्यों उठाएं! वे क्यों इस दायित्व को अपने सिर लें! धन्ने खुद इस मसले का हल ढूंढ़े! ठीक है, प्रोफेस्साब की यह जिम्मेदारी भी नहीं है! धन्ने ने खुद अपनी बीवी को अंततः ठिकाने लगा ही दिया! यह सब तो जो हुआ सो हुआ; लेकिन हम तो यहां प्रोफेस्साब से यह पूछना चाहते हैं कि आखिर उनके वे सिद्धांत कहां गए, उनका आखिर क्या अचार डला, जिनकी डींग वे हांका करते थे! आखिर क्या रामनाथ द्वारा किया गया उनका यह मिश्रवाक्यात्मक अभिज्ञान एकदम सही है- ' प्रोफेस्साब सिसायत से जुड़ते भी हैं और सिसायत से दूर भी रहते हैं। प्रोफेस्साब आधुनिक विचारों से जुड़ते भी हैं, और बाबूजी के लट्ठ के भक्त भी हैं। प्रोफेस्साब प्रेम के उपासक हैं, पर प्रेम से कोसों दूर भी भागते हैं।' (पृ. 234)। रामनाथ फिर इस अभिमिश्रण को और तार-तार करता है- ' प्रोफेस्साब क्लासरूम के अंदर आधुनिक हैं, पर क्लासरूम के बाहर परंपरावादी। अखबार पढ़ते हुए प्रोफेस्साब क्रांतिकारी हैं, पर अखबार बंद कर देने पर यथास्थिति के समर्थक! प्रोफेस्साब हम सबके हैं, और प्रोफेस्साब किसी के भी नहीं।' (पृ. 234-35)।... निश्चय ही भीष्म साहनी ने प्रोफेस्साब के माध्यम से आत्मकेंद्रित, स्वार्थी, अवसरवादी, परंपरावादी, यथास्थितिवादी, पूर्वाग्रहवादी, अन्यायी, दोगले, भीरू मध्यमवर्गीय चरित्रों का बहुत ही प्रामाणिक और प्रासंगिक अध्ययन इस उपन्यास में किया है। आजादी के आस-पास के ऐसे दोगले चरित्रों ने उस समय की युवा-पीढ़ी को किस तरह दिग्भ्रमित किया; इस उपन्यास का कथानायक जयदेव इसका प्रमाण है। और, दरअसल युवा-पीढ़ी के इसी तत्कालीन दिग्भ्रम को सामने लाना इस उपन्यास का ऐतिहासिक उपक्रम और अवदान है।

स्त्री-स्वातंत्र्य का विमर्श अर्थात् फिर वही दकियानूसी :

जहां तक स्त्री-स्वातंत्र्य के विषय में प्रोफेस्साब के विचारों का प्रश्न है, तो इस मामले में भी वे उसी पुरातनपंथी, पुरुष-प्रधानतामूलक सामंतवादी समाज-व्यवस्था के संपोषक हैं, जिसकी परंपरा हमारे यहां हजारों सालों से चलती चली आई है। स्त्री के विषय में कुलमिलाकर वे उसी ब्राह्मणवादी-मनुवादी अवधारणाओं के समर्थक हैं जिनके तहत स्त्री स्वतंत्रता के लिए बनी ही नहीं है। स्त्री पर पुरुष का आधिपत्य, परिवार व दाम्पत्य में पुरुष की प्रधानता व वर्चस्व, स्त्री पर पारिवारिक, कौटुम्बिक व सामाजिक मर्यादाओं/बंधनों के हर हालत में पालन करने का दायित्व, स्त्री को स्वयं को अपने पति, परिवार व समाज के अनुसार समर्पण में ढाल लेना, अपनी भावनाओं, इच्छाओं, आक्रोश इत्यादि को खुलकर अभिव्यक्त करने के अपने अधिकार को तिलांजलि दे देना आदि-आदि प्रोफेस्साब के स्त्री-संबंधी चिंतन के विविध पहलू हैं। स्पष्ट है कि स्त्री को लेकर प्रोफेस्साब का चिंतन बेहद दकियानूसी ओर नवजागरण-विरोधी है।

पिछड़ेपन और नएपन का प्रतिक्रियावादी खेल :

लेकिन यहां सवाल यह उठता है कि नई पीढ़ी का जयदेव, प्रोफेस्साब की इस तरह की आधुनिकता-विरोधी अवस्थिति के बावजूद उनकी ओर क्यों खिंचा, उनका अन्ध-भक्त क्यों बन गया। जबकि वस्तुतः वह स्वयं अपने खुद के घर के दकियानूस पिछड़े और पुराने ढंग के रहन-सहन से उकता गया है और कुछ नया चाहता है।... एक तरह से देखा जाए तो दरअसल इसी प्रश्न के विश्लेषण और उत्तर में इस उपन्यास का रचनोद्देश्य छिपा हुआ है।

दरअसल उपन्यास के पहले ही परिच्छेद में इस प्रश्न का विश्लेषण और उत्तर छिपा हुआ है। उपन्यास के पहले परिच्छेद में दिखाया गया है कि जयदेव अपने घर के वातावरण को, अपने मां-बाप को, उनके खान-पान, पहनावे-ओढ़ावे, शक्ल-सूरत आदि सब-कुछ को बेहद दकियानूस और पिछड़ा हुआ मानता है और इससे उकताया हुआ है तथा कुछ नया पाना चाहता है। यह नयापन उसे प्रोफेस्साब तथा उनके समूचे घर में मिलता है। कैसा है वह जयदेव के घर का पिछड़ापन और कैसा है आखिर प्रोफेस्साब के घर का नयापन। इस पुराने और नएपन के सही-सही मूल्य-निर्धारण के लिए हमें थोड़ा इनके विवरणों में जाना पड़ेगा। किंतु इन विवरणों में जाने से पूर्व इस एक वाक्य का सबसे ज्यादा ध्यान देने की जरूरत है- 'जब से यह प्रोफेस्साब के संपर्क में आया था उसे अपना घर पिछड़ा हुआ और परिवार के लोग दकियानूसी से लगने लगे थे।' (पृ. 16)। यानी कि पिछड़नेपन और नएपन का यह तथाकथित खेल मात्र सापेक्षिक और प्रतिक्रियात्मक है। जयदेव को लगने लगा था कि उसका घर, उसके घर के लोग पिछड़े हैं जबकि प्रोफेस्साब और उनका घर आधुनिकता का केंद्र था। ऐसा जयदेव को आखिर क्यों लगा? क्या थी वह आधुनिकता; जो उसके अपने घर में नहीं थी और जो प्रोफेस्साब के यहां उसे मिली थी! यह आधुनिकता थी- मांस और आमलेट, प्रोफेस्साब के परिवार की चहल-पहल, हंसी-खेल, खाने-पहनने का शौक, सबकी आपस में बेतकल्लुफी और मसखरापन और सबके ऊपर खुद प्रोफेस्साब की सज-धज, उनका बांकपन तथा और दूसरे लटके-झटके। हर आदमी का अपना अलग--विशिष्ट--शारीरिक गठन होता है, उसकी पोशाक, रहन-सहन, जीने का तरीकों होता है। प्रोफेस्साब का रहन-सहन अलग था और उसके घर वालों का अलग, यह स्वाभाविक भी है। किंतु जयदेव इसमें भी अपने तर्क की गुंजाइश निकाल लेता है-

‘‘प्रोफेस्साब आगे-आगे चल रहे थे। सैर-सपाटे की पोशाक में- नीचे निक्कर और ऊपर सफेद कमीज। वह बड़े चुस्त-दुरुस्त लग रहे थे। उनके घुंघराले बाल, उनकी गोरी-गोरी गर्दन, उनके नाजुक-से हाथ।... प्रोफेस्साब में अपनी तरह का बांकपन था। हर काम करीने से करते, किसी काम में जल्दबाजी नहीं करते थे। कभी मुचड़ा हुआ कपड़ा, या धूल से अटे जूते नहीं पहनते थे, उनके नाखून तक तराशे होते।’ (पृ. 16)। किंतु उसके अपने घर के लोगों की स्थिति यह थी- ‘उनकी ओर देखते हुए जयदेव उनकी तुलना अपने संबंधियों से करने लगा- मोटी थोबड़ी नाक, धूप में संवलाए चेहरे, पिताजी और चाचाजी की बड़ी-बड़ी लटकती मूंछें, नीचे पाजामा। पाजामा भी कोई पोशाक है, पग्गड़ भी कोई सिर पर रखनेवाली चीज है?’ तथा इसके अतिरिक्त यह भी कि- ‘उसकी आंखों के सामने उसका अपना घर-परिवार घूम गया। पिछड़ा हुआ परिवार, सादा-से लोग, रसोईघर में बैठकर खाना खानेवाले, संध्या-उपासना हवन करने वाले, पिताजी बंद गले का लंबा कोट और नीचे पाजामा पहनते हैं, घर में केवल दूध-दही पर जोर रहता है।’ (पृ. 16-17)। जयदेव का घर-परिवार पंजाबी खत्रियों या बनियों का परिवार है, जहां व्यापार होता है। जयदेव के पिता की जो पोशाक है वह पंजाबी खत्रियों/बनियों की आम पोशाक है, वह स्वाभाविक है। किंतु इसी से जयदेव को चिढ़ है और वह इसे पिछड़ेपन का प्रतीक मानता है।

उधार की आधुनिकता बनाम असल नवजागरण संदर्भ : युवापीढ़ी :

जयदेव दरअसल चौथे-पांचवें दशक के हमारे उस युवा-वर्ग का प्रतीक है, जो उस समय आधुनिकता के संक्रामक प्रभाव में तेजी से आया था किंतु चूंकि यह आधुनिकता एक उधार ली हुई या ओढ़ी हुई चीज थी अतः यह न ज्यादा दिन चलनी थी, न चली। जयदेव प्रोफेस्साब के मार्फत इस आधुनिकता के असर में आया। यह आधुनिकता अंग्रेजी स्टाइल की आधुनिकता थी, जिससे ऊपर हमने यूरोपीय तरीके का तथाकथित नवजागरण कहा है। इस यूरोपीय तरीके के नवजागरण की एक तीव्र लहर-सी चौथे-पांचवें दशक में हमारे यहां चली थी। निश्चय ही अंग्रेजी तौर-तरीके इस तथाकथित नवजागरण के मुख्य निर्धारक बिंदु थे। दरअसल नवजागरण वही स्थाई, उपादेय और अग्रगामी-क्रांतिकारी होता है, जो समय-परिवर्तन की देशज प्रक्रिया के तहत अस्तित्व में आता है। मध्य-काल का भक्ति-आंदोलन इसकी अब तक की सबसे बड़ी मिसाल है जो सामंतवाद, संप्रदायवाद, ब्राह्मणवाद तथा इसी तरह की बहुत-सी अमानवीय और यथास्थितिवादी क्रूर परंपराओं के खिलाफ उस समय का एक बड़ा नवजागरण था। आजादी की लड़ाई के दौरान पुनः एक बड़े नवजागरण की संभावनाएं पैदा हुई थीं। राजनीति से लेकर परिवार तक प्रायः सभी क्षेत्रों में इस नवजागरण की आहट सुनाई दी। जनतंत्र, समाजवाद, गैर-संप्रदायवादी, गैर-जातिवादी व समानतामूलक सामाजिक-चिंतन, जातीयता व स्वदेश-प्रेम, स्त्री-पुरुष समानता, श्रम का महत्व, मनुष्यता आदि-आदि इस नवजागरण के प्रमुख आयाम थे। नवजागरण की यह धारा मध्य-कालीन भक्ति-आंदोलन से प्रसूत नवजागरण से कहीं न कहीं जुड़ती थी और यदि यह कहा जाए कि भारतीय जन-गण ने एक बार फिर अपनी अंतर्निहित ऊर्जा से इस नवजागरण को संभव किया, तो कोई अत्युक्ति न होगी। किंतु बीसवीं शताब्दी के चौथे-पांचवें दशक में, भारतीय स्वतंत्रता-संग्राम में शामिल कुछ सत्ताकामी और अवसरवादी छद्म संशोधनवादी शक्तियों ने इस आधुनिक पुनर्जागरण के साथ अंग्रेजी किस्म की आधुनिकता का जो सम्मिश्रण किया तो उससे लगभग एक वैसी ही घालमेल की स्थिति पैदा हुई जो इस उपन्यास

के विभिन्न पात्रों के चरित्र में हम देखते हैं। इस उपन्यास के प्रोफेस्साब तत्कालीन घालमेल की इसी ऐतिहासिक परिघटना के प्रतीक-प्रतिनिधि हैं। तत्कालीन शिक्षित युवा-पीढ़ी किसी सिर चढ़े जादू की तरह इस घालमेल की जकड़ में आ फंसी। प्रोफेस्साब की दिखावटी आधुनिकता जयदेव पर जो संक्रामक असर डालती है तो इस असर का मूल कारण दरअसल इस पीढ़ी का अंग्रेजियत के प्रति मूक आकर्षण ही है। नई पीढ़ी प्रायः हर युग में इस प्रकार के नए आकर्षणों पर सम्मोहित होती देखी जाती है। तीसरी दुनिया के गरीब और अशिक्षित देशों की लगभग यही स्थिति सामान्यतः देखी जाती है। वर्तमान समय में, विश्व-परिदृश्य में अमेरिकी वर्चस्व के चलते उत्तर-आधुनिकतावाद की ओर हमारी नई पीढ़ी का सम्मोहन इसी विवेकहीनता की अगली कड़ी है। इस विवेकहीनता की सामाजिक व पारिवारिक परिणतियां प्रायः वही होती हैं, जो इस उपन्यास में जयदेव, कुंतो, सुषमा, गिरीश, धनराज, थुलथुल, विद्या आदि की होती हैं। इनमें कुछ पात्र इस विवेकहीनता के संवाहक हैं तथा कुछ इसकी परिणतियों के अभिशाप को झेलने को विवश हैं। इस उपन्यास की कथानायिका कुंतो इसी विवशता की प्रतीक है।

आधुनिकता अवसरवाद नहीं, प्रोफेस्साब!

निश्चय ही जयदेव का पारिवारिक वातारण ठस पारंपरिकता से भरा है। खान-पान, रहन-सहन से लेकर सामाजिक पारिवारिक विचार-व्यवहार तक सब चीजों में एक प्रकार की स्थिर पुनरावृत्तियां हैं। इस स्थिरता ने वहां बासीपन और तज्जन्य नीरसता को जन्म दिया है। इसी नीरसता की स्थिति में प्रोफेस्साब का व्यक्ति और परिवार उसे एक नवीनता का अहसास कराता है और वह कठपुतली की तरह उनके हर अभिमत को अपने लिए एक दिशा-निर्देश जैसा समझने लगता है। उपन्यास में जयदेव और प्रोफेस्साब के घरेलू वातावरणों की तुलना अधिकांशतः जयदेव के मनःलोक के अंतर्गत ही चलती देखी जाती है किंतु कुछ प्रसंग यहां ऐसे भी हैं जो पाठक के सामने स्थितियों को प्रत्यक्षतः भी स्पष्ट करते चलते हैं। इसका एक बड़ा उदाहरण सुषमा और कुंतो और जयदेव के प्रारंभिक घटना-प्रसंगों से जुड़ा है। जयदेव का अपनी मौसेरी बहन सुषमा के प्रति प्रारंभ से ही जो मूक यौनाकर्षण था, उसे चाहे जयदेव ने कभी किसी के सामने व्यक्त किया हो या न किया हो पर उसकी कुछ हरकतों से उसके मां-बाप इस स्थिति को भांप जाते हैं और ऐसा होते ही जैसे उसके घर में एक भूचाल आ जाता है। यहां उसके घर की ठस परंपरावादिता खुल कर सामने आ जाती है। एक शाम घर की छत पर सुषमा के ऊपर झुके जयदेव के दृश्य को देखकर जयदेव की मां जैसे घर में कुहराम-सा मचा देती है। यों, जयदेव से वह कहती है कि यदि सुषमा के साथ उसका उन्स हो गया है और वह उससे ब्याह करना चाहता है तो साफ-साफ बता दे। वह इस मामले में सब-कुछ को ताक पे रख, सबका विरोध झेलते हुए भी उसका साथ देगी। (पृ. 73-76)। किंतु इसी के साथ-साथ दूसरी ओर वह इस स्थिति के खतरों से भी अंदर ही अंदर आशंकित हो उठती है और इसकी सूचना अपने पति को देते हुए सुषमा की शादी जल्दी से जल्दी कहीं न कहीं कर देने और इस किस्से पर पूर्णविराम लगाने की योजना में भी शामिल हो जाती है। सुषमा की सगाई एक जगह तय हो जाती है जिसे जयदेव अपने भाई सहदेव के साथ चतुराई से तुड़वा देता है। इस सगाई के टूटने से घर में एक सन्नाटा-सा छा जाता है। इस सगाई के टूटने और उसके बाद के सन्नाटे का उपन्यास में विस्तार से वर्णन किया गया है। यहां सबसे उल्लेखनीय तथ्य यह है कि सुषमा की सगाई टूटने से जो

प्रतिक्रिया जयदेव की मां की होती है, लगभग वैसी ही प्रतिक्रिया प्रोफेस्साब की भी होती है। परंपरागत हिंदू समाज में लड़की की सगाई टूटना बहुत दुर्भाग्यपूर्ण और लड़की तथा उसके घर वालों के लिए अहितकर माना जाता है। इस मामले में जयदेव के मां-बाप तथा प्रोफेस्साब लगभग एक-जैसी मानसिकता का परिचय यहां देते हैं। इधर जयदेव की मां जयदेव से कहती है- 'यह दुनिया बड़ी जालिम है बेटा, किसी को नहीं बख्शती।... लड़कियों के मामले बड़े नाजुक होते हैं।' (पृ. 76)। और उधर प्रोफेस्साब जयदेव से कहते हैं- 'लड़कियों के मामले बड़े नाजुक होते हैं जयदेव! तुमने जल्दबाजी की है।' (पृ. 85)। जयदेव की मां की प्रतिक्रिया तो जैसी थी ठीक थी किंतु प्रोफेस्साब की प्रतिक्रिया अप्रत्याशित थी। इससे जयदेव को जो धक्का पहुंचना था, वह तो पहुंचा ही, लेकिन प्रोफेस्साब की इस प्रतिक्रिया के पीछे मूलतः उनका एक निहित स्वार्थ भी छुपा हुआ था। और वह यह कि सुषमा की सगाई जयदेव द्वारा तुड़वाए जाने से वे इस आशंका से भर उठे थे और इसकी तहकीकात में लगे थे कि 'जयदेव की आवाज में... क्या एक प्रेमी की ईर्ष्या भी झलकती है?' (पृ. 84) वे इस वाकये के पीछे जयदेव के 'असली इरादों' की झलक पा लेना चाहते थे। और इस तहकीकात का असल कारण यह था कि कहीं जयदेव के सुषमा के चक्कर में पड़ जाने से कुंतो का विवाह उसके साथ करने की उनकी योजना पर पानी तो नहीं फिर जा रहा है! इस आशंका की परिणति भी लगभग वही होती है, जो जयदेव की मां की हुई थी। जयदेव की मां तत्काल सुषमा का ब्याह कहीं भी कर देने की योजना बनाती है, इधर प्रोफेस्साब भी कुंतो की पढ़ाई बीच में रुकवाकर तुरंत जयदेव के साथ उसका ब्याह कर देने की कुंतो की बड़ी बहन की सलाह को मंजूर कर लेते हैं (पृ. 86)। इस प्रकारण में प्रोफेस्साब इतनी उदारता अवश्य दिखाते हैं कि विवाह से पूर्व वे कुंतो और जयदेव को परस्पर बातचीत, घूमने-फिरने की छूट देते हैं। हालांकि जयदेव इसे प्रोफेस्साब की आधुनिकता ही मानता रहा था और उनके प्रति आभार से भर उठता था (पृ. 87)। किंतु इस तथाकथित आधुनिकता और उदारता के पीछे भी प्रोफेस्साब का असल इरादा यह छुपा हुआ था कि 'इससे जयदेव, कुंतो के ज्यादा निकट आने लगेगा, इससे सुषमा की ओर से उसका मन हटने भी लगेगा...' (पृ. 88)। यानी प्रोफेस्साब की आधुनिकता महज एक अवसरवाद है। जयदेव जो यह समझता है कि प्रोफेस्साब के संपर्क में आकर और उनका रिश्तेदार बनकर वह गौरवान्वित हुआ है, वह ऊंचा उठ गया है और वह भाग्यशाली है तथा यह कि 'अपने दकियानूसी घर के घुटन-भरे माहौल में से निकलकर ज्यादा जीवंत, आधुनिक, ज्यादा खुले माहौल में आ गया है' (पृ. 87), यह दरअसल उसका एक आत्म-विभ्रम ही है। प्रोफेस्साब की यह तथाकथित आधुनिकता दरअसल एक ओढ़ा हुआ सच है जो आगे चलकर खुद ही तार-तार हो जाता है। प्रोफेस्साब कुलमिलाकर आधुनिकता का अभिनय-सा करते हैं और यह आधुनिकता व्यावहारिक रूप से उनके जीवन में नहीं है, अतः अंततः उनका व्यक्तित्व बहुत ही असहज और कृत्रिम हो उठता है। वे स्वयं अपने को अंततः एक ऐसी स्थिति में फंसा पाते हैं, जिसमें किसी समस्या का समाधान उनके पास नहीं रहता। सारी चीजें उनके हाथ से निकल जाती हैं। उपन्यास के अंतिम दृश्यों में प्रोफेस्साब के हाथ में मलाल के अलावा कुछ नहीं रह जाता। यहां आकर उन्हें खुद अनुभव होता है कि अब तक की उनकी समूची भूमिका में एक अजीब-सा बनावटीपन रहा है। यहां तक कि यहां आकर अपने तथाकथित मध्यम मार्ग के प्रति भी वे अविश्वास से भर उठते हैं। (पृ. 313-16)। उपन्यासकार ने प्रोफेस्साब के चरित्र का जो

अध्ययन किया है, वह यहां अपनी रचनात्मक निष्पत्ति प्राप्त करता है।

अपने ही लोगों द्वारा ठिकाने लगाई जाती स्त्री अर्थात् 'ऑनर किलिंग' :

इस उपन्यास में लेखक के अध्ययन का एक और विशेष बिंदु रहा है। वह बिंदु है भारतीय-समाज में स्त्री की दयनीय स्थिति, इस पर पीछे काफी प्रकाश डाला गया। यहां इस संबंध में इतना और कहना है कि परंपरा से चले आ रहे पुरुष-प्रधान सामंतवादी संस्कारों के तहत तो भारतीय-समाज में स्त्री की स्थिति दोयम और अन्यायपूर्ण थी ही, तथाकथित आधुनिकता ने इस स्थिति को और अधिक पुख्ता ही किया। इस उपन्यास में दंगों के दौरान एक गांव के पलायित सिख-समुदाय द्वारा दंगाइयों के आक्रमण की आशंका से अपनी इज्जत-आबरू की रक्षा के नाम पर अपने ही घर की सात बहनों-बेटियों-बहुओं को मौत के घाट उतार दिया जाता है। (पृ. 32)। यह घटना स्त्री के प्रति हमारे परंपरित सामाजिक संस्कारों की प्रतीक है, जहां पुरुष की इज्जत का दायित्व भी स्त्री पर ही है। स्त्री की बेहुरमती, बेइज्जती जहां स्त्री से ज्यादा पुरुष और पूरे समाज की बेहुरमती-बेइज्जती मानी जाती है। यानी हमारी बेइज्जती न हो, इसलिए उस कारण को ही नष्ट कर दो जिससे हमारी बेइज्जती हो। यानी स्त्री की बेइज्जती का इकाईगत कोई अर्थ ही नहीं। यानी कि स्त्री को जो दोष उसने किया है उसकी तो सजा मिलती ही है, जो गलती उसकी नहीं है, उसके लिए भी उसी को जिम्मेदार मानकर उसे दंडित किया जाता है। दंगाइयों से अपनी और अपनी स्त्रियों की रक्षा न कर पाना इन पुरुषों की ही कमी थी, इनकी हताशा थी किंतु इस कमी और हताशा का शिकार सबसे पहले इनकी अपनी औरतें ही होती हैं। दुश्मन तो इन औरतों की बेइज्जती जब या जैसी करता तब करता पर उससे पहले ही, इनके अपने लोगों ने इन्हें ठिकाने लगा दिया।

भारतीय समाज की अंदरूनी क्रूरता का खुलासा :

इस उपन्यास की कथा-नायिका कुंतो स्वयं इस पुरुष प्रधानता की सबसे बड़ी शिकार के रूप में उभरकर सामने आती है। न केवल उसका पति जयदेव बल्कि उसका बड़ा भाई प्रोफेस्साब भी अंततः उसकी भावनाओं के साथ खिलवाड़ करते नजर आते हैं। जयदेव अपनी पत्नी कुंतो के प्रति बावजूद तमाम समर्पण और सदाशयता के सुषमा के प्रति अपने आकर्षण और उत्सुकता को कम नहीं कर पाता। कुंतो इससे बुरी तरह टूट जाती है। कुंतो के चरित्र में हमें एक सीधी-सादी, सहज, अनिन्द्य, सदय, निश्छल और पूर्ण-समर्पित पत्नी के दर्शन होते हैं जो एक सफल और सुखी दाम्पत्य के लिए आवश्यक है। दरअसल पति में भी अपनी पत्नी के प्रति ऐसा ही भाव और व्यवहार होना आवश्यक है, अन्यथा दाम्पत्य में दरार और तड़कन आने लगती हैं। कुंतो में तो हमें एक योग्य एवं एकनिष्ठ पत्नी की छवि दिखाई देती है किंतु जयदेव पति के रूप में ऐसा नहीं दिखाई देता। उसके मन में आधुनिकतावाद का कीड़ा समाया हुआ है जिसके तहत कुंतो के प्रति पहले वाला जुनून अब उसमें नहीं रहा। वही कुंतो जो शुरू-शुरू में 'प्रकाश-पुंज की भांति उसके जीवन में आई थी- सुंदर, हंसमुख, दमकते चेहरे वाली और उस पर प्रोफेस्साब की बहिन' (पृ. 261) और जिसके तिलिस्म में वह बुरी तरह बंधा हुआ था; वही कुंतो अब उसमें ऊब पैदा करने लगी थी। (वही)। अब जयदेव को यह महसूस होने लगता है कि प्रोफेस्साब ने मौसेरी बहन के साथ विवाह की असंभवता का भय दिखाकर उसे बरगलाया था तथा बड़ी चतुराई से अपनी बहन के साथ विवाह की बात उससे मनवा ली थी। (वही)। दरअसल सुषमा के प्रति अपने प्रेम एवं यौनाकर्षण को अभी तक वह नहीं भुला

पाता है। जयदेव के इस बदले रुख से कुंतो अंदर ही अंदर कुढ़ती और टूटती जाती है। इस स्थिति में प्रोफेस्साब का दृष्टिकोण भी कुलमिलाकर कुंतो के प्रति अन्यायपूर्ण तथा जयदेव का पक्ष लेने वाला ही साबित होता है। सुषमा जब अपने पति गिरीश की उपेक्षा और अपमान से तंग आकर शांतिनिकेतन चली जाती है और एक तरह से जयदेव से दूर हो जाती है तो प्रोफेस्साब इस मौके पर कुंतो को जो सलाह देते हैं, उससे स्त्री को एक दर्जा नीचे समझने और सारी स्थितियों के लिए उसी को दोषी मानने की उनकी सामंतवादी/पुरुष मानसिकता का स्पष्ट प्रमाण हमें मिलता है। वे उससे कहते हैं- 'कुंतो, अब वह लड़की तेरे रास्ते से हट गई है, अब अपनी गृहस्थी संभाल ले। यह तेरे लिए सुनहरी मौका है।' (पृ. 293)। कुंतो अपने भाई के इस मंतव्य से बहुत विचलित होती है। एक तरह से यह उसके स्त्री (पत्नी-) गत स्वाभिमान, आत्मविश्वास और उसकी अब तक की एकनिष्ठता पर करारा प्रहार सिद्ध होता है। 'सुनहरी मौका' की अवधारणा के पीछे निहित दृष्टिकोण की अभिव्याख्या करती हुई वह सोचने लगती है- 'किस बात का मुझे सुनहरी मौका मिला है? क्या था जो मेरे व्यवहार में पहले नहीं था और अब होना चाहिए?' (पृ. 293)। फिर इसके असल तात्पर्य तक पहुंचती हुई वह सोचती है- 'मैं इससे प्रेम करूं, ताकि यह मुझे ठुकराए नहीं?' (वही)। दरअसल कुंतो तो शुरू से ही जयदेव को स्वाभाविक रूप से एकनिष्ठ प्रेम करती रही है। उसका प्रेम बहुत ही सहज, स्वाभाविक और स्त्रियोचित था। वह एक साधारण प्रक्रम था। किंतु अब जब प्रोफेसर भइया उससे कह रहे हैं कि यह सुनहरी मौका है अपनी गृहस्थी संभाल ले; तो इसका तात्पर्य दरअसल यही तो हुआ कि कुंतो अब जयदेव का दिल जीत ले। उसे पूरी तरह अपने वश में कर ले। वह भरपूर उसे प्यार करे ताकि वह फिर इधर-उधर न भटके। पर कुंतो तो ऐसा शुरू से ही करती रही है। वह एक पूर्ण-समर्पित पत्नी की तरह हमेशा से ही प्रेम करती रही है। यदि इसके बावजूद जयदेव उससे असंतुष्ट है तो वह अब ऐसा क्या करे कि वह संतुष्ट हो जाए। क्या वह इसे रिझाए? बन-संवर कर, अच्छे-अच्छे व्यंजन खिलाकर, सेवा कर इसका दिल जीते? लेकिन ऐसा तो वेश्याएं करती हैं। रिझाने के लिए तो प्रेम का स्वांग किया जाता है, प्रेम नहीं। (वही)। कुंतो जयदेव को इसलिए प्रेम करती है कि वह उसका अपना है, उसका पति है। जब अब तक के इस प्रेम से ही वह नहीं बंधा रह सका तो अब क्या बंधेगा! (वही)। हालांकि कुंतो आगे ऐसा भी करती ही है। किंतु यही कृत्य अंततः उसकी गृहस्थी के उजड़ने और उसकी असामयिक मौत का कारण बनता है। जयदेव का साथ निभाने, उसे प्रसन्न रखने की प्रक्रिया में वह अपने बच्चों तक की परवाह नहीं करती, वे अनाथ की तरह हो आते हैं। जयदेव की हां में हां मिलाते रहने और उसकी इच्छाओं पर पूरी तरह अपने को सौंप देने से उसका आत्मविश्वास पूरी तरह जाता रहता है और एक हीन-भावना और आत्म-दया जैसी मानसिकता की गिरफ्त में वह हमेशा-हमेशा के लिए आ जाती है। इस भावनात्मक और वैचारिक टूटन का असर उसके स्वास्थ्य पर भी पड़ता है और बीमारियां और कमजोरी उसे अपनी गिरफ्त में ले लेती हैं। कुंतो अब ऐसी स्थिति में पहुंच गई है कि जयदेव अच्छा-बुरा, गलत-सही जो करे, उसे हर हाल में मंजूर करना है। कुंतो की मौत भी इन्हीं स्थितियों में होती है। जयदेव पर जब एक सहगान नाटक-मंडली में काम करते हुए समाजवादी विचारधारा का भूत सवार हुआ और किसान-मजदूरों और गरीबों के प्रति एक रोमांटिक पक्षधरता और अंध-लोकवाद उस पर हावी हुए तो एक गांव के ताल के गंदे पानी को स्वयं पीते हुए उसने कुंतो को भी ऐसा करने को विवश कर दिया। 'ताल का पानी

पियोगी तो इन गांव वालों की जिंदगी को समझ पाओगी, उन-जैसा महसूस कर पाओगी' (पृ. 309)। कुंतो जानती थी कि ताल के पानी पर काई जमी है। वह पीने लायक नहीं है। डॉक्टर ऐसे पानी को पीने से मना करते हैं। किंतु फिर भी वह अपने निश्चय पर दृढ़ नहीं रह पाती। जयदेव के ताना मारने तथा स्वयं उस पानी को पीते जाने की स्थिति में कुंतो का आत्मविश्वास डोल जाता है। संभवतः उसे लगा होगा कि यदि उसने पानी नहीं पिया तो जयदेव उससे फिर असंतुष्ट हो उठेगा! और इस तरह अपनी मौत को आमंत्रण देती हुई वह उस पानी को पीने लगती है। कई दिन तक पीती रहती है। 'फिर इस विचार से कि जो इसके लिए ठीक है, वह मेरे लिए भी ठीक है, वह ताल का पानी पीने लगी थी।' (वही)। ताल का पानी उसके स्वास्थ्य के लिए ठीक नहीं था। यह सिर्फ उसकी आत्म-हीनता थी। कुंतो की यह आत्मविश्वास-हीनता और पराश्रितता दरअसल उसके अंदर की बेतरह और लगभग संपूर्ण टूटन का प्रतिबिंब ही है। कुंतो के लिए यह 'सुनहरी मौका' अंततः सबसे अँधेरा मौका ही साबित होता है। कुंतो की यह स्थिति हमारे भारतीय समाज की उस अंदरूनी क्रूरता का खुलासा है जो पुरुष द्वारा स्त्री के प्रति यहां बरती जाती है। जयदेव कुंतो का उपभोग/उपयोग कर छूंछ की तरह उसे अपनी जिंदगी से निकाल देता है। उसकी मृत्यु के एक साल पूरे होते न होते वह पुनः सुषमा से विवाह के बारे में सोचने लगता है। (पृ. 327)। यानी कि कुंतो जैसी सहज, समर्पित स्त्रियां/पत्नियां इसी नियति की हकदार हैं, हमारे इस भारतीय समाज में! जहां तक प्रोफेस्साब की बात है, तो दरअसल उन्होंने कुंतो को इस सुनहरी मौके का फायदा उठाने का वह आत्मघाती सुझाव इसलिए दिया था क्योंकि हर परंपरावादी, पुरुषवादी, सामंतवादी संस्कारों वाला व्यक्ति इसी धारणा का संवाहक, प्रचारक होता है कि दाम्पत्य में यदि कहीं कोई दरार है, पति यदि किसी अन्य स्त्री के प्रति आकर्षित हो रहा है तो इसका तात्पर्य सिर्फ यही है कि उसकी पत्नी में ही कहीं कोई कमी है। वह अपने पति को संतुष्ट-आकर्षित नहीं कर पा रही है। उसे अपने पति को हर तरह से संतुष्ट और प्रसन्न रखना चाहिए; इत्यादि-इत्यादि। प्रोफेस्साब अपने विलासी भाई धनराज की पत्नी थुलथुल को भी यही सलाह देते हैं और प्रकारांतर से थुलथुल की भी वही परिणति होती है जो कुंतो की होती है।

●

स्मृति शेष

संपादन में नया प्रतिमान रचने वाले- रवीन्द्र कालिया

चित्रा मुद्गल

चार जनवरी की चढ़ती दोपहर : सुबह के नियमित कामों से निबटकर जब मैंने घर के किसी भी कोने में पड़े रहने वाले मोबाइल फोन की सुध ली तो मिस्ड कॉल देखकर मैंने एस.एम.एस. पर नजर डाली। अनेक संदेशों के बीच ममता का नाम देख उसके भेजे संदेश पर निगाह पड़ी। संदेश पढ़कर जी धक्क... से रह गया। 'गंगाराम, इमरजेंसी, नो होप।'

अस्पताल जाने से चिढ़ थी रवीन्द्र कालियाजी को। अपनी छोटी-मोटी शारीरिक व्याधियों का इलाज वे स्वयं कर लिया करते थे। होम्योपैथिक दवाइयां खाने से मैं स्वयं बचती रही हूं। चाहे गले की परेशानी हो या सूखी खांसी थी या लिखते-लिखते कंधों के दर्द की। अनेकों परिचित होम्योपैथिक डॉक्टरों में से जो सबसे पहले नाम याद आता वह रवीन्द्र कालिया का होता। धैर्य के साथ वे अस्वस्थता के सारे लक्षण जानना चाहते और टेलीफोन रख देते यह कहकर कि आधे घंटे बाद मैं तुम्हें फोन कर दवा लिखवा दूंगा। ठीक आधे घंटे बाद फोन आ जाता और वे मुझे दवाइयाँ लिख लेने के लिए कहते। कौन-सी देशी चल सकती है, कौन-सी जर्मनी की।

अवध चेताते।

नीम हकीम खतरे जान। अच्छा डॉक्टर बना रखा है कालिया को। मगर यह बात अवध भी जानते थे। उनकी दवाइयों ने मुझे कष्टों से मुक्ति दी है। ममता ने बताया था। दवाइयां रवि को खूब याद रहती हैं। मगर वे लक्षणों के अनुसार होम्यौपैथ के पोथे खोल बिना अध्ययन किए दवा नहीं बताते तुम्हें।

एक समय रवीन्द्र कालिया को ज्योतिष के अध्ययन का शौक चर्राया। डूब गए ज्योतिष पढ़ने में। पूछा एक बार तुम्हारी जन्मतिथि क्या है चित्रा! जन्मतिथि मैंने बता दी। बोले यह नहीं, असली वाली बताओ। असली वाली ही बता रही हूं। बोले, जब तुम्हारी मित्र ममता अपनी असली जन्मतिथि नहीं बताती तो तुम कैसे अपनी जन्मतिथि सही बता सकती हो! खूब हँसे सुनकर अवध और मैं। अवध ने कहा, दरअसल वह सआल्ला खुद अपनी असली जन्मतिथि गलत लिखता है। ममता की जन्मतिथि एकदम सही है। ममता झूठ नहीं बोलती। जाने कैसे फंस गई इस घनचक्कर के चक्कर में।...

ज्योतिष में उनकी दिलचस्पी हुई कैसे, पूछे बिना नहीं रह पाई तो जवाब मिला लिखने पढ़ने का धंधा मंदा चल रहा है इन दिनों। रायल्टी देने को प्रकाशक तैयार नहीं। न हुआ तो प्रेस बंद करके

ज्योतिषाचार्य का बोर्ड लटका गुजर-बसर की सोच ली जाएगी। ममता आचार्यत्व की पराकाष्ठा पर पहुंच ही गई है। कोई छात्र नाराजगी जताने माथे पर पत्थर फेंक देता है तो वह अखबारों की सुर्खियां बन जाती है। गलती से पत्थर कहीं आंख से जा लगता तो परिणाम सोचकर मैं सिहर उठता हूं।

स्मरण करने की कोशिश करती हूं, रवीन्द्र कालिया से मेरी पहली मुलाकात कब हुई थी। रवीन्द्र कालिया से मेरी पहली मुलाकात टाइम्स ऑफ इंडिया की बिल्डिंग में हुई थी थर्ड फ्लोर पर। करीब 51-52 साल पहले। उस समय वे 'धर्मयुग' में थे। मैं अवध से मिलने गई थी, तो अवध ने ही बताया कि 'वो देखो कालिया तुम्हें कैसे उचक-उचक कर देख रहा है। बहुत डायनेमिक कथाकार है। मैं तुम्हें उससे मिलवाऊंगा' लेकिन उस दिन शायद उनसे मुलाकात नहीं हो पाई। मैंने पत्र-पत्रिकाओं में उनके चित्र देखे थे और मन-ही-मन उन चित्रों से उनका मिलान करने लगी थी।...

कह सकती हूं कि रवीन्द्र और ममता कालिया के साथ हमारी 51-52 साल पुरानी पारिवारिक प्रगाढ़ता रही है। वह दौर अलग था। पत्रकारिता में धर्मयुग स्कूल का डंका बजता था। इस स्कूल ने बड़े-बड़े सितारा पत्रकार और संपादक दिए। चाहे वे कन्हैयालाल नंदन हों, विश्वनाथ सचदेव हों, गणेश मंत्री हों, उदयन शर्मा हों, एसपी सिंह हों या रवीन्द्र कालिया। नई कहानी आंदोलन में जिस तरह मोहन राकेश, कमलेश्वर और राजेंद्र यादव की तिकड़ी थी, उसी तरह साठोत्तरी पीढ़ी में ज्ञानरंजन, काशीनाथ सिंह और रवीन्द्र कालिया की तिकड़ी रही। इन तीनों में ज्ञानरंजन सबसे अच्छे कहानीकार और संपादक हुए, उन्होंने 'पहल' जैसी पत्रिका निकाली, काशीनाथ सिंह बड़े कहानीकार और संस्मरणकार रहे तो रवीन्द्र कालिया अच्छे कहानीकार के साथ-साथ स्टार संपादक हुए। 'धर्मयुग' छोड़ने के बाद वे इलाहाबाद चले गए और 'वर्तमान साहित्य' का कहानी महाविशेषांक निकालकर अपनी क्षमता का लोहा मनवा लिया। उनके संपादन की अपनी शैली थी। इसकी झलक उनके द्वारा संपादित पत्रिकाओं 'वर्तमान साहित्य', 'वागर्थ', 'नया ज्ञानोदय' और 'गंगा-यमुना' साप्ताहिक में देखी जा सकती है।

इन तमाम पत्रिकाओं की शुरुआत चाहे जिसने की, लेकिन रवीन्द्र कालिया ने अपने संपादन में इन सभी पत्रिकाओं को नया जीवन दे दिया। अपने संपादकत्व में उन्होंने नई से नई कथा पीढ़ी को स्टार का रूतबा दिया लेकिन वरिष्ठ रचनाकारों को भी पर्याप्त सम्मान के साथ इन पत्रिकाओं से जोड़े रखा। उन्होंने नई पीढ़ी को पैदा ही नहीं किया, बल्कि पुरानी पीढ़ी को भी स्टार बनाया। जब वे दिल्ली 'नया ज्ञानोदय' के संपादक बनकर आए तो पत्रिका में नई पीढ़ी की प्रतिभा का विस्फोट साफ-साफ दिखा और उन्होंने उसे बहुत जतन से संजोया। अपने संपादन में उन्होंने अपनी निजी विचारधारा और प्रतिबद्धता को आड़े नहीं आने दिया और न ही नई पीढ़ी के लिए किसी तरह का बाड़ा बनाया। 'खुदा सही सलामत है' के रचनाकार ने अपने रचनाकार की स्वायत्तता को बरकरार रखते हुए नए लोगों को पूरी स्वतंत्रता दी। उन्होंने अपने समकालीन संपादकों की तरह संपादन में किसी तरह के फार्मूले नहीं अपनाए न ऐसी कोई बाध्यता उत्पन्न की कि ऐसा लिखो तभी हमारे यहां छपने में सुविधा होगी।

पीछे मुड़कर देखती हूं तो याद आता है कि ममता को मैंने तस्वीरों से बाहर कब देखा था लेकिन जब देखा तो बहुत गहरे महसूस किया कि रवीन्द्र ममता की पहली मोहब्बत थे और आखिरी भी। ये दोनों जैसे एक-दूसरे के लिए बने थे लेकिन मैं यह नहीं कह सकती कि खिलंदड़े, मनमौजी और

साहित्य में खलबलियों को निर्मित करने वाले रवीन्द्र की पहली मोहब्बत भी ममता ही थीं। मुझे एक शाम याद आती है माहिम के घर की। जब भी हम लोग ममता और रवीन्द्र कालिया के घर जाते तो ममता कभी भी हमें बिना खाना खिलाए नहीं आने देती थीं। जब मैं अवध उनके घर पहुंचे तो उसी समय रमेश उपाध्याय भी आ गए। ममता ने रसोई में देखा तो थोड़ी-सी अरबी रखी हुई थी। लोग इतने थे कि उतनी अरबी से काम नहीं चल सकता था। हम लोगों ने कहा कि चलकर बाजार से थोड़ी और अरबी ले आएं। सब लोग बाजार जाने को तैयार थे, लेकिन रवीन्द्र कालिया टस से मस न हुए। बोले- यह ममता की टेरिटेरी है और मैं उसमें हस्तक्षेप नहीं करता।

खैर, ममता ने उस दिन उतनी ही अरबी से सबके लिए रसेदार सब्जी बनाई। मुझे याद नहीं कि इतनी स्वादिष्ट सब्जी फिर मैंने खाई। ममता वैसे भी पाककला में निष्णात हैं। इससे भी ज्यादा मुझे ममता का रवीन्द्र कालिया को मनुहार कर- करके खिलाना याद आता है। खाने के बाद हम लोगों का पान खाने का प्रोग्राम बना। अवध और रमेश उपाध्याय पान खाने नीचे उतरने लगे तो मैंने कहा कि मैं भी चलती हूं तो रवीन्द्र कालिया ने यह कहकर मुझे रोक लिया कि यहां अकेले बैठे हुए मैं किसका चेहरा देखूंगा। यह उनके खिलंदड़ेपन और मजाकिया स्वभाव को बताता है।

ममता और रवीन्द्र कालिया की जिंदादिली यारबाशी और अपनत्व देखकर यही लगा कि ये दोनों 'मेड फार ईच अदर' हैं। हालांकि साहित्य में ममता मेरी पहली पसंद रही हैं- 'बेघर', 'दौड़' और 'नरक-दर-नरक' लिखने वाली शानदार लेखिका- लेकिन रवीन्द्र का अपना आभामंडल था। वैसा यारबाश और संपादन में नया प्रतिमान रचनेवाला संपादक अब दूसरा शायद ही होगा। उनका संपादन विवादास्पद भी काफी रहा लेकिन मुझे लगता है कि विवाद और प्रपंचों में रहने की उनकी प्रवृत्ति कहीं-न-कहीं साहित्य को केंद्र में लाने की उदारता से जुड़ी थी। अपने संपादन में वे कैसे किसी लेखक को स्टार बना देते थे, इसका उदाहरण वर्तमान साहित्य का महाविशेषांक है। इसमें उन्हें सबसे अच्छी कहानी कृष्णा सोबती की 'ऐ लड़की' लगी थी। इस कहानी के छपने से पहले ही उन्होंने बड़े-बड़े लेखकों से उस पर समीक्षात्मक लेख लिखवा लिए थे। उसी अंक में एक-से-एक शानदार कहानियां थी, लेकिन 'ऐ लड़की' को जिस तरह उछाला गया, वह अद्भुत था। इस पर उनके साथ हमारी काफी बहस भी हुई।

बहुत दिन हो गए थे ममता और रविजी से बातचीत हुए। हाल-चाल जानने के लिए अवध ने इलाहाबाद फोन लगाया। कुशलक्षेम के उपरांत पूछा। 'तुमने 'आवां' पढ़ा?' कहां, मुझे 'आवां' की प्रति चाहिए। फौरन भिजवाओ।' अवध ने 'आवां' की प्रति भेजते हुए छोटी सी चिट्ठी लिखी।' प्रिय रवि, तुम्हें तुम्हारी दीदी का उपन्यास भेज रहा हूं, पढ़कर बताना।'

कुछ दिनोंपरांत एक लिफाफा आया। लिफाफे में लखनऊ से प्रकाशित होने वाले 'हिंदुस्तान' के स्थानीय संस्करण में प्रकाशित होने वाले कॉलम 'इन दिनों' की कतरन थी जिसमें रवीन्द्र कालिया ने लिखा था- 'मैं इस शताब्दी की आखिरी किताब लिखना चाहता हूं।' वह किताब थी 'गालिब छुटी शराब'। उसी में उन्होंने लिखा था 'इन दिनों मैं चित्रा का उपन्यास 'आवां' पढ़ रहा हूं। यह भी बम्बई के ट्रेड-यूनियनों और सांप्रदायिकता पर है। दत्ता सामंत की मौत तक। अच्छा लग रहा है और लगता है कि यह हिंदी का महत्वपूर्ण उपन्यास होगा।' 'इन दिनों' वह क्या लिख-पढ़ रहे हैं कि प्रस्तुति की थी प्रवीण ने।

कॉलम की कतरन के साथ हाशिए की खाली जगह पर एक छोटी-सी चिट्ठी उन्होंने अपने हाथ से लिखी थी- 'प्रिय जीजाजी, आपका पत्र एवं दीदी का उपन्यास 'आवां' मिला। आपके आदेशानुसार पढ़ रहा हूं। प्रमाण-पत्र संलग्न है।' आपका साला, रवीन्द्र कालिया। (27.10.1999 इलाहाबाद)

बहुत प्रकट नहीं करते थे न ऊपरी तौर पर जताते थे लेकिन अपने दोनों बेटों से उन्हें बेहद प्यार था। इंदौर में पढ़ाई पूरी होने पर बड़े बेटे अनु की नियुक्ति जब अहमदाबाद की एक बहुत बड़ी कंपनी में बड़े पद पर हुई तो अकसर वे टिकट के आरक्षण को लेकर अवध को फोन कर पी.एन.आर. नंबर नोट करा, चिंतित स्वर में याद दिलाते रहते कि रेलवे बोर्ड में तुम्हारे मित्र महेंद्र कुमार मिश्राजी हैं- अनु का टिकट कन्फर्म हो जाना चाहिए। मनु को मैं दूर नौकरी करने नहीं भेजूंगा। उसे अपने पास ही रखूंगा। मनु मेरा प्रेस संभालेगा।

जैसा कि मैंने कहा कि हमारे पांच दशक से पारिवारिक रिश्ते थे। उन दिनों हम मुंबई में प्रताप नगर की एक खोली में रहते थे। उस खोली को मैंने जिस तरह सजाया था उसे देखकर रवीन्द्र अकसर कहा करते कि यह सुपर चाल का सुपर कमरा है। बच्चों से उन्हें बहुत प्यार था। हमारे बच्चे अकसर उनका इंतजार करते। मेरे बेटे गुड्डू की उन्होंने बहुत तस्वीरें खीचीं। जब भी गुड्डू रोता ये उसे गोद में उठाकर ले जाते, खिलाते-पिलाते और तस्वीरें खिंचाते। रवीन्द्र काफी समय से बीमार थे, लेकिन उनकी जिंदादिली देखकर लगता नहीं था कि वे इतनी जल्दी चले जाएंगे। कठिन-से-कठिन बीमारियों को झटका देने में वे उस्ताद थे, लेकिन सब इतनी जल्दी घट गया कि अभी तक यकीन नहीं हो रहा।

अब जब भी ममता का फोन आता है तो सोचती हूं कि उसके हाथ से फोन झटककर यह कहने वाला कोई नहीं होगा कि मैं रवीन्द्र कालिया बोल रहा हूं चित्रा।

(लेखिका वरिष्ठ कथाकार हैं और इन दिनों आवासीय लेखक के रूप में महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा में रह रही हैं)

●

बाबूजी के बिना दीवाली

सत्यकेतु सांकृत

पिछले बरस 2015 की दीवाली बाबूजी (स्वर्गीय प्रो. गोपाल राय) के बिना ही कटी। यह पहला अवसर था जब किसी महत्वपूर्ण त्यौहार पर हमारे बीच बाबूजी नहीं थे। इसके पहले हमने जितने भी पर्व त्यौहार मनाए थे उसके केंद्र में बाबूजी ही रहा करते थे। इकट्ठे त्यौहारादि मनाने के वे बड़े आग्रही थे। सही मायने में इसे उनका दुराग्रह भी कहा जाए तो इसमें अतिव्याप्ति दोष नहीं होगा। होली और दीवाली पर तो वे पूरे परिवार को एक जगह इकट्ठा होने का फरमान ही जारी कर दिया करते थे। होली में उनका गांव जाना तय था। दुनिया चाहे इधर से उधर हो जाए पर होली में वे गांव जरूर जाते थे। बाबूजी ने कह रखा था कि जब तक वो हैं तब तक उनका पूरा कुनबा इन अवसरों पर किसी एक जगह एकत्रित होगा। अब इसमें किसी की आनाकानी की संभावना तो थी ही नहीं कभी कभी नौकरी की मजबूरियों की गुहार तक भी काम नहीं आती थी। बाबूजी जहां भी होते थे हम सपरिवार वहीं इकट्ठे हो जाया करते थे। इसी क्रम में हम कलकत्ता, कटनी और ग्वालियर में भी जुट चुके थे पर अकसर यह जमावड़ा सत्यकाम भैया के इग्नू परिसर वाले आवास पर ही लगा करता था। मैं उस समय कटनी से ग्वालियर आ चुका था और अनुज सत्यजित कोलकाता से स्थानांतरित होकर दिल्ली में ही पदस्थ थे। बस हम सब चार यार जहां इकट्ठे होते त्यौहारों का आनंद दुगना हो जाता। बाबूजी अकसर कहा करते थे कि मेरे जाने के बाद तुमलोग इसके महत्व को समझोगे। आज सचमुच बाबूजी की कमी बहुत खल रही है। पिछले 25 सितंबर को कैंसर जैसी गंभीर बीमारी को लंबे अर्से से धता बताते हुए आखिरकार बाबूजी इस दुनिया से कूच कर गए। 26 तारीख को मेरे निवास पर एक शोक सभा रखी गई जिसमें साहित्यिक जगत से संबंधित कई जानी मानी हस्तियों ने अपनी श्रद्धांजलि व्यक्त करते हुए उनकी जीवटता और रचनाशीलता पर प्रकाश डाला। इसी क्रम में मुझे प्रसिद्ध इतिहासकार प्रो. सलिल मिश्र का वह कथन मेरे मानस में बार बार कौंध रहा है जब उन्होंने कहा था 'यह समय शोकाकुल होने का नहीं बल्कि जश्न मनाने का है।' एकबारगी तो यह वक्तव्य अत्यंत अटपटा लगा पर जब उन्होंने बाबूजी की संघर्षमयी क्षमता का बखान करते हुए उनके साहित्यिक अवदानों पर बारीकी से अपनी बात रखनी शुरू की तो अचानक मेरी स्मृति में बाबूजी का वह वक्तव्य ताजा हो गया जब वे कहा करते थे कि मेरे जीवनकाल में यह साहित्यिक जगत चाहे मेरी जितनी भी उपेक्षा कर लें पर मेरी रचनाधर्मिता से उसे एक न एक दिन मुझे याद करना ही पड़ेगा। मेरी मृत्यु के बाद मेरी रचना ही मुझे जीवित रखेगी। आज

सचमुच बाबूजी जिस तरह अपनी रचनाधर्मिता से साहित्यिक जगत में याद किए जा रहे हैं वह उनकी कही बात को अक्षरशः प्रमाणित कर रहा है।

बाबूजी के साहित्यिक अवदान पर उनके जीवनकाल में ही सहित्यिक जगत में फुसफुसाहट के रूप में ही सही पर यह स्वर सुनाई पड़ने लगा था कि गोपाल राय ने तमाम असुविधाओं के बीच साहित्य के क्षेत्र में जितना काम किया है वह किसी एक व्यक्ति का नहीं बल्कि संस्था का काम है। पर किसी साहित्यिक-राजनीतिक विचारधारा से उसके अंतर्विरोधों के कारण पूर्णतः न जुड़ पाने का खमियाजा उन्हें भुगतना पड़ा। उन्हें साहित्यिक जगत में उनके जीते जी वह सम्मान नहीं मिला जिसके वे हकदार थे। अगर यह कहा जाए कि उन्हें तत्कालीन साहित्यिक राजनीति का शिकार भी होना पड़ा तो अतिशयोक्ति नहीं होगी। एक तरफ वामपंथियों ने आचार्य विष्णुकांत शास्त्री से उनके वैयक्तिक जुड़ाव के कारण उन पर दक्षिणपंथी होने की बात कहकर उनकी उपेक्षा की तो दूसरी तरफ दक्षिणपंथियों ने तो उन्हें घोर मार्क्सवादी घोषित ही कर रखा था। यह बात सही है कि उनका झुकाव वामपंथ की ओर कुछ हद तक अवश्य था पर घोर जैसी कोई चीज उनके साथ कभी नहीं जुड़ी थी। यह बात शायद कम ही लोगों को मालूम होगी कि बाबूजी अपने आरंभिक दिनों में न केवल प्रगतिशील लेखक संघ से जुड़े हुए थे बल्कि एक समय तो वे बिहार प्रगतिशील लेखक संघ के उपाध्यक्ष तक रह चुके थे। यहां से वे चाहते तो कइयों की तरह वे भी उनके रास्ते पर चलकर अनेक लाभ प्राप्त कर सकते थे पर इसके लिए पिछलग्गू होने वाली जिस प्रवृत्ति की आवश्यकता होती थी उसका उनमें नितांत अभाव था। गॉडफादर नाम की कोई चीज तो उनके साथ थी ही नहीं। जो कुछ भी उन्हें गलत लगा उसका उन्होंने वहीं विरोध किया। इसी क्रम में वे प्रगतिशील लेखक संघ से भी टकरा गए और एक बैठक में जब उनकी बात नहीं मानी गई तो उन्होंने तत्काल न केवल उसके उपाध्यक्ष पद से इस्तीफा दे दिया बल्कि भविष्य में उससे कोई संबंध न रखने की कसम तक खा ली। अब उस समय किसी की क्या मजाल की कोई वामपंथी विचारधारा का विरोध कर साहित्य में अपनी पैठ बना सके। पर बाबूजी तो पता नहीं किस मिट्टी के बने थे। वैसे भी उन्हें बंधन तो कभी भी पसंद था नहीं। वे स्वतंत्रता के आग्रही थे और अपने काम में भी वे किसी प्रकार के जकड़न को बर्दाश्त नहीं करते थे। अब भला साहित्यिक जगत इसे कैसे स्वीकार करता! अतः उसने वही किया जो उसकी प्रवृत्ति में था। एक तरह से उनपर चर्चा न करने और उन्हें हाशिए पर रखने का शातिराना षड्यंत्र भी रचा गया पर इन सहित्यिक उठापटक से दूर एक फक्कड़ योगी की तरह बिलकुल कबीराना अंदाज में वे बेपरवाह हो अपना काम करते गए। इसी बीच प्रकाशकों ने भी उन्हें हतोत्साहित करने में कोई कसर न छोड़ी। आरंभ में कोई उनकी किताबों को छापने तक तैयार न हुआ तो उन्होंने अपना छापाखाना ही खोल लिया। जिद्दी तो वे थे ही और इस जिद्दीपने ने ही उनमें वह जुनून पैदा कर दिया जिसके कारण वो साहित्य की दुनिया में इतना कुछ कर गए जिस पर सलिल जी के अनुसार जश्न तो मनाया ही जा सकता है।

बाबूजी बचपन से ही जिद्दी स्वभाव के थे। आजी तो उनके बालहठ को बहुत चटकारा लेकर सुनाती थीं। आजी के मुख से यह सुना था कि 'जब तोहार बाबूजी दू साल के रहले तब गांव में बड़का भूडोल आइल रहे आ धरती बहुत जोर से डोलल रहे।' स्पष्ट है यह वर्ष 1934 का ही था। अतः इसके ठीक दो साल पहले बाबूजी का जन्म वर्ष 1932 मान लिया गया। फिर आजी ने ही

बताया कि 'बचवा के जनम कार्तिक पूर्णिमा के एकदम अंजोरिया रात में भइल रहे।' आजी के कथनानुसार बाबूजी का जन्म दिन हमलोग कार्तिक पूर्णिमा को मनाने लगे। आजी बताती थीं कि बाबूजी के जन्म पर उनके परिवार में खूब खुशियां मनाई गई थीं। प्रायः भारतीय ग्रामीण समाज में पुत्र रत्न की प्राप्ति होने पर जो हँसी-खुशी का माहौल होता है वह उस समय जीवंत हो उठा था। पर ईश्वर को तो कुछ और ही मंजूर था। नियति मानो नेपथ्य से अट्टहास कर रही थी। कुछ दिनों के बाद 'आजी का बचवा' पोलियो का शिकार हो गया और रेणु के मैला आंचल का वह प्रसंग चरितार्थ हो उठा जिसमें ग्रामीण समाज के लोग दो बूंद दवा के अभाव में जीवन भर के लिए अपनी आंखों की रोशनी खो देते थे। यहां भी एक नवजात शिशु पोलियो की दो बूंद दवा के अभाव में जीवन भर के लिए विकलांग हो गया। अब शुरू हुई ग्रामीण समाज के अभावग्रस्त एक विकलांग बच्चे की संघर्षगाथा। बाबूजी हमेशा अपने अतीत के कुहरीले आकाश में प्रवेश करने से कतराते रहे क्योंकि वह उन्हें बहुत अप्रीतिकर ही नहीं लगता बल्कि विचलित भी करता था। वे उन सौभाग्यशाली बच्चों में नहीं थे जो मुंह में चांदी का चम्मच लेकर पैदा होते हैं। मेरे बाबा कोलकत्ता में कोई छोटा सा व्यवसाय करते थे। वैसे तो वे बहुत कर्मठ थे और जहां तक मुझे याद है वे अपने व्यवसाय के प्रति बड़े सचेत रहने वाले इनसान थे पर शिक्षा के मामले में थे वे ठनठन गोपाल ही। संभवतः वे अपना दस्तखत करना तो जानते थे पर बाकी सब मामला गोल ही था। स्वाभाविक था कि लगभग निरक्षर होने के कारण अपने बच्चे की पढ़ाई में भी उनकी कोई रुचि नहीं रही होगी। बाबूजी तो कभी कभी खिन्न होकर यहां तक कह जाते हैं कि वस्तुतः अपने पोलियोग्रस्त बच्चे में ही उनकी कोई रुचि भी नहीं थी। पर मेरी आजी कुछ शिक्षित थीं और नियमित रूप से रामायण या इस तरह की धार्मिक पुस्तकें पढ़ा करती थीं। मैंने भी उन्हें कई बार रामचरिततमानस पढ़ते हुए देखा है। कहानियां तो उन्हें खूब याद थीं हमलोग तो उनसें बिना कहानी सुने सोते ही नहीं थे। कहना नहीं होगा कि निश्चित ही ये कहानियां उन धार्मिक ग्रंथों से ही नृसित थीं जो उन्होंने पढ़ रखी थीं। उनकी बड़ी इच्छा थी कि उनका बचवा किसी तरह पढ़ लिखकर कुछ खाने कमाने लायक बन जाए। सो उन्होंने उनका नाम गांव के ही प्राथमिक विद्यालय में लिखा दिया। स्वयं बाबूजी के शब्दों में 'पता नहीं, मेरे शिक्षकों ने मुझमें क्या देखा कि वे मुझे सदा प्रोत्साहित करते रहे और बहुत कम समय में मुझे पढ़ने लायक बना दिया।'

बाबूजी की आरंभिक शिक्षा गांव में ही हुई। वैसे वे अपना पहला गुरु तो आजी को ही मानते थे। बाबा के द्वारा खड़े किए गए तमाम अवरोधों के बावजूद आजी ने ही उन्हें पढ़ाने का एकतरफा निर्णय लिया था। बाबूजी अकसर उस बात का जिक्र करते हैं कि कैसे आजी ने उन्हें बालू की भीत और घर की मिट्टी पर लकड़ी से उकेरकर ककहरा लिखना सिखाया था। माध्यमिक शिक्षा के लिए आजी की जिद पर ही उन्हें पहले चौसा (जी हां चौसा की प्रसिद्ध लड़ाई वाली ही जगह) और फिर उच्च माध्यमिक शिक्षा के लिए बक्सर ('बक्सर की जंग' के नाम सी प्रसिद्ध स्थली) भेजने का निर्णय लिया गया और उसके बाद शुरू हुई वह अद्भुत शिक्षा जिसके लिए एक विकलांग बच्चे को पैदल ही वह भी नंगे पांव न केवल प्रत्येक दिन दो कोस जाना आना पड़ता था बल्कि बीच में पड़ने वाली एक नदी को अर्थाभाव में तैरकर पार भी करना पड़ता था। पर एक मेधावी बच्चे की जिद्द और उसके जूनून ने उसे सारे विघ्नों को पार करने की वह शक्ति प्रदान की जिसके सहारे विपन्नता में जीवन

यापन करने को अभिशप्त होने के बावजूद मैट्रिक की परीक्षा बक्सर हाईस्कूल से प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण की। अब उच्च शिक्षा का प्रश्न सुरसा की भांति मुंह बाए खड़ा था। यहां आजी फिर संबल बनकर सामने आईं और उन्होंने अपने कुछ तथाकथित जेवरात बेचकर अपने बचवा को आगे पढ़ने के लिए प्रेरित किया। निर्णय पटना कालेज में पढ़ने का लिया गया। बाबूजी अपने बाल सखा मुचकुंद दुबे के साथ पटना कॉलेज में नामांकन कराने के लिए निकल पड़े। पटना कॉलेज में अपने पहले दिन की चर्चा कर बाबूजी रोमांचित हो उठते थे। वे बताते थे कि कैसे जब वे लोग पटना कॉलेज के बड़े से गेट पर तड़के ही पहुंच गए और गेट को बंद देखकर उत्तेजना में गेट को तड़पकर कांलेज में प्रवेश कर गए। अभी वे लोग कुछ संभल पाते कि सामने एक भव्य व्यक्तित्व वाला गोरा चिट्टा अंग्रेजनुमा आदमी दिखाई पड़ा। देखते ही दोनों की घिग्घी बंध गई और जब यह पता चला कि सामने वाला व्यक्ति और कोई नहीं बल्कि स्वयं प्रिंसिपल ही हैं तब तो उनकी कैसी स्थिति हुई होगी इसका सहज अंदाज लगाया जा सकता है। उन्हें लगा कि 'प्रथम ग्रासे मक्षिका पातः' वाली कहावत बस चरितार्थ होने वाली ही है। बाबूजी उस क्षण को याद कर रोमांचित हो उठते और खूब मजे लेकर उस प्रकरण को सुनाते थे। बाबूजी का नामांकन पटना कॉलेज में हो गया और प्राचार्य महोदय ने एक मेधावी छात्र की फीस माफी के आवेदन को भी स्वीकार कर लिया।

बाबूजी बताते हैं कि जब वे पटना कॉलेज में प्रथम वर्ष के विद्यार्थी थे तभी संभवतः 1950 में बिहार राष्ट्रभाषा परिषद की स्थापना के अवसर पर विद्यार्थियों के लिए 'हिंदी उपन्यास के विकास' पर पर एक निबंध प्रतियोगिता का आयोजन किया गया। पुरस्कार राशि 100 रुपये रखी गई। बाबूजी भी उसके प्रतिभागी बने और उन्होंने थोड़ी बहुत तैयारी के साथ उस निबंध प्रतियोगिता में भाग लिया। पर जिस दिन पुरस्कार मिलना था उस दिन यह सोचकर कि उन्हें तो यह पुरस्कार मिलेगा ही नहीं वे वहां नहीं गए। पर शाम को जब उनके एक सीनियर ने बताया कि उस निबंध प्रतियोगिता में उन्हें ही प्रथम पुरस्कार मिला है और बार बार उनका नाम पुरस्कार प्राप्त करने के लिए पुकारा जा रहा था तब तो वे खुशी से झूम उठे। अव्वल तो उन्हें इस बात का विश्वास ही नहीं हो रहा था पर जब वे इस बात से आश्वस्त हो गए तब तो उन्हें उस अवसर पर वहां उपस्थित न होने का जो मलाल हुआ उसका जिक्र कर ही वे भावुक हो उठते थे। खैर वह प्रतियोगिता दो दिनों की थी। दूसरे दिन जब वे प्रतियोगिता स्थल पर पहुंचे तब उन्हें अपना पुरस्कार प्राप्त करने के लिए मंच पर बुलाया गया। बाबूजी बताते थे कि पुरस्कार प्राप्त करते समय मंचासीन दिनकरजी को ताली बजाता देखकर वे हर्षचकित रह गए थे। उन्हें विश्वास ही नहीं हो रहा था कि वो पुरस्कार प्राप्त कर रहे हैं और दिनकर जैसे देदीप्यमान साहित्यकार उनका करतल ध्वनि से उत्साहवर्धन कर रहे हैं। यह एक ऐसा क्षण था जिसका जिक्र वे बार बार करते थे और हर बार उनकी आंखें छलछला उठती थीं। बाबूजी बताते थे कि यह एक ऐसा पुरस्कार था जिसने उनके भविष्य की राह ही तय कर दी। इसके बाद वे हिंदी उपन्यास पर पिल ही पड़े जिसकी परिणति अंत में 'हिंदी उपन्यास का इतिहास' के रूप में दिखाई पड़ी। इसका आरंभ हिंदी विषय से प्रथम श्रेणी में एम.ए. उत्तीर्ण होने के उपरांत शोध विषय के चयन के साथ ही गया। शोध निदेशक आचार्य नलिन विलोचन शर्मा ने 'हिंदी कथा साहित्य पर पाठकों की रुचि का प्रभाव' विषय पर काम करने का निर्देश दिया। बाबूजी ने उसमें अपनी पूरी ताकत झोंक दी। खूब मेहनत से नई स्थापनाओं के साथ अपने कार्य का संपादन किया। तभी एक

ऐसी घटना घटी जिसने उन्हें लगभग तोड़ ही दिया था। एक दिन तड़के उन्हें नलिनजी के निधन की सूचना मिली। उनके सामने अँधेरा छा गया। वे किंकर्तव्यविमूढ़ वाली अवस्था में आ गए। उन्हें आगे का रास्ता नहीं दिख रहा था। पर परिस्थितियों से लड़ना तो कोई इनसे सीखे। जिस विषय पर उन्हें पी-एच.डी. की उपाधि मिलनी थी उसी पर उन्होंने स्वयं के निर्देशन में ही डी.लिट. की उपाधि प्राप्त कर ली। यह संभवतः उनकी जिद और कर्त्तव्यपरायणता का वह सोपान था जिसने उन्हें बेपरवाह बन आगे बढ़ने की सीख दी।

बाबूजी अकसर अपनी अर्धांगिनी और मेरी मां स्वर्गीय श्रीमती करुणा राय, जो एक लंबी बीमारी से संघर्ष करती हुई वर्ष 1986 में दिवंगत हो गईं, की चर्चा करते हुए भावुक हो उठते। बाबूजी ने मां की प्राण रक्षा के अथक प्रयास किए। उनके लिए उन्होंने देश के सर्वश्रेष्ठ चिकित्सकों से मशविरा किया और उस समय के उपलब्ध सर्वश्रेष्ठ चिकित्सालय, एम्स, (अखिल भारतीय आयुर्विज्ञान संस्थान, दिल्ली) तक में इलाज करवाया। मां के इलाज के सिलसिले में उन्हें कई बार पटना से दिल्ली आना पड़ा। एक सामान्य से ग्रामीण परिवेश के आदमी के लिए, भले ही वह उस समय के एक ऐसे तथाकथित प्रतिष्ठित विश्वविद्यालय जिसमें अपने अधीन कार्यरत कर्मचारियों के लिए किसी भी प्रकार की चिकित्सकीय सुविधा उपलब्ध न हो, में हिंदी का प्राध्यापक ही क्यों न हो, दिल्ली जैसे महानगर में आकर अपनी पत्नी का इलाज कराना कितना कष्टदायक हो सकता है इसकी कहानी बाबूजी की जुबानी सुन चुका हूं। अकसर बाबूजी को मां की बीमारी के सिलसिले में 'एम्स' में आना पड़ता था। पैसे के अभाव के कारण वे एक धर्मशाला में रुकते थे और बामुश्किल उनका इलाज करवाते थे। कहीं से भी कोई सहायता मिलना तो दूर अगर कोई परिचित यह जान भी जाता था कि वे अपनी पत्नी के इलाज के सिलसिले मे यहां आए हैं तो वह उनसे कन्नी काटने लगता था। हिंदी साहित्य की सारी विद्वता यहां धरी की धरी रह जाती थी। बाबूजी के अनुसार वह एक ऐसा समय था जिसने उन्हें आदमी की पहचान कराना सिखाया। इसी सिलसिले में उस बात का जिक्र करना लाजिमी होगा जिसकी चर्चा कर बाबूजी की आंखें नम हो जातीं। वे बताते थे कि ऐसे ही एक बार मां के इलाज के सिलसिले वे ने दिल्ली आए। इस बार मां की तबीयत कुछ ज्यादा ही खराब थी सो उन्हें 'एम्स' में भरती करवाना पड़ा। इसमें भी उन्हें जिस तरह के पापड़ बेलने पड़े उसके जिक्र मात्र से ही जी घबड़ाने लगता है। खैर बाबूजी के एक मित्र शंकर दयाल सिंह, जो हिंदी के एक बड़े विद्वान और राज्यसभा से सांसद सदस्य थे, ने इस समय उनकी बहुत सहायता की और किसी तरह मां एम्स में भर्ती हुई और उनका इलाज शुरू हो गया। बाबूजी पूरे दिन तो मां की सेवा मे लगे रहते पर एम्स के अपने नियम के अनुसार मरीज के साथ उसके परिचर को एक निर्धारित समय तक ही रहने दिए जाने का प्रावधान था। बाबूजी अपने बचे समय का उपयोग अपने साहित्यिक मित्रों से मिलने के लिए किया करते थे। ऐसे ही एकबार वे अपने मित्र प्रो. मैनेजर पांडेयजी से मिलने गए। पांडेयजी उस समय जवाहर लाल नेहरू विश्वविद्यालय में हिंदी के प्राध्यापक थे और अपने ट्रांजिट हाउस वाले मकान में रहते थे। बाबूजी बताते हैं कि एकदम चिलचिलाती धूप में करीब 12 बजे वे पांडेयजी के यहां पहुंचे। पांडेयजी संभवतः अपने किसी मित्र से मिलने पड़ोस में गए हुए थे। हां चंद्राजी घर में थीं। उन्होंने बाबूजी को प्रेम से घर में बिठाया और शीतल जल तथा अपनी आत्मीयता से उनको ऐसी ठंडक पहुंचाई जिसे उनके अनुसार इस जन्म में भुला पाना संभव नहीं है।

इसके बाद जो घटना घटी वह उनके पिछले दिनों के अनुभव के अनुसार नितांत अप्रत्याशित थी। चंद्राजी ने थोड़ी देर बातचीत करने बे बाद कहा राय साहब आप बहुत दूर से आए है भूख लगी होगी। मैं खाना लगाती हूं। बाबूजी को भूख ही नहीं लगी थी बल्कि उनकी अंतड़ी तड़तड़ा रही थी पर बेदिल शहर में कोई दिल वाला भी मिलेगा इसकी तो उन्होंने कल्पना भी नहीं की थी। पहले तो उन्हें लगा कि उनके साथ कहीं दिल्लगी तो नहीं हो रही है न! पर जब जल्द ही गरम-गरम चावल दाल और जायकेदार सब्जी उनके सामने परोस दी गई तब उन्हें लगा कि यह सपना नहीं बल्कि जीवन का एक सुंदर सच है। चंद्राजी ने खूब प्रेम से उन्हें भोजन कराया और बाबूजी ने भी खूब छककर उस सुस्वादु भोजन का स्वाद लिया। ताउम्र बाबूजी को उसका जायका नहीं भूला। पता नहीं उसके बाद कितनी बार पांच सितारा होटलों का खाना उन्होंने खाया होगा पर उस दिन के भोजन के स्वाद को वे कभी नहीं भूल पाए। उस भोजन के साथ पांडेयजी के परिवार का जो स्नेह उसमें सना था उसने बाबूजी को उनका ऋणी बना दिया। बाबूजी अकसर कहते थे कि मैं उनका अहसानमंद हूं। अपने इसी भाव को उन्होंने पिछले दिनों पांडेयजी के सामने व्यक्त कर दिया। पांडेयजी ने अपने स्वभाव के अनुरूप चटकारा लेते हुए कहा 'आप भी क्या बात करते हैं राय साहब। यहां कितने ससुरे आए, खाए, सब हजम किया और बिना डकारे न केवल चल दिए बल्कि मौके-बेमौके अपनी जात दिखाने से भी बाज नहीं आए। और एक आप हैं कि पता नहीं कब की इतनी छोटी सी बात को आपने सर पर ढोए लिए चल रहे हैं।' खैर यह तो पांडेयजी का बड़प्पन और बाबूजी के प्रति जो उनके मन में जो सम्मान था वह उसी को उजागर करता हैं पर बाबूजी तो निश्चित ही उस अहसान को नहीं भूल पाए। खैर माताजी पूर्णतः स्वस्थ होकर पटना आ गईं और बाबूजी के अध्ययन-अध्यापन का काम फिर से शुरू हो गया। मां बाबूजी का बहुत ख्याल रखती थीं। वे उन्हें गृह कार्यों से सदा मुक्त रखती थीं जिससे कि वे अधिक से अधिक काम कर सकें। मैने अपने बाबूजी को सब्जी का झोला टांगे या बाजार से रोजमर्रा की वस्तु लाते कभी नहीं देखा है। बाबूजी बताते थे कि माताजी ने शुरू से ही उन्हें इन सब कार्यों से न केवल मुक्त रखा बल्कि विपरीत परिस्थितियों में उन्हें वह संबल भी प्रदान किया जिसने उन्हें धैर्यवान बन दूनी शक्ति से काम करने की प्रेरणा दी। बाबूजी के अनुसार माताजी ने उनके पठन-पाठन में भी बहुत सहायता की। अपनी पीएच.डी. और फिर बड़े नाटकीय ढंग से उसी विषय पर प्राप्त की गई डी.लिट की उपाधि, जिसका मैं उपर भी जिक्र कर चुका हूं, का पूरा श्रेय तो वे माताजी को ही देते थे। सही मायने में बाबूजी की प्रेरणास्रोत मेरी माताजी ही थीं। बाबूजी अकसर यह कहते हैं कि मेरी माता रानी ने उनको बनाते बनाते खुद को मिटा दिया।

बाबूजी बचपन से ही ताश खेलने के बड़े शौकीन रहे। अपनी शारीरिक कमजोरी के कारण वे ज्यादा तेज भाग तो सकते नहीं थे सो उन्होंने ऐसे खेल को अपनाया जो बैठकर खेला जाता था। रोज दोपहर में गांव के बागीचे में आम के पेड़ तले उनकी चौकड़ी जम जाती, पर वह भी एक निश्चित समय के लिए ही। बाबूजी बताते थे कि खेल का भी एक समय उन्होंने निर्धारित कर रखा था और जैसे ही दीवाल की एक परछाई अपने गंतव्य पर पहुंचती बाबूजी खेल बंद कर देते। उनके सहचर लाख चिल्लाते पर वे किसी की नहीं सुनते और पढ़ने बैठ जाते थे। नियम की पाबंदी तो मानो शुरू से ही उनसे जुड़ गई हो। हम लोगों की तो छोड़िए किसी मेहमान के संग भी बाबूजी गप्पे मारते मारते अचानक कह उठते कि अब आप लोग यहां से प्रस्थान कीजिए और कंप्यूटर पर काम करने

बैठ जाते। उसके बाद उनको इस बात की जरा भी परवाह नहीं रहती कि अन्य गपोड़ियों पर इसका क्या असर पड़ेगा। उन्हें तो अपने काम में तेजी लाने और अपने आप को तरोताजा रखने के लिए जो चीज चाहिए थी वह मिल गई। अब तो वे हैं, उनकी किताबें हैं और उनका लैपटाप, जिसे वे लटपट भी कहते थे। दुनिया जाए भाड़ में वाली कहावत को चरितार्थ करते हुए अपना काम करने बैठ जाते। बाबूजी अकसर ताश का घर नाश कहने वालों को को न केवल लताड़ते ही थे बल्कि कहा करते थे कि अपने काम के प्रति समर्पण वाली भावना उन्हें ताश खेलने से ही प्राप्त हुई है जिसकी लत उन्हें बचपन से ही लग गई थी। बाद में चलकर उनका यह ताश वाला शौक कैसे पैशन में बदल गया यह बताना बड़ा मुश्किल है। हां जब से मैंने होश संभाला है तब से मैंने एक नियम के तहत पटना वि.वि. के क्लब में शाम को एक निर्धारित समय के लिए हर रोज बिना नागा के ब्रिज(ताश का एक खेल) के लिए जाते हुए देखा है। दुनिया इधर से उधर हो जाए पर क्लब तो इन्हें जाना ही था। रोज वहां गणेश बाबू, मेहता साहब, चटर्जी बाबू और बाबूजी की चौकड़ी जम ही जाती थी ठीक प्रेमचंद के 'शतरंज के खिलाड़ी' की तरह। इस बात को लेकर मां से कभी कभी नोंक झोंक भी हो जाती थी, पर भला बाबूजी कहां मानने वाले थे। ब्रिज के खेल का यह सिलसिला काफी लंबे समय तक चलता रहा,पर गणेश बाबू के आकस्मिक निधन पर उसमें एक अवरोध सा पैदा हो गया। बाबूजी उसके बाद भी कभी कभी क्लब जरूर जाते पर अब उनका मन क्लब से उचट चुका था। फिर नौकरी से अवकाश ग्रहण करा दिए जाने के कुछ समय के उपरांत तो वे दिल्ली ही आ गए और अब क्लब का सिलसिला बंद ही हो गया। पर दिल्ली आ जाने के बाद भी उनके ताश की ललक गई नहीं। जब भी अगर हम चार लोग कहीं जमा हो जाते तो बाबूजी की यही इच्छा रहती कि हम सब अपना अपना काम छोड़कर ट्वैंटिनाइन(ताश का एक बिहारी फार्मेट) खेलने बैठ जाएं। अधिकांश समय तो उनकी यह इच्छा पूरी कर दी जाती रही है पर जब कभी कभी बच्चों की पढ़ाई का हवाला दिया जाता तब वे मन मसोसकर रह जाते। ताश का नाम लेते ही उनकी आंखों में जो चमक दिखाई पड़ती थी वह वर्णनातीत है। ताश तो उनकी जान थी जो उनकी जान के साथ ही चली गई। अब हमारे परिवार में ताश का खेल कभी नहीं होगा।

बाबूजी पुस्तकों के जमावड़े के बड़े शौकीन रहे हैं। सच माने तो मेरा बचपन किताबों के बीच ही बीता है। हमने किताबों को ही खिलौना बनाया है और उसी पर सवार होकर हम बड़े भी हुए हैं। मुझे अकसर वे दिन याद आते हैं जब हमलोग किसी के जन्मदिन पर भी जाते थे उसके लिए उपहार में किताब ही ले जाया करते थे। हमारे यहां किताबों का अंबार लगा था और पटना विश्वविद्यालय के राजेन्द्र नगर स्थित प्रोफेसर्स क्वार्टर के जिस मकान में रहते थे वह तरह तरह की किताबों से भरा पड़ा था। हमारे यहां पटना वाले मकान का कोई भी कोना ऐसा नहीं था जहां पर किताबें न रखी हों। किताबों के इस जमावड़े की भी अजब कहानी है। बाबूजी के मुख से कई बार इसकी चर्चा सुन चुका हूं। बाबूजी ने जब अपनी डी.लिट् की उपाधि अर्जित की तब उनके सामने अपने शोध प्रबंध को प्रकाशित करवाने का प्रश्न खड़ा हुआ। आरंभ में उन्होंने इसकी कुछ कोशिश भी की पर प्रकाशकों से मिली उपेक्षा से उन्हें बहुत निराशा हुई। पर बाबूजी तो बाबूजी थे। भला प्रकाशकों की उन्हें क्या परवाह उन्होंने 'ग्रंथ निकेतन' नामक स्वयं के प्रकाशन की नींव डाल दी और उनका शोध प्रबंध 'हिंदी कथा साहित्य के विकास पर पर पाठकों की रुचि का प्रभाव' नामक शीर्षक

से प्रकाशित हो गया। ग्रंथ निकेतन से प्रकाशित होने वाली यह पहली पुस्तक थी। इसके बाद यहीं से उनकी दूसरी पुस्तक 'हिंदी का पहला उपन्यास' का प्रकाशन हुआ। इसके बाद हिंदी उपन्यास कोश दो खंडों में और फिर 'हिंदी साहित्याब्दकोश' आठ खंडों में ग्रंथ निकेतन से ही प्रकाशित हुआ। इन बृहतकाय आलोचनात्मक पुस्तकों का प्रकाशन तो हो गया। अब प्रकाशित प्रतियों को संभाल कर रखने, उनका प्रचार-प्रसार करने और फिर उन्हें बेचने की बात आयी। किताबों को तो उन्होंने सहेज कर रखने की व्यवस्था घर में ही कर ली।

पढ़ने लिखने के साथ साथ घर में संग्रहीत पुस्तकों की सुरक्षा का कार्य भी निर्बाध गति से चलता रहा। अपनी किताबों के प्रकाशन के उपरांत उनकी सुरक्षा के कार्य में तो वे निश्चित ही सफल हो गए पर अब उनके प्रचार-प्रसार और बेचने का प्रश्न आया। इस कार्य में बाबूजी निश्चित ही फिसड्डी साबित हुए। व्यावसायिकता वाला उनका पक्ष शुरू से ही कमजोर रहा। कुछ किताबें तो बिकीं अवश्य पर जो नहीं बिकीं वे घर की ही शोभा बढ़ाती रहीं। पर बाबूजी को इसकी कहां परवाह थी। उनका काम तो हो गया था। बाबूजी ने तो गौतम बुद्ध के इस कथन का अपने जीवन का आदर्श ही बना लिया था कि जब नदी पार कर जाओ तब नाव को अपने सिर पर ढोने के बजाए उसे वहीं छोड़कर आगे बढ़ जाओ। बाबूजी ने भी ग्रंथ निकेतन को बंद कर दिया। कहानी यहीं खत्म नहीं हुई। वर्ष 1967 में पटना से 'समीक्षा' पत्रिका निकलनी शुरू हुई। आचार्य देवेन्द्रनाथ शर्मा (प्रधान संपादक), डॉ. रामचन्द्र प्रसाद, और डा. गोपाल राय(संयोजक) की देखरेख में इसका प्रकाशन आरंभ हुआ। इसका पहला अंक तो पटना स्थित लक्ष्मी पुस्तकालय के मालिक परमेश्वर बाबू के सौजन्य से उन्हीं के प्रेस से प्रकाशित हो गया। इसका दूसरा और तीसरा अंक भी लक्ष्मी पुस्तकालय से ही प्रकाशित हुआ। पर पत्रिका निकालना वह भी बिना किसी बाहरी आर्थिक सहायता के कितना कठिन कार्य है इसका अहसास 'समीक्षा' से जुड़े लोगों को धीरे धीरे होने लगा और समय के साथ-साथ पत्रिका से जुड़े सभी वीर धीरे-धीरे इससे अलग होते गए। गोपाल राय कहां हार मानने वाले थे उन्होंने पत्रिका को अकेले संभाला और उनके कुशल संपादन में यह पत्रिका न केवल अपनी राह पर निकल पड़ी बल्कि समय के साथ साथ दिन दूनी रात चौगुनी प्रगति भी करती गई। दरअसल यह पत्रिका एक मिशन के तहत शरू की गई थी। इसके प्रवेशांक में ही यह उद्‌घोषणा की गई थी कि 'समीक्षा' एक निश्चित लक्ष्य को लेकर उपस्थित हुई है। इसका लक्ष्य हिंदी की अब तक निकली सभी पत्र पत्रिकाओं से भिन्न है। यह दावा बहुत बड़ा पर गलत नहीं है। वार्षिक से लेकर दैनिक तक जो भी पत्र-पत्रिकाएं प्रकाशित होती हैं उनमें पुस्तक-समीक्षा का भी एक स्तंभ सामान्यतः रहता ही है। पर केवल पुस्तक समीक्षा को अपना ध्येय बनाकर निकलने वाली यह हिंदी की पहली पत्रिका है। भविष्य की बात तो हम नहीं कह सकते पर इसका आरंभ ही ऐतिहासिक महत्व का अधिकारी हो गया, इससे किसी को असहमति नहीं होगी। 'इसी बीच इसके मुद्रण को लेकर भी बखेड़ा शुरू हुआ सो अपने स्वभाव के अनुरूप किसी से चिरौरी करने के बजाय बाबूजी ने एक प्रेस ही खोलने का निर्णय ले लिया। यहीं से 'रचना प्रेस' अस्तित्व में आया और 'समीक्षा' का मुद्रण इसी प्रेस से आरंभ हो गया। जब समीक्षा अस्तित्व में आई तब पुस्तक समीक्षा की संभवतः यह एकमात्र पत्रिका थी। इसने जल्दी ही लोकप्रियता भी हासिल कर ली। पुस्तक समीक्षा की पत्रिका होने के कारण प्रकाशकों द्वारा पुस्तकें भी भेजी जाने लगीं। जो भी नई पुस्तक प्रकाशित होती वह समीक्षा हेतु संपादकीय

कार्यालय यानी हमारे घर पर ही आने लगीं। प्रकाशक हमेशा समीक्षा के लिए पुस्तकों की दो-दो प्रतियां भेजा करता था। एक प्रति तो समीक्षक के पास भेज दी जाती थी पर दूसरी प्रति घर में ही रहती थी। धीरे-धीरे इस मासिक पत्रिका के लिए भेजी जाने वाली पुस्तकों का अंबार लगना शुरू हो गया। पहले से ही सैच्यूरेशन प्वाइंट पर पहुंचे घर में अब कहां जगह थी जो इनको रखा जाता। खैर शुरू में तो दीवालादि में कुछ नए रैक्स बनवाकर पुस्तकों को रखने की व्यवस्था हो गई। पर जब समीक्षा को हर महीने निकलना था तो उसके लिए हर माह बीस पच्चीस पुस्तकें तो आ ही जाती थी। अंत में यह तय हुआ कि जो पुरानी किताबें हैं खासकर ग्रन्थ निकेतन से प्रकाशित हुई किताबों को रचना प्रेस के लिए आरक्षित जगह पर स्थानांतरित कर दिया जाए। इस तरह ग्रंथ निकेतन से प्रकाशित बाबूजी की पुस्तकों की प्रतियां रचना प्रेस में पुनः रैक्स बनवाकर सुरक्षित रख दी गईं। घर में खाली रैक्स शनैः शनैः समीक्षार्थ, कभी कभी सादर आमंत्रित तो कभी जबरन भेजी गईं, पुस्तकों से भरते गए और जरूरत के मुताबिक नए रैक्स अस्तित्व में आते गए। हमारे घर में एक इंच भी ऐसी जगह नहीं बची थी जहां किताबें न हों। इसी के बीच मेरा जन्म हुआ, मैं पला और इनको पढ़ता हुआ बड़ा हुआ। किताबें तो हमारी जिंदगी ही हो गई थी। मुझे याद है हमलोग बचपन में जब किसी के यहां जन्मदिन पर जाते थे तो उसके लिए उपहार में किताब ही ले जाते थे। समीक्षा के लिए तो बाल साहित्य यहां तक कि क्रिकेट कैसे खेलें जैसी किताबें भी खूब आती थीं। हम लोग इन्हीं सब किताबों का उपयोग उपहारादि के लिए किया करते थे। बाबूजी के एक चिकित्सक मित्र उनसे हमेशा मजाक किया करते थे कि काश मेरा बच्चा भी ऐसे अवसरों पर फिजिशियन सैंपल से काम चला लेता तो कितना अच्छा होता। पर उनकी यह हसरत कभी पूरी नहीं हो पाई। आखिर किताबें तो किताबें ही होती हैं। उसका स्थानापन्न न तब संभव था न अब है।

पुस्तकों से तो बाबूजी को अद्‌भुत लगाव रहा। वे पुस्तकों का केवल संचयन ही नहीं करते थे उन्हें खूब संभाल कर भी रखते थे। पुस्तकें किसी भी तरह से खराब न होने पाए इसके प्रति वे बड़े सचेत रचेत रहे हैं। बाबूजी के पुस्तक प्रेम से संबंधित एक बड़ी रोचक घटना है जिसे सुनाने के लोभ का संवरण मैं यहां नहीं कर पा रहा हूं। राजेन्द्र नगर के सबसे निचले इलाके में होने के कारण अकसर बरसात का पानी रचना प्रेस में घुस जाया करता था। बाबूजी अकेले ही प्रेस में घुस जाते और नीचे रखी पुस्तकों को प्रेस में रखे एक बड़े से टेबल पर रख देते थे। एक बार पटना में जबरदस्त बारिश हुई और इसमें रचना प्रेस पूरी तरह जलमग्न हो गया। बाबूजी को जैसे ही सूचना मिली वे बदहवास रचना प्रेस की और भागे (मेरे पीछे मोटर साइकिल पर बैठकर)। वहां तमाशबीनों की भीड़ लगी थी। कुछ लोग मजा भी ले रहे थे। अभी हम लोग कुछ निर्णय ले पाते कि तभी एक छपाक सी आवाज हुई। हुआ यह कि बाबूजी ने न आव देखा न ताव झट अपना कुर्ता उतारा और गंजी लुंगी में ही डुबाउ पानी में छलांग लगा दी। तैरना तो वे जानते ही थे सो पलक झपकते ही वे अपनी रचना के पास पहुंच गए। हम लोगों ने कई सांप, बिच्छुओं को उस पानी में तैरते हुए देखा था। पर बाबूजी को इसकी क्या परवाह। उन्हें तो बस अपनी किताबों को बचाना था। सो वे तैरते हुए वहां पहुंच गए और जितनी किताबों को वे बचा सकते थे उन्हें छज्जे पर रखकर बचा लिया। इस दुष्कर कार्य में वे थोड़े घायल भी हो गए पर वे इस बात से संतुष्ट नजर आए कि उनसे जितना हो सकता था उतना उन्होंने अपनी पुस्तकों को बचाने के लिए कर दिया। जो बचा सो बचा बाकी

को 'अर्ध तजही बुध सरबस जाता' की तर्ज पर त्याग दिया। उस दैवीय लीला ने रचना प्रेस को नुकसान तो पहुंचाया ही उसमें रखी कई महत्वपूर्ण किताबों के साथ साथ समीक्षा की प्रतियों को भी लील लिया।

खैर 'समीक्षा' जिस मिशन के तहत शुरू की गई थी वह बाबूजी के कुशल संपादन में अपने मार्ग पर निकल पड़ी। पीछे मुड़कर देखना तों मानों उन्होंने सीखा ही नहीं था। इस दरम्यिान बहुत सारे लागों ने उससे जुड़ने की कोशिश की पर उसकी आंधी में किसी के पैर टिक न पाए। बाबूजी अकेले 'समीक्षा' का झंडा लेकर निकल पड़े। अपने बल बूते पत्रिका निकालना निश्चित ही एक असंभवप्राय कार्य है। पर बाबूजी ने तो मानो गुरुदेव रवींद्र नाथ टैगोर की इस अमर पंक्ति 'जोदी तोर डाक शुने केउ ना आशे तोबे एकला चलो रे' को ही अपने जीवन का आदर्श ही बना लिया था। समीक्षा निकली ही नहीं बल्कि उसने अपनी राह भी पकड़ ली और अकेला चना भांड़ नहीं फोड़ सकता है वाली कहावत को धता बताते हुए बाबूजी ने उसमें अपने आपको झोंक दिया। वे इसका सारा काम अकेले ही करते थे। समीक्षार्थ आई पुस्तकों की सूची बनना, समीक्षकों के यहां पुस्तकों को भेजना, उसके लिए पैकेट बनाना, फिर समीक्षकों को समय पर समीक्षा भेजने के लिए तकादा करना, प्रेषित समीक्षाओं की प्रूफ राडिंग करना, समीक्षा प्रकाशित हो जाने पर उसे उसके ग्राहकों तक समय पर भेजना, समीक्षा के प्रकाशनार्थ कुछ अपने मित्रों के मार्फत कभी कभी मिल जाने वाले विज्ञापनों की जुगाड़ के लिए दौड़ धूप करना। बाबूजी अकसर चटकारा लेते हुए कहते थे कि इस 'समीक्षा' का तो पीर, बाबर्ची, भिश्ती, खर सब मैं ही हूं। पर ऐसा भी नहीं था कि 'समीक्षा' के संचालन में बाबूजी को किसी तरह की कोई सहायता नहीं मिलती थी। मुझे याद है कि हमारे पटना वाले मकान में 'समीक्षा' जब छपकर आती थी तो वह समय एक उत्सव के रूप में मनाया जाता था। परिवार का कोई सदस्य लिफाफे पर टिकट साटता था तो कोई पता चिपकाता था। किसी ग्राहक का पता अगर टंकित न हो तो कभी कभी उसे पता लिखना भी पड़ता था। अंत में लिफाफे में पत्रिका को डालकर उसे डाकखाने तक पहुंचाने का काम भी परिवार के सदस्यगण द्वारा ही किया जाता था। यह सब काम हम सभी लोग मिलकर करते थे। इसमे जो आनंद आता था वह वर्णनातीत है। इस कार्य में अनुशासन सर्वोपरि होता था। बाबूजी द्वारा दिए गए निर्देशों का अक्षरशः पालन होता था। डाक टिकट को चिपकाते समय इस बात का विशेष ध्यान रखा जाता था कि वह बिलकुल सीधी रहे। इसके थोड़ी सी भी आड़ी तिरछी होने पर बाबूजी की भृकुटी तन जाती थी। वे अकसर अपने पथ प्रदर्शक आचार्य देवेंद्रनाथ शर्मा का हवाला देते हुए कहते थे कि आचार्य महोदय इस प्रकार की हीला-हवाली पर बहुत नाराज होते थे। वे कहते थे कि अगर जीवन में कुछ करना है तो छोटी छोटी बातों पर ध्यान देना जरूरी है ओर यही बातें ही बहुत चीजों की ओर इशारा भी कर देती हैं। बाबूजी ने तो इस सूत्र को अपना आदर्श ही बना लिया। यही कारण है कि साहित्यिक जगत में उन तमाम पहलुओं पर उन्होंने अपनी बेबाक टिप्पणी की है जिसको छोटी, ओछी और गैरवाजिब समझकर लोगों ने छोड़ दिया है। उनकी यह आवाज 'समीक्षा' के संपादकीय में सहज सुनी जा सकती है। इसमें उन्होंने साहित्यिक दंगलबाजियों के साथ साथ उन तमाम बातों पर अपनी नाराजगी जताई है जिन पर शायद ही किसी संपादक की नजर गई हो। इनमें से एक है सरकार द्वारा डाक टिकटों में की गई मूल्य वृद्धि के विरुद्ध प्रदर्शित उनकी नाराजगी। हुआ यह कि पहले से ही अर्थाभाव से जूझ

रही 'समीक्षा' को जब डाक टिकट में हुई मूल्य वृद्धि का सामना करना पड़ा तो इसका संपादक चीत्कार कर उठा और अपने संपादकीय में उसने सरकार की धज्जियां उड़ाकर रख दीं। इसका परिणाम क्या हुआ यह तो कहना मुश्किल है पर अपनी नाराजगी और सरकारी नीतियों से अपनी असहमति तो उन्होंने व्यक्त कर ही दी।

अब जब डाक विभाग की बात चल ही रही है तो इससे संबंधित एक मजेदार वाक्या का जिक्र यहां कर ही दूं। मैने जब से होश संभाला और जबतक पटना में रहा तब तक प्रत्येक दिन मैंने डाकिया नामक उस प्राणी का दीदार किया जो आज निश्चित ही जुगुप्सा की चीज बन गया है। डाकिया महोदय अपने दर्शनार्थ प्रत्येक दिन हमारे घर उपस्थित हो जाया करते थे। ऐसा कोई दिन न था जिस दिन डाकिया हमारे घर न आता हो। कभी प्रकाशकों द्वारा प्रेषित समीक्षार्थ पुस्तकें तो कभी 'समीक्षा' के किसी अंक विशेष के समय पर न प्राप्त होने की उलाहना या उसके संपादकीय की प्रशंसा से संबधित पत्र तो बिना नागा के हर कार्यदिवस पर आ ही जाते थे। बाबूजी भी उन पत्रों का उत्तर बड़ी तत्परता से देते थे। पर उनके पत्रोत्तर प्रेषित करने का समय हम लोगों के लिए महाकष्टदायी था। वे ठीक तीन बजे अपना पत्रोत्तर समाप्त करते और चाहते कि दोपहर सवा तीन बजे लेटर बॉक्स खुलने के पहले उनके पत्र उसके शरणागत हो जाएं और यह काम हम लोगों को ही करना पड़ता था। दोपहर में और विशेषकर जेठ की दुपहरी में तो भोजनोपरांत शयन का अपना ही मजा है। शिक्षक पुत्र होने के कारण दोपहर में भोजन के उपरांत सोने का अधिकार वंशानुगत रूप से तो प्राप्त था ही। वैसे भोजन के बाद सोते तो बाबूजी भी थे, पर वे 'अल्पहारी, स्वान निद्रा' वाली कहावत को भी चरितार्थ करते थे। इधर हम सब 'ठांस भोजनं चाप निद्रा' वाले प्राणी थे। बाबूजी करीब आधा घंटा विश्राम करते और फिर उठकर अपना काम करने लगते। इसमें प्राथमिकता थी चिट्ठियों का जवाब देना। इधर घोड़ा बेचकर निद्रा देवी का आनंद लेते व्यक्ति को ठीक तीन बजे उठाया जाता और निर्देशित किया जाता कि अपनी साइकिल उठाइए और इस पत्रोत्तर को लेटरबॉक्स में डाल आइए। उस समय कितना कष्ट होता होगा वह वही समझ सकता है जिसने दोपहर में भरकम भोजन के उपरांत सोने का आनंद लिया हो। कहा भी गया है कि 'जाके पांव न फटे बिवाई वो क्या जाने पीर पराई' पर वहां सुनने वाला कौन था! मैं उठता अपने सारे गुस्से को जप्त करता और मरता क्या न करता वाली स्थिति में लेटरबॉक्स की तरफ मन मसोसकर चल देता था क्योंकि महटियाने पर उसका जो परिणाम निकलता उससे मैं भलीभांति परिचित था। बाबूजी के साथ में सदा एक डंडा होता था जिसकी सहायता से वे चला करते थे और इन परिस्थितियों वे उसका प्रयोग करना भी भलीभांति जानते थे। एक दिन मैंने अपने एक मित्र से जब अपना दर्द सुनाया तब उसने इससे पार पाने का एक सुझाव दिया। उसके सुझाव के अनुसार बाबूजी द्वारा दी गई चिट्ठियों को मैं उस समय कहीं छुपा देता और फिर यह कहकर कि मैंने चिट्ठी छोड़ दी है और मस्त नींद का मजा लेने लगा। शाम को सैर-सपाटे में निकलता तब पत्र को पत्र पेटी में डाल देता था। यह सिलसिला बहुत दिनों तक बदस्तूर जारी रहा। पर एक दिन चोरी पकड़ी गई। हुआ यह कि किताबों के बीच छुपाकर रखी गई मधुरेशजी की एक चिट्ठी को मैं लेटर बॉक्स में डालना भूल गया। मधुरेशजी का एक शिकायती पत्र बाबूजी के पास आया कि आजकल आप मेरे पत्रों का समय पर जवाब नहीं देते हैं। बाबूजी ने जब मुझसे पूछा तो मैंने बड़ी सफाई से मिथ्या भाषण करते हुए उनके सारे पत्रों को लेटरबॉक्स

में सही समय पर डाल देने की बात कहकर और डाक विभाग पर सारा दोषारोपण मढ़कर उससे छुटकारा पा लिया। किसी ने ठीक ही कहा है कि प्रेम और चौर्य छुपाए नहीं छुपता है। एक दिन बाबूजी को किताबों के बीच स्थापित वह चिट्ठी प्राप्त हो गई मेरी चौर्य कला की कलई खुलते ही मेरी क्या दुर्गति हुई इसका बखान मैं अपनी जुबानी क्या करु! बस इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि उस दिन के बाद से बाबूजी के हाथ में मुझे मुंह बिराते हुई एक नई चमचमाती छड़ी दिखलाई पड़ने लगी जो निश्चित रूप से पहले वाली से ज्यादा मजबूत थी। खैर इसके बाद से मैं चिट्ठियों को छिपाकर रखने की हिमाकत कभी नहीं कर पाया और उसके बाद से सभी चिट्ठियों सही समय पर लोगों को प्राप्त होने लगीं।

हमलोग बाबूजी का जन्मदिन खूब धूमधाम से मनाते रहे हैं। मुझे उनका पचहत्तरवां जन्म दिन खूब याद है। उस समय मैं ग्वालियर के एक शासकीय महाविद्यालय में सहायक प्राध्यापक के रूप में पदस्थ था। बाबूजी स्थाई रूप से सत्यकाम भैया के साथ इग्नू कैम्पस में रहने लगे थे। उसी समय सत्यकाम भैया को एक योजना के तहत दो वर्ष के लिए बुल्गारिया जाने का आफर मिला जिसे उन्होंने बाबूजी के निर्देशानुसार स्वीकार कर लिया। वे भाभी और बिटिया ऋषिता के साथ परदेश के लिए निकल पड़े। बाबूजी वहां अकेले ही अपने सेवक मंटू के साथ रहने लगे। हम लोगों ने उस दरम्यान उनसे ग्वालियर में ही रहने की खूब चिरौरी की पर वे कहां मानने वाले थे। कहां इग्नू का बड़ा सा मकान, चारों तरफ व्याप्त हरियाली और कहां ग्वालियर का मेरा दो कमरों का फ्लैट। भला बाबूजी कहां टिकने वाले थे। वे दो चार दस दिनों के लिए आते फिर दिल्ली की ओर दौड़ लगा देते। मुझे गुस्सा भी आता कि आखिर दिल्ली में क्या रखा है जो वे बार-बार उसका मुंह जोए रहते हैं। उसका पता मुझे उस समय तो नहीं लग पाया पर जब कुछ वर्षों के उपरांत मैं भी दिल्ली आ गया तब मुझे अहसास हुआ कि आखिर बाबूजी का दिल दिल्ली में ही क्यों रम गया था! दिल्ली है ऐसी चीज। जो भी यहां आया वह यहां की मायावी दुनिया में इस तरह फंसकर रह गया कि उसे उसके अलावा कोई दूसरी चीज पसंद ही नहीं आई। खैर इसी बीच बाबूजी का पचहत्तरवां जन्मदिन भी नजदीक आ गया। इसे हम लोगों ने अमृत महोत्सव के रूप में मनाने का निर्णय लिया। बाबूजी की चिरौरी फिर शुरू हुई पर वे ग्वालियर आने को तैयार ही नहीं हुए। अंत में पत्नी के सुझाव पर दिल्ली जाकर ही उनका यह जन्मदिन मनाने का निर्णय लिया गया। हम लोग सपरिवार शताब्दी एक्सप्रेस से ग्वालियर से दिल्ली पहुंच गए। उनका जन्मदिन कैसे मनाया जाए इस पर हम एक विचार नहीं हो पा रहा था। इग्नू परिसर हमारे लिए भी बहुत कुछ अपरिचित सा ही था। सत्यकाम भैया भी वहां नहीं थे। हम लोग सत्यकाम भैया के एक अभिन्न मित्र और बाबूजी के अत्यंत प्रिय प्रो. अहमद रजा खान जिन्हें हम लोग खान साहब के नाम से ज्यादा जानते हैं के पास अपनी समस्या को लेकर गए। खान साहब ने अपने स्वभाव के अनुरूप सहज ही हमारे प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया और अपनी एक मुस्कुराहट के साथ उस सुअवसर की सारी व्यवस्था इग्नू के अतिथि गृह मे करवा दी। बाबूजी से जुड़े सभी लोगों को उसमें आमंत्रित किया गया जिसमें प्रो. मुचकुंद दुबे, ब्रजभूषण सहाय, कमला प्रसाद आदि उनके बाल सखा भी सपरिवार शरीक हुए। खूब धूमधाम से उनका वह जन्मदिन मनाया गया। उस अवसर पर लोगों ने उन्हें तरह तरह के उपहार भी भेंट किए।

बाबूजी का जीवन संघर्षों से भरा पड़ा है। पर एक अवधूत की तरह उन्होंने अपने जीवन संघर्ष

को जिस तरह से अपने विकास के रूप में रूपायित किया वह निश्चित ही काबिले गौर है। मैंने पाया है कि विपरीत परिस्थितियों में उनमें एक गजब तरह की शक्ति उन्हें प्राप्त हो जाती है और एक नई उर्जा के साथ वे अपने काम में लग जाते हैं। बाबूजी जब जब अपने 61वें बसंत में प्रवेश करने का आनन्द ले ही रहे थे कि तत्कालीन बिहार सरकार ने अपनी प्रकृति के अनुरूप एक अजब निर्णय के तहत बिहार के सैकड़ों प्राध्यापकों को अपने पिछले नियमों का हवाला देते हुए अचानक सेवा मुक्त कर दिया। उस समय बाबूजी पटना विवि के हिंदी विभाग के अध्यक्ष थे। सरकार के इस निर्णय का उन पर भी असर पड़ा और इस निर्णय के दूसरे दिन से वे भी कार्यमुक्त कर दिए गए। ऐसी विकट परिस्थिति में भी जब चहुंओर त्राहिमाम-त्राहिमाम का स्वर सुनाई पड़ रहा था बाबूजी लौह पुरुष की तरह अडिग रहे और यह कहकर कि चलो सरकार ने पदभार से मुक्त कर कुछ काम करने का अवसर प्रदान किया है न केवल अपने को संभाले रखा बल्कि दूसरों के लिए भी प्रेरणस्रोत बन गए। बाबूजी ने अवकाश प्राप्त करने के बाद अपनी प्रकृति के अनुरूप ही खूब काम किया। बृहतकायी 'हिंदी उपन्यास का इतिहास' और फिर तीन खंडों में 'हिंदी कहानी का इतिहास' प्रस्तुत कर उन्होंने निश्चित ही अपने को प्रमाणित कर दिया है। ऐसे समय मे जब बड़े नामी-गिरामी आलोचकों ने हताशा और निराशा में 'हिंदी साहित्य के इतिहास लेखन' की आवश्यकता पर ही प्रश्नचिह्न लगाना शुरू कर दिया था। अपने इक्कीसवें वर्ष में प्रवेश के साथ ही बाबूजी ने 'हिंदी साहित्य के आधुनिक इतिहास' पर अपनी नजरें इनायत कर दीं। चाहत तो शायद पूरा इतिहास लिखने की थी पर उन्हें तब तक लगने लगा था कि अब समय कम है और इतने समय में इससे ज्यादा काम नहीं किया जा सकता। वैसे पचहत्तर वर्ष के बाद बाबूजी से ही ईश्वर से हर पांच वर्ष के बाद अगले पांच वर्षों का एक्सटेंशन मांग ही लेते थे और तब तक भगवान भी उसे थोड़े नाज नखरे के साथ ही सही पर उसे स्वीकार करते आए थे। पर अस्सीवें वर्ष में प्रवेश के उपरांत बाबूजी का स्वास्थ्य तेजी से गिरने लगा। उन्हें लग गया था कि उनकी एक्सटेंशन वाली अर्जी अमान्य होने वाली है। समय की कमी को भांपते हुए अपने हिंदी साहित्य के इतिहास वाले मिशन को थोड़ा छोटा करते हुए उन्नीसवीं शताब्दी के हिंदी साहित्य पर काम करना शुरू किया। पर लगातार गिरता स्वास्थ अब उनके लिए बोझिल हो चला था। उनके लिए कंप्यूटर पर बैठना कठिन होता जा रहा था। स्मरण शक्ति भी कुछ कुछ कमजोर हो चली थी। पुस्तक अभी अधूरी थी। बाबूजी ने एक दिन मुझे बुलाकर उस अधूरी पुस्तक को पूर्ण करने का आदेश सा दे डाला। मैं अपने सारे कार्य को स्थगित कर उस पुस्तक पर जुट गया। पर बाबूजी जिस तरह से शोध केंद्रित कार्य करते थे वैसा कार्य करना किसी के बूते की बात नहीं थी। खैर मैंने जो कुछ उनसे सीखा था उसके सहारे उस पुस्तक को पूर्ण करने का काम किया और पिछले दिनों वह पुस्तक वाणी प्रकाशन से छपकर भी आ गई है। मैं उस पुस्तक के माध्यम से बाबूजी को प्रणाम कर रहा हूं यही मेरी उनको श्रद्धांजलि है। सच मानिए इस पुस्तक का जो कमजोर अंश है वह मेरा है और जो तगड़ा है वह बाबूजी का।

●

कवि से कहीं जियादा बड़े मनुष्य थे वीरेन डंगवाल

शैलेन्द्र चौहान

वीरेन डंगवाल को याद करना एक शीतोष्ण ऋतु को याद करना है। नहीं जानता क्या और कैसे कहूं उनके बारे में। एक अवसाद, एक सूनापन सा मन पर छा जाता है जब उनकी मृत्यु से साक्षात होता है। 28 सितंबर का वह दिन एक गोल गोल घूमते वायु के चक्रवात की तरह लगा था जब सुना था कि वीरेन नहीं रहे। 13 -14 सितंबर 2015 को ही तो कुमार मुकुल को मैं उनके घर ले गया था। अपने जीवन के अंतिम दौर में वीरेन मेरे पड़ोसी थे। गाजियाबाद के इंदिरापुरम में जयपुरिया सनराइज ग्रीन्स सोसाइटी में वह एल टावर के 802 फ्लैट में रह रहे थे और मैं पी टावर के 1703 फ्लैट में। चार- छः दिनों में मिलना हो जाता था। उनसे मिलने बहुत मित्र आते थे, साहित्यकार, पत्रकार, कलाकार आदि। जब तब मुझे भी उन लोगों से भेंट का अवसर मिल जाता था। कुछ पुराने मित्रों से भी भेंट हो जाती थी। एक दिन मनोहर नायक और मंगलेश डबराल वहां बैठे थे। मनोहर से मेरी भेंट कोई बत्तीस वर्ष पहले इलाहाबाद में हुई थी, जब मैंने वहां एक नौकरी ज्वाइन की थी। मनोहर अमृत प्रभात अख़बार में काम करते थे। कलाकार अशोक भौमिक से भी वहीं भेंट हुई लगभग उतने ही अंतराल के बाद। सुप्रसिद्ध कथाकार शेखर जोशी से भी उनके यहां मुलाकात हुई। यद्यपि शेखरजी से मैं एक वर्ष पहले उनके बेटे संजय के यहां मिल चुका था। तब शेखरजी से भी इलाहाबाद के बाद ही मिला था। इन सभी से मेरा इलाहाबाद से ही परिचय और मित्रता थी। और संयोग यह कि वीरेन से भी मेरी पहली मुलाकात इलाहाबाद में ही हुई थी। वह अक्टूबर या नवंबर का माह था, सन 1983 का। वह जगह कौन सी थी यह मैं विस्मृत कर चुका था लेकिन मुझे वीरेन ने ही याद दिलाया कि वह स्थान दरभंगा कॉलोनी का सी वाय चिंतामणि मार्ग था जहां वह अपनी ससुराल से आ रहे थे और यह भी कि मेरे साथ सुधी आलोचक सत्यप्रकाश मिश्र भी थे। फिर इलाहाबाद के कॉफी हाउस में एकाध भेंट हुई पर वीरेन से मिलकर ऐसा लगा कि हम दशकों के मित्र हैं। निश्छल स्नेही व्यवहार उनका बहुत बड़ा गुण था जिसका हर व्यक्ति कायल था। बहुत कम लोगों में यह गुण पाया जाता है। और यही एक बात थी जिसके कारण उनकी दोस्ती उनकी कविता पर भारी पड़ती थी। मैंने उन्हें एक पारंपरिक कवि के रूप में कभी नहीं देखा। अपनी कविताओं की चर्चा वह बहुत ही कम किया करते थे। मुझे उनकी यही बात भा गयी थी। वह एक कवि से जियादा बड़े मनुष्य बने रहे। उनके तीन कविता संग्रहों 'इसी दुनिया में' (1990), दुष्चक्र में सृष्टा (2002) और 'स्याही ताल' (2009) के अतिरिक्त उनकी बहुत सी कविताएं इधर उधर बिखरी हुई हैं। उनकी 'कवि'

नामक एक कविता देना मुझे यहां उपयुक्त लग रहा है :

'मैं ग्रीष्म की तेजस्विता हूं
और गुठली जैसा
छिपा शरद का उष्म ताप
मैं हूं वसंत में सुखद अकेलापन
जेब में गहरी पड़ी मूंगफली को छांट कर
चबाता फुरसत से
मैं चेकदार कपड़े की कमीज हूं

उमड़ते हुए बादल जब रगड़ खाते हैं
तब मैं उनका मुखर गुस्सा हूं

इच्छाएं आती हैं तरह-तरह के बाने धरे
उनके पास मेरी हर जरूरत दर्ज है
एक फेहरिस्त में मेरी हर कमजोरी
उन्हें यह तक मालूम है
कि कब मैं चुप हो कर गरदन लटका लूंगा
मगर फिर भी मैं जाता रहूंगा ही
हर बार भाषा को रस्से की तरह थामे
साथियों के रास्ते पर

एक कवि और कर ही क्या सकता है
सही बने रहने की कोशिश के सिवा।'

तो वीरेन की वह ग्रीष्म सी तेजस्विता, शरद का ऊष्म ताप और वसंत की उदासीनता मुझसे कभी दूर नहीं हो पाई। यद्यपि मैं उनकी तरह कभी मृदु और सर्वप्रिय नहीं हो सका, लेकिन सही बने रहने की कोशिश मैंने अवश्य की। वीरेन को मेरा यही अवगुण बेहद आत्मीय लगता रहा। सन 1984-85 में मैं अपने जीवन की एक ऐसी घटना से संत्रस्त हुआ जिसके कारण मुझे वीरेन के घर बरेली जाना पड़ा। मेरे ऊपर एक आपराधिक मामला मेरे पैतृक गांव के प्रधान के बेटे द्वारा पुलिस में दर्ज करा दिया गया जिसके कारण मैं बहुत परेशान था। मैनपुरी जिले का पुलिस अधीक्षक उन दिनों एक पहाड़ी व्यक्ति हुआ करता था। वह एक छद्म साहित्यकार भी था। अव्यावहारिक होने के नाते मैंने उसे कोई महत्व नहीं दिया इससे वह बहुत आहत था। उसे मुझसे अपनी प्रशंसा की अपेक्षा थी जो पूरी न होने पर वह मुझसे नाराज था। इसका पता तब चला जब मैं उस केस के संबंध में उससे मिलने गया। उसने मुझ पर व्यंग्य किया 'बहुत बड़े साहित्यकार बने फिरते हो अब मेरे पास क्यों आए हो। पुलिस अपना काम कर रही है।' उसे ज्ञात था कि यह मामला झूठा है लेकिन वह उस अपराधी के साथ था। बाद को मुझे पता चला कि गांव का वह लड़का नियमित रूप से

उस एस.पी. के यहां घी और अनाज पहुंचाता था। वह पुलिस का दलाल था। यहां तक कि गांव की कुछ युवा महिलाएं और लड़कियां भी पुलिस वालों के पास ले जाता था। इस बात से मैं उस एस.पी. के प्रति और असहिष्णु हो गया। मैंने उसकी शिकायत की लेकिन परिणाम कुछ नहीं निकला। मुझे पता चला कि वीरेन डंगवाल उस एस.पी. के साले के गहरे मित्र हैं और वह एस.पी. भी वीरेन के यहां मिलने जाता है। अतः मैंने सोचा कि अपनी स्थिति साफ करने के लिए वीरेन को माध्यम बनाया जाए। तो मैं उनसे मिलने बरेली पहुंचा। उन्होंने पूरी आत्मीयता और गर्मजोशी से मेरा स्वागत किया। मैंने वीरेन को अपनी समस्या बताई तो वीरेन बोले 'वो व्यक्ति तो बहुत नालायक है इसलिए मैं उसे जियादा घास नहीं डालता। अलबत्ता मैं उसके साले से यह सब कहूंगा।' खैर मैं लौट आया। उनके बड़े भाई जो मध्यप्रदेश में बड़े सरकारी अफसर थे मैंने उनसे सहायता लेने की बात कही तब वीरेन बोले मैं उनसे नहीं कहूंगा और फिर वे दूसरे प्रदेश में हैं। हां अगर तुम उनसे मिलकर यह सब समझाओ तो शायद वे कुछ कर सकें लेकिन परेशानी यह है कि वे उस एस.पी. से एक काम कहेंगे तो वह एस.पी. उनके गले पड़ जायेगा अपने फायदे के लिए। 'फिर वह बोले मैं उसके साले से कहूंगा शायद उसकी बात का उस गधे पर कुछ फर्क पड़े।'

बहरहाल वीरेन ने अपनी असमर्थता कुछ इतनी सहजता और साफगोई से जाहिर की कि मुझे निराशा हुई लेकिन बुरा कतई नहीं लगा। मैं बरेली से वापस लौट आया। मुझे यह आभास हो गया कि इस तरह कोई सहायता मिलना मुश्किल है। अब जो भी होगा न्यायालय से ही होगा और वही हुआ भी। उस एस.पी. को बहुत समझाने के बावजूद मेरे खिलाफ पुलिस ने चार्ज शीट दाखिल कर दी। मुकदमा चला और मैं बरी हुआ। इस प्रक्रिया में एक डेढ़ वर्ष बीत गया। मैं तब कानपुर में था। इस प्रकरण के पश्चात वीरेन से दो-एक मुलाकातें साहित्यिक कार्यक्रमों में हुईं। उनका वही निश्छल व्यवहार 'अरे.... शैलेन्द्र कहां हो, क्या कर रहे हो प्यारे, मौज चल रही है।'

मेरा वीरेन से फोन संपर्क हमेशा बना रहा। फिर सन 1989 में मेरा ट्रांसफर मुरादाबाद हो गया। मुरादाबाद से शाहजहांपुर तक मेरा कार्यक्षेत्र था, बरेली बीच में पड़ता था। मैं अकसर बरेली जाता रहता था और वीरेन से मिलता रहता था। उन दिनों वीरेन अमर उजाला अख़बार का साहित्य वाला पृष्ठ देखते थे। अतः मुझसे कहते- 'अरे बेटा कुछ हमारे अखबार को भी दे दिया करो।' मैंने अपने गांव से संबंधित कुछ संस्मरण उन्हें भेजे जो उन्होंने बहुत अच्छी तरह प्रकाशित किए। मुरादाबाद में एक बार शीलजी आए तो गोष्ठी आयोजित की जिसमें सुपरिचित कवि-गीतकार माहेश्वर तिवारी ने अपना पूरा सहयोग दिया। वे मुरादाबाद में ही रहते थे और मेरे बहुत पुराने परिचित थे। जब मैं विदिशा में इंजीनियरिंग था वह जैन स्नातकोत्तर कॉलेज में हिंदी के प्राध्यापक थे। मूलचंद गौतम जिन्हें वीरेन मजाक में 'मूली' कहते थे भी पास में ही संभल में थे वह भी आए। पारसी थिएटर के जनक मास्टर फिदा हुसैन नरसी ने भी शिरकत की। एक अच्छी गोष्ठी हुई।

वीरेन का बरेली से फोन आया 'प्यारे, मूली ने बताया तुमने शीलजी को बुलाकर अच्छी गोष्ठी कर डाली। मुझे खबर भी नहीं दी। भैया ऐसा मत किया करो। अच्छा अब ऐसा करो कि इस गोष्ठी की अच्छी सी रपट तुरत भेजो। अगले इतवार को छपनी है।' मैंने रिपोर्ट भेजी थोड़ी देर से। वह उस रविवार नहीं पर अगले रविवार अच्छी तरह छपी। एक वर्ष बाद मेरा कोटा ट्रांसफर हो गया फिर जयपुर। वीरेन एक बार जयपुर भी आये 'पहल सम्मान' में। मैं भी कार्यालयीन काम से जयपुर से

बरेली गया तो फिर वही संग-साथ हुआ। एक बार मैं कानपुर गया तो वह वहां अमर उजाला के संपादक बना दिए गए थे। उन दिनों मैं फरीदाबाद में था। उनसे बात हुई तो मैं उनके ऑफिस पहुंचा। वह मिलकर बहुत प्रसन्न हुए। उन्हें जब साहित्य अकादेमी पुरस्कार मिला, मैंने उन्हें फोन किया। बोले बस भैया ऐसे ही अनपेक्षित मिल गया। दो लोगों के झगड़े में मेरा फायदा हो गया। इसके बाद पांच-सात साल मेरी उनसे कोई भेंट नहीं हो सकी। मैं नागपुर चला गया था। फोन से बात होती थी। बाद को कलकत्ता में पहल सम्मान के आयोजन में उनसे मुलाकात हुई। वही पुराण लहजा 'और बेटा मौज कर रहे हो।' पुनः कुछ वर्ष बीत गए। बड़ोदा, बारां होते हुए मैं जम्मू पहुंच गया। इस दौरान कुछ संपर्क कम रहा पर एक दूसरे के समाचार मिलते रहे। जम्मू से जब मैं दिल्ली आ गया और नोएडा में रहने लगा तो पता चला कि वह अपने बड़े बेटे के पास तिमारपुर में रहते हैं। एक दिन फोन से बात हुई तो बोले अरे यार कुछ दिन यहां रह लेता हूं फिर बरेली लौट जाता हूं। आओ कभी मिलो। फिर मुझे पता चला कि उन्हें मुंह का कैंसर हो गया है और दिल्ली में उनका इलाज चल रहा है। वह अपने बेटे के यहां हैं। बात हुई बड़े बिंदास अंदाज में बोले हां बेटे नोएडा में ही रह रहे हो। भैया इलाज हो रहा है जो भी होगा इतनी क्या चिंता करनी उसकी। उस वक्त मुझे उनकी एक कविता 'रुग्ण पिताजी' याद आई :

'रात नहीं कटती? लंबी यह बेहद लंबी लगती है?
इसी रात में दस-दस बारी मरना है जीना है
इसी रात में खोना-पाना-सोना-सीना है।
जख्म इसी में फिर-फिर कितने खुलते जाने हैं
कभी मिलें थे औचक जो सुख वे भी तो पाने हैं
पिता डरें मत, डरें नहीं, वरना मैं भी डर जाउंगा
तीन दवाइयां, दो इंजेक्शन अभी मुझे लाने हैं।

बीच बीच में वह बरेली चले जाते थे। भेंट नहीं हो सकी उन दिनों। कुछ समय बाद मैं इंदिरापुरम रहने आ गया। एकाध वर्ष बाद वाचस्पतिजी ने मुझे बताया कि वीरेन डंगवाल आपके पड़ोस में ही रह रहे हैं और वह उनसे मिल कर गए हैं। मुझे आश्चर्य हुआ कि वीरेन इतने पास रहते हैं और मुझे पता ही नहीं। खैर मैं और पत्नी उनसे मिलने उनके फ्लैट पर गए। अपने स्वाभाव के अनुसार वह प्रेम और उत्साह से मिले। अब शारीरिक रूप से वह बहुत कमजोर हो चुके थे। शरीर में कुछ बचा नहीं था। कीमोथैरेपी चल रही थी। मैं उनके पुराने रूप और नए शरीर -रूप में कोई सामंजस्य नहीं बिठा पा रहा था। पर यह वास्तविकता थी और उसे स्वीकार करना था। वीरेन तब भी आत्मविश्वास से पूर्ण थे। गजब की जीवट थी उनमे। बोले जब भी फुरसत हो आ जाया करो। दो -चार दिन बाद मैं उनसे मिलने चला जाता था। रीटा भाभी स्वागत सत्कार में कोई कमी नहीं रहने देती थीं। कुछ समय बाद मुझे सेवानिवृत्त होना था। मेरी पत्नी जयपुर आ गयी थी। वीरेन को जब यह पता चला तो बहुत परेशान हो गए। खाना कहां खाते, नाश्ता क्या बनाते हो। ऐसा करो यहीं आ जाया करो। शर्माओ मत यार यह भी अपना ही घर है। दोपहर में मैं ऑफिस में खाना खा लेता था शाम को कुछ सलाद या फल खाता था। सुबह नाश्ते में कॉर्नफ्लेक्स, ओट्स वगैरह खाता था। मैं उन्हें समझाता कि मुझे खाने की कोई दिक्कत नहीं है लेकिन वह नहीं मानते और छुट्टी वाले

दिन तो दोपहर होने से पहले ही फोन आ जाता यहीं खाना खाओगे। घर पहुंचने के पहले एक बार और याद दिला देते। जियादा छुट्टियां जयपुर में कटती थीं, इंदिरापुरम रहना कम ही होता था। समय बीत गया। मैं सेवानिवृत्त हो गया और जयपुर चला आया। दो-चार दिन बाद उनका फोन आ जाता पूछते जयपुर में सब ठीक चल रहा है, इंदिरापुरम कब आ रहे हो। वहां लैट में गैस पाइप लाइन लगनी थी सो मुझे इस बार कोई पंद्रह दिनों तक इंदिरापुरम में ही रुकना पड़ा। और इस पूरे समय मुझे वीरेन के घर खाना खाने जाना पड़ा। दोपहर की जगह मैंने शाम का करार कर लिया। शाम होते ही फोन आता फिर एक घंटे बाद और फिर आठ साढ़े आठ बजे तक। यह फाइनल कॉल होता। और मुझे पहुंचना पड़ता। मेरे लिए बिना प्याज की सब्जी अलग से बनती। रीटा भाभी स्नेह से परोसतीं। बहू प्रियंका चाचाजी उर्फ अंकल को याद दिलाती कि पापा अब कल मुझे फोन करने को कहेंगे कि आप समय से आ जाएं। बेटा प्रफुल्ल भी तीन माह छुटियों में वहां होता और सबसे सुखद होता, प्रपौत्र जो अपनी मनोहारी बातों और खेल से मन मोहता। वीरेन कुछ मन से कमजोर हो रहे थे। उन्हें बहुत कष्ट था। कीमोथैरेपी के बाद उनके गले में एक घाव हो गया था जिससे खून रिसता था। एकाध बार वह यह बोले भी। मैंने कहा अब जो है उसे सहन तो करना ही है। बोले हां, लेकिन सहन करने वाला ही यह जान सकता है कहने से क्या होता है। मैं चुप हो गया। मैं उनकी बीमारी पर बात नहीं करना चाहता था। उन्हें और कमजोर करना उचित नहीं प्रतीत होता था तब वीरेन खूब कविताएं भी लिख रहे थे। कविताएं पत्रिकाओं में छपतीं तो मुझे पत्रिका दे देते। छपाई की ढेरों गलतियां रेखांकित कर देते। ये कविताएं बहुत अलग कविताएं थीं। हिंदी कवियों से भिन्न। कवि आलोचक विष्णु खरे ने वीरेन की कविताओं के बारे में लिखा- 'वीरेन की जितनी दृष्टि व्यष्टि पर थी, उतनी ही समष्टि पर भी थी। वह न सिर्फ प्रतिबद्ध थे बल्कि वाम-चिंतक और सक्रियतावादी भी थे। अपने इन आखिरी दिनों में भी उन्हें जनमंचों पर सजग हिस्सेदारी करते और अपनी रचनाएं पढ़ते देखा जा सकता था। पिछले कई वर्षो का गंभीर कैंसर भी उनके मनोबल, जिजीविषा और सृजनशीलता को तोड़ न सका बल्कि हाल की उनकी कविताओं, मसलन दिल्ली मेट्रो पर लिखी गई रचनाओं ने उनके प्रशंसकों और समीक्षकों को चमत्कृत किया था क्योंकि उनमें दैन्य और पलायन तो था ही नहीं, उलटे एक नयी भाषा, आविष्कारशीलता, जीवंतता और अन्य सारे कवियों को चुनौतियां थीं।'

वीरेन नया पढ़ना चाहते थे। पत्रिकाएं किताबें। मेरी पुस्तकें लेकर पढ़ते और अपनी राय देते। मेरा संस्मरणात्मक उपन्यास 'पांव जमीन पर' पढ़ने के बाद एक दिन वह बोले। तुम संस्मरण लिखो अपने समकालीनों पर। यह एक अच्छा काम होगा। एकाध बार फिर उन्होंने यह दोहराया। मैं मन बना रहा था कि क्यों न उनसे ही शुरुआत की जाए। वह अब बरेली वापस जाने का मन बना चुके थे। बरेली वाले घर में कुछ काम भी प्रफुल्ल ने करा दिया था। वह अगस्त में ही शिफ्ट हो जाना चाहते थे पर जाते जाते 19-20 सितंबर हो गया। मैं जयपुर में था। हाल चाल लेता रहता था। बरेली जाने से ठीक पहले और बाद में कोई बात नहीं हो सकी और फिर वीरेन हमें अलविदा कह गए। यह कतई भरोसा नहीं था कि इतनी जल्दी यह सब हो जाएगा। शायद वह बरेली जाने के लिए ही रुके हुए थे। उनकी कविता 'खुद को ढूंढना' यहां उनकी श्रद्धांजलि स्वरूप उद्धृत कर रहा हूं। उनकी शीतोष्ण परछाईं जब तब दिख जाती है।

एक शीतोष्ण हँसी में
जो आती गोया
पहाड़ों के पार से
सीधे कानों फिर इन शब्दों में

ढूंढना खुद को
खुद की परछाई में
एक न लिए गए चुंबन में
अपराध की तरह ढूंढना

चुपचाप गुजरो इधर से
यहां आंखों में मोटा काजल
और बेंदी पहनी सधवाएं
धो रही हैं
रेत से अपने गाढ़े चिपचिपे केश
वर्षा की प्रतीक्षा में।

●

वैचारिकी

हमारे समय में साहित्य का पक्ष

ज्योतिष जोशी

हमारा समय विकट है, झंझावातों से भरा है, अँधेरा गहरा गया है, मानवता संकट में है और हम सब एक उजाले की उत्कट प्रतीक्षा में है कि अँधेरा कम हो, मानवता का संकट टले! पर इसको लेकर संशय बना रहता है, दुविधा बनी रहती है कि क्या ऐसा होगा; क्या हम ऐसा कर पाने में सफल होंगे? सही मायनों में लिखने की शुरुआत ही यहीं से होती है-समय के सम्मुख पहले हम स्वयं होते हैं एक व्यष्टि के रूप में, समाज जितना हमारे स्वयं में समाहित होता है-उतना प्रकट होता है। हर युग में चुनौतियां आती हैं, हर युग में अँधेरा गहराता है, हर युग में जीने वाला लेखक अपने समय के अँधेरे को 'अपने आत्म' की छाया के रूप में देखता है, संशयग्रस्त होता है और यही संशय उसका उन्माद बनता है जिसके बारे में हेनरी जेम्स ने लिखा-

'हम अँधेरे में काम करते हैं। हम वही करते हैं, जो कर सकते हैं। हमारे पास जो है, उसे दे देते हैं। हमारा संशय ही हमारा उन्माद है और हमारा उन्माद हमारी कला है.... बाकी सब कला का पागलपन है।'

संशय यह कि हम जो लिखते हैं, वह किसी ऐसे सत्य को खोज पाने में सफल हो सकेगा, जो हमारे अँधेरे को भेद सके? ध्यान दें तो पायेंगे कि हमारा अँधेरा जागतिक अँधेरे से विलग नहीं होता, ठीक उसी तरह जैसे हमारे 'आत्म' से परे समष्टि नहीं होती-स्पष्ट है कि हम समिष्ट की ही एक इकाई के रूप में स्थित हैं, अस्तित्व में हैं। एक लेखक होने के नाते हमारा यह दायित्व बनता है कि हम सामाजिक विसंगति, असमानता, दरिद्रता, धार्मिक पाखंड, मनुष्य विरोधी स्थितियों सहित उन सभी विकृतियों के विरुद्ध खड़े हों जो मानवता को शर्मसार करने में मुब्तिला हैं लेकिन लेखक की यह नातेदारी उसके अंतर की विवशता होनी चाहिए, सामाजिक दायित्व की लाचारी नहीं। इस रूप में हम देखें तो साहित्य आरोपित कर्म नहीं होता और न ही उसे ऐसा होना चाहिए। उसे अपने अंतर की विवशता में ऐसे विश्वास को, भरोसे को और सत्य को पाने की चेष्टा करनी होती है जो उसकी रचना को काल-सापेक्षता के साथ-साथ कालजयी भी बना सके और जिसमें हम भविष्य की पग-ध्वनियों को भी सुनने में समर्थ हों। एक लेखक की सबसे बड़ी जिम्मेवारी अपने समय के कठिनतम सच से सामना करना है और उसमें रचना के द्वारा निरुपित विश्वास को अपने समय की प्रतिरोधी शक्ति के रूप में खड़ा करना है। अगर वह ऐसा कर पाता है तो वह अपने लोगों के विरोध में नहीं होता, जिसके बारे में 'द ब्रिज ऑन द ड्रीन' जैसे उपन्यास के सर्जक, यूगोस्लावियाई

उपन्यासकार इवो आन्द्रिच; जिन्हें इसी उपन्यास पर नोबेल पुरस्कार मिला था, अपनी डायरी में लिखते हैं- 'किसी लेखक के लिए सबसे अनर्थकारी, सबसे यंत्रणादायी चीज क्या होती है? गलत समझे जाना? अमान्य रह जाना? जीवन-भर गरीबी और अकेलेपन का अभिशाप भुगतना? नहीं, यह सब चीजें नहीं, लेखक के लिए जो सबसे कठोरतम सजा हो सकती है, घोरतम दुर्भाग्य हो सकता है, वह यह कि वह अपने को अपने ही लोगों के विरोध में पाए।' लेकिन इवो आन्द्रिच का यह कथन लेखन की प्रयोजनधर्मिता का समर्थन नहीं करता, वह लेखक के आत्म-विक्षोभ से जन्मे ऐसे सत्य-संधान की तरफ संकेत करता है जो जितना अपने समय में है, उतना ही समय से बाहर भी। मुश्किल स्थिति यह है कि हमने तात्कालिकता के दबाव में साहित्य को ऐसा उपक्रम बना दिया है जिसमें यथार्थ के सरलीकरण से आगे चिंतन-मनन की संभावना भी निरस्त हो जाती है मानो हमने यह मान लिया है कि साहित्य का न तो अपना कोई सत्य होता है न विचार, वह तो बस यथार्थ के सरलीकरण का उद्यम है या विचारधाराओं का घोषणा-पत्र, जिसमें यांत्रिक ढंग से घटित परिवर्तनों को देखा जा सकता है-अनुभूति के स्तर पर घटित किसी प्रक्रिया को महसूस नहीं किया जा सकता। सच्चाई यह है कि कोई भी बड़ी रचना प्रयोजन पर तुले जाने से इनकार करती है; क्योंकि साहित्य का अपना सत्य होता है, अपना विचार भी, जो हमारी मान्यताओं को निरस्त करते हुए हमें अपने पर बार-बार सोचने पर विवश करता है। किसी भी समय में, बेशक, हमारे अपने समय में भी साहित्य के पक्ष का यह एक स्तर है।

साहित्य का सत्य लेखक के 'आत्म' से सृजित एक ऐसे विचार में होता है जो उसके मन पर तारी समूचे प्रभावों से छनकर या उसका अतिक्रमण कर प्रकट होता है, यह आवश्यक नहीं है कि वह सत्य हमारे वर्तमान सत्य के विलोम में ही हो। वह सर्वथा नए अनुभव के रूप में सामने आता है जिसके आगे हम अपनी समूची समझ को परे कर आत्मबोध का अहसास कर पाते हैं। एक रूप में कहें तो यह विलक्षण अनुभव हमारी पूर्णता की दिशा में होनेवाली एक यात्रा है; क्योंकि हम स्वभावतः अपूर्ण हैं और पूर्णता की ओर प्रतिक्षण हमारे कदम बढ़ते हैं। यही कारण है कि साहित्य और समग्र कलाओं में 'प्रासंगिकता' जैसे पद बहुत अर्थ नहीं रखते; क्योंकि इस पद की व्याप्ति विशुद्ध तात्कालिक है। अगर प्रासंगिकता ही साहित्य को मापने की कसौटी होती तो सैकड़ों, हजारों वर्ष पूर्व की साहित्यिक और कला कृतियां अपनी अर्थवत्ता गवां चुकी होतीं। वह इसलिए जीवित हैं कि उनमें मनुष्योचित स्वप्न और आकांक्षाएं जिंदा हैं जो किसी भी देशकाल में अपनी उसी गरिमा से जी उठती हैं। निर्मल वर्मा ठीक ही कहते हैं कि- 'कला में कोई चीज 'शाश्वत' है, तो यही आकांक्षा-समय और व्यक्ति से बंधी हुई, अधूरी और अनिश्चित, इतिहास की गर्द और आत्मा की गर्दिश में लिपटी हुई- जो कलाकृति में अचानक एक संपूर्णता, एक अर्थ, एक्सटेसी का आलोक, एक निर्वैयक्तिक तटस्थता एक समयहीनता प्राप्त कर लेती है। चूंकि कोई कलाकृति अपने सत्य में संपूर्ण नहीं है, इसलिए हर युग का मनुष्य उसके भीतर अपने सत्य की प्रासंगिकता खोज निकालता है।' (**'कला का जोखिम', पृ. 58**)

अगर ऐसा न होता तो सैकड़ों, हजारों वर्षों का पुराना साहित्य, कलाकृतियां हमें उतने ही नए नहीं लग पाते जितने वे अपने रचना-काल में लगते होंगे। इसका कारण 'प्रासंगिकता' उतना नहीं है जितना कि उनमें हमारे स्वप्न और आकांक्षा का विन्यस्त होना है- यह बात अवश्य समझी जानी

चाहिए। ध्यान में रखने की बात यह है कि यह क्षमता और अर्थवत्ता उन्हीं कृतियों में संभव है जो मनुष्योचित स्वप्न और आकांक्षा को व्यक्त कर सकती हों, जो अपने समय की विरूपताओं से संघर्ष कर एक ऐसे सत्य के संधान की तरफ उन्मुख हो सकने में समर्थ हों जिनमें मनुष्य अपनी पूर्णता की झलक देख सके और अपने संकुचित 'आत्म' को विस्तार दे सके। ऐसी सर्जना शब्दों की जुगाली से नहीं, उसकी साधना से आयेगी; जिसमें अपने समय के विकट प्रश्नों से मुठभेड़ करने की क्षमता तो होनी ही चाहिए अपने को पहचान पाने की प्रज्ञा भी चाहिये। अपने समय से आक्रांत होकर हम ऐसा साहित्य नहीं रच सकते जो तात्कालिकता को भेद सके, उसके लिए समय का विकल्प खोजना होगा और उस क्षण में उतरने का संयोग भी; जिसमें हमारा पाठक, हमारा दर्शक प्रतीक्षातुर है। वह स्वयं में नहीं है-सूचना संजाल ने, बाजार ने, आवश्यकताओं ने और जागतिक विडंबनाओं ने उसकी चेतना को संक्रमित कर दिया है-

इस विचित्रता और भयावहता को उसकी संपूर्णता में जाने बिना तथा उसे अपने 'आत्म' के अँधेरों में देखे बिना कदाचित ऐसा साहित्य संभव नहीं जो समय के समानांतर एक पक्ष बन सके। वस्तुतः साहित्य का सबसे महत्वपूर्ण पक्ष मनुष्य की अवरुद्ध चेतना को प्रवाहित करने का है जो कुंद पड़ी रहती है, उसका सोता सूख जाता है, अपने समय की झंझा और चुनौतियों से टकराकर मानो मनुष्य ही निस्पंद हो पड़ता है। साहित्य और महत्वपूर्ण साहित्य मनुष्य की कुंद चेतना को जीवन देता है और वह नए वेग से विगत-आगत की चुनौतियों से निकलकर एक बार पुनः जी उठता है। यह शक्ति उस साहित्य की निर्मिति में है जो जब-जब पढ़ा जाता है तब-तब नये जीवन का संचार करता है। यह दिलचस्प है कि अपने में पूर्णतया मुक्त होते हुए भी वह हर देश काल, पीढ़ी और व्यक्तियों के लिए अलग-अलग रूपों में खुलता और अर्थ देता है। आज सबसे बड़ी आवश्यकता तात्कालिकता से आक्रांत समय में ऐसे ही साहित्य की सर्जना है जिसमें प्रचलन की कीमियागिरी न होकर अपने आत्म में रचना की इयत्ता को समझने की सामर्थ्य हो। यह विडंबना ही है कि समकालीन साहित्य में सत्य, विचार, अर्थ और प्रतीति की ऐसी साधना क्षीण हुई है तथा जीवन को तात्कालिक परिणतियों से बाहर देख पाने की अंतर्यामिता कुंद-सी हो गई है। यह एक बड़े संकट का सूचक है। साहित्य को अगर हम राजनीति का विकल्प बना देंगे तो ऐसी ही स्थितियां पैदा होंगी। इसमें सृजन प्रतिबद्धता के आवरण में अपनी अर्थवत्ता गवांएगा तो कथित प्रतिबद्ध आलोचना अपने निहित दायित्वों से भटक कर ऐसे साहित्य को प्रतिष्ठित करने की विफल कोशिश में लगी रहेगी। कहने की आवश्यकता नहीं है कि आज सृजन और आलोचना, दोनों में तात्कालिकता का वर्चस्व है और साहित्य को खबर बना देने की आकुलता का बोल-बाला है। ऐसे में साहित्य के समस्त कार्य-व्यापार को, उसकी आलोचना के साथ संदिग्ध दृष्टियों से देखा जा रहा हो तो इसमें अचरज की क्या बात है!

इस बदले परिप्रेक्ष्य में जहां साहित्य को नए सिरे से परिभाषित होने की जरूरत है, वहीं आलोचना को अपने सार्वजनिक विमर्श में उतरने की अनिवार्यता है। उसका काम अब केवल रचना के गुण-दोष तक सीमित नहीं है और न ही किसी भी तरह से रचना को प्रतिष्ठित करने की लाचारी है, बल्कि इससे बहुत आगे बढ़कर उसे जनता के स्वप्न का परीक्षण कर, उसकी आत्म-निर्वासित चेतना को थाह कर एक ऐसे रचना-समय की संभावना निर्मित करनी है जिसमें साहित्य प्रचलन

की जगह समर्पण और उससे भी आगे आत्मदान में बदल सके। साहित्य व्यवसाय नहीं है, वह ख्याति और महानता पाने का माध्यम भी नहीं है-ठीक इसी तरह वह कोई हथियार भी नहीं है जिससे रातोंरात व्यवस्थाएं बदल जाएं और हम अपने अपने नरक को स्वर्ग में बदल दें। सच यह है कि सर्जन अपनी समाधि में होना है-अपने जीवन की बीहड़ यात्राओं से गुजरते हुए, अपने आत्म के अँधेरे से लड़ते हुए प्रकाश की एक सतत् खोज की प्रक्रिया; जिसमें अपने प्रति, समाज के प्रति और अपने समय के प्रति नैतिक होना अपरिहार्य है। अपने जिए और लिखे शब्द को अपने विवेक में पाना और उसमें बार-बार प्रतिकृत होना ही साहित्य का सत्य है। कहना न होगा कि यही वह सत्य है जो एक लेखक को अकेला होने से बचाता है और पाठक को स्वप्न और आकांक्षा का आलोक दे पाता है। अगर समाज बदलता है, दुनिया बदलती है तो बदलाव इसी से होता है; क्योंकि यह बदलाव सबसे पहले मनुष्य में होता है। याद रहे कि हम मनुष्य को अकेला कर, उसकी क्षुद्र वासनाओं को उत्तेजित कर और उसे तात्कालिक प्रतिरोध की अग्नि में झुलसा कर परिवर्तन का भ्रम भले पाल लें, यथार्थ में वह स्वप्न ही रहेगा। साहित्य का पक्ष किसी भी समय में, यही हो सकता है, यही रहा है-अगर वह अपने दायित्व के प्रति सचेत और सचेष्ट है। आलोचना का काम उसे अपने दायित्व की याद दिलाना और एक जागरूक प्रतिपक्ष की भूमिका निभाना है जिसमें वैचारिक दृढ़ता और नीर-क्षीर दृष्टि उसका सम्बल बनती है।

अपने आलेख का समापन हम काफ्का के इस वाक्य से करना चाहेंगे, जिसमें वे कहते हैं- 'कला वह कुल्हाड़ी है जो हमारे भीतर की जमी हुई बर्फ की झील को तोड़ती है। यह बर्फ की झील, जो हम अपने भीतर लिए चलते हैं... इसमें एक सम्पूर्ण मनुष्य को लग सकता है कि मैं कितना अधूरा था और अधूरेपन का यह अहसास उसे संपूर्णता की ओर बढ़ाता है।'

हमारे जानते-समझते साहित्य का यही पक्ष श्रेयष्कर है जो हमारी क्षुद्र वासनाओं के साथ-साथ हमारे समय की विरूपताओं के विरुद्ध हमें तनकर खड़े होने की ताकत देता है।

●

स्त्री-प्रश्न : सरोकार एवं चुनौतियां

शशिकला त्रिपाठी

किसी लड़की का यह चयन नहीं होता कि उसे पुत्री रूप में पैदा किया जाए और न ही किसी स्त्री का यह चयन होता है कि वह बेटी की मां बने, फिर भी दोनों पारिवारिक उपेक्षा और अवमानना की पात्र होती हैं। उन्हें उस कार्य के लिए दंडित किया जाता है जो उन्होंने किया ही नहीं। क्यों? यह प्रश्न, ऐतिहासिक, सामाजिक विश्लेषण की मांग करता है जो विभिन्न आयामों या व्यवस्था के इरादों में उलझा हुआ है। नारीवादी मुद्दे/स्त्री-प्रश्न, समकालीन समाज के लिए भी चुनौती स्वरूप है। स्त्री-संघर्ष की दो-ढाई सौ वर्षों की यात्रा की फलप्रद परिणति है स्त्री-चिंतन को अकादमिक स्वरूप की प्राप्ति, जिसके नजरिए से समाज के विभिन्न अनुशासनों, सिद्धांतों या विचारों की पुनर्व्याख्या होने लगी। सच है, विचार दृष्टि देता है और दृष्टि से परिदृश्य बदल जाता है। मध्यकालीन रेनेसां और भक्ति आंदोलन के समय भी स्त्री-मुक्ति की गूंज और अनुगूंज सुनी जाती है। क्रिस्टीन द पिसां की पुस्तक 'बुक ऑफ द सिटी ऑफ लेडीज' (1405) का उल्लेख इसी प्रसंग में किया जाता है। अपनी धरती पर मीराबाई, अक्क महादेवी, आंडाल या ललद्यद की कविताओं में व्यक्त प्रतिरोध और मुक्ति का स्वर चमत्कृत करता है। परंतु तब, मुक्ति-प्रसंग का केंद्रीय विषय 'भक्ति' था और उसके आवरण में ही दबे-कुचले लोग स्वतंत्र रूप से सांस लेने की हिम्मत जुटा पाए।

'स्त्रीत्व' की आधुनिक अवधारणा की निर्मिति फ्रांसीसी क्रांति और यूरोपीय ज्ञानोदय के विचार-स्फोट से होती है। बदलाव की लहरें उठने से जनसमूह में वैज्ञानिकता और तार्किकता की दृष्टि का समावेश होता है। विभेदपरक नीतियों के प्रति विरोध दर्ज करते हुए व्यवस्था-उन्मूलन के लिए तत्परता दिखाई देने लगी। तब, उन सभी संस्थानों का पुनर्मूल्यांकन शुरू हुआ जो स्त्री को अन्या, पराधीन, द्वितीय कोटि की प्राणी, कमजोर और बुद्धिहीन घोषित करती रहीं। जागरूक स्त्रियां और सुधारवादी पुरुष न्याय के लिए स्वतंत्रता और हक की मांग किए। उनकी सक्रियता से नारीवाद की विभिन्न शक्लें सामने आती हैं। जैसे, नारीवादी दर्शन, नारीवादी इतिहास लेखन, नारीवाद और अर्थशास्त्र, नारीवादी फिल्म सिद्धांत, दलित नारीवाद, अश्वेत नारीवाद और पर्यावरणीय नारीवाद।[1] इस प्रकार, स्त्रियां जागरूक हुईं, 'सशक्त हुईं' और संघर्षशील भी; फिर भी 'व्यक्ति' और 'सहअस्तित्व' की अवधारणा के ईद-गिर्द ही चक्कर काट रही हैं। उन्हें देह की जद में ही बनाए रखने की दुष्ट कोशिश होती रही है। परिणामस्वरूप, स्त्री-प्रश्न, यक्ष-प्रश्न बना हुआ है जिन पर बिंदुवार विश्लेषण

अपेक्षित है।

लैंगिक-विषमता का पहला दुर्ग पितृसत्तात्मक व्यवस्था है। जैविक-भिन्नता की दुहाई देकर स्त्री को कमजोर और रक्षणीया बताया गया। यहां, पुरुष का प्रतिपल प्रयास रहा कि स्त्री पर उसका नियंत्रण बना रहे। सत्ता के सभी संस्थानों-परिवार, समाज, धर्म, संस्कृति और कलात्मक बोध में भी पुरुष वर्चस्वता का निदर्शन होता है। पितृसत्ता की जड़ें गहरे तक धंसी हुई हैं। इस व्यवस्था में स्त्री का इस्तेमाल अनेक रूपों में हुआ। पुरुष ने उसे अपने ज्ञान की वस्तु बनाया, उसे साधन के रूप में प्रयुक्त किया, उसके नाम, रूप जाति, गोत्र को अपने संदर्भ में परिभाषित किया।[2] फिलहाल, पितृसत्ता की अवनति की दूर-दूर तक संभावना नहीं दिखती। इसलिए, इसके समकक्ष होने की संघर्षशीलता स्त्रियों की रही है। भले ही, पुरुष को बलिष्ठ, ओजस्वी और सक्रिय कहा गया हो। पश्चिमी देशों में पितृसत्ता के अस्वीकार के निमित्त ही पुरुष-बहिष्कार, और पुरुष- तिरस्कार किया गया। स्वयं पुरुषोचित आचरण करती हुई स्त्रियां सफलता का सेहरा भी बांधने लगीं। उनकी यह अतिवादी सोच, समाज का पूर्णसत्य नहीं हो सकती थी और न हुई। इस मुद्दे पर महादेवी वर्मा का विचार अधिक सहज, सुसंगत, संतुलित और ग्राह्य मालूम होता है- 'जैविक भिन्नता के कारण स्त्री-पुरुष में कोई हीन या उच्च नहीं है। उनकी पारस्परिकता में ही समाज को गति मिल सकती है। जैसे काष्ठ के छोटे-छोटे टुकड़ों के मेल से ही चतुष्कोण या वृत्त बन सकता है, बराबर के टुकड़ों से नहीं।[3]

काल और परिस्थिति के अनुसार पितृसत्ता के नए-नए रूप उभरे हैं जिनकी पहचान आवश्यक है, जिन्हें भ्रमवश हितकर समझ लिया जाता है। इस पितृसत्ता की केंद्रीय धुरी 'परिवार' है, जहां स्त्री की स्थिति गुलामी की मानी जाती है। पराधीनता से मुक्ति के लिए मार्क्सवादी नारीवादियों ने स्त्री को आत्मनिर्भर बनाने के प्रयत्न में उसे समाज के उत्पादन कार्यों से संबद्ध किया लेकिन, सुधार की स्थिति वहां भी नदारद। विश्व बाजार में उसके श्रम की बदौलत पूंजीपति मुनाफा कमाते हैं किंतु, स्त्रियों के हाथ में चंद रुपये ही आते हैं। वर्तमान स्थिति में उत्पादों का संबंध स्थानीय और भूमंडलीय पूंजी से एक साथ होता है। इस नई अर्थव्यवस्था में स्त्री-श्रम की आवश्यकता तो बढ़ी है मगर, उसके प्रति न्यायपरक दृष्टि का प्रायः अभाव होता है। विकसित देश ब्रिटेन तक में लिंग भेद की दीवार अभेद्य बनी हुई है। प्रतिष्ठित समाचार पत्र 'द सन' के अनुसार समान उद्योग और समान भूमिका में कार्यरत स्त्री को पुरुष की तनख्वाह से एक तिहाई कम वेतन मिलता है। यह वैतनिक विषमता लंदन में भी है। यह रपट ऑनलाइन डाटाबेस वेबसाइट की है। इस तरह, सस्ते श्रम के संसाधन के तौर पर ही उन्हें उत्पादन की छोटी-छोटी ईकाई से संबद्ध किया जाता है। अतः श्रम के संदर्भ में सैद्धांतिक स्पष्टता और नारीवादी दृष्टिकोण की अलग से जरूरत है।[4] उन्हें, गैर तकनीकी कार्यों में लगाया जाता है जबकि, कार्य नए-नए तकनीकों के माध्यम से किए जा रहे हैं। स्त्री के पास न तो समय है और न पूंजीपतियों के भीतर उनके प्रति उदारता। जबकि समय के साथ चलने के लिए तकनीकी-प्रशिक्षण की व्यवस्था आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य भी है। स्त्री, गृहकार्यों और समाजकार्य के बीच में संतुलन स्थापित करने के प्रयत्न में स्वतः उलझी हुई, तनावग्रस्त होती है। मजदूर स्त्रियों के श्रम का दोहन पितृसत्ता की दुःखद सच्चाई है। उनका उचित मूल्यांकन नहीं होता। जिन कार्यों-रसोई व सिलाई बुनाई के लिए स्त्रियों को घर में सुशोभित किया जाता था, उन कार्यों

को भी पुरुषों ने अपने कब्जे में कर लिया है। फिर यह प्रश्न मुनासिब है कि इन्हें स्त्रियोचित कार्य क्यों कहा गया? घर में स्त्री-पुरुष दोनों मिलजुलकर इन्हें क्यों नहीं संपादित करते?

भूमंडलीकरण की प्रक्रिया में बाजारवाद ने देह-मुक्ति के सवाल को उलझाया है। नारी आंदोलन की पितामही मेरी वोलस्टमक्राट ने अठारहवीं सदी में ही दैहिक सुंदरता के प्रत्यय को छलावा कहा और स्त्रियों की बौद्धिकता को रेखांकित किया। किंतु इक्कीसवीं सदी की स्त्रियां भी मायामृग बनी हुई सौंदर्य-प्रतिस्पर्धा में घंटों समय काटती हैं। वे, पुरुष मानसिकता के अनुकूलन से मुक्त न हो सकीं। मीडिया पर उत्पाद के विज्ञापनों के जरिए देह को केंद्रीयता दी जा रही है। सौंदर्य प्रतियोगिताओं के माध्यम से उन्हें सौंदर्य-उद्योग में सम्मिलित कर उनमें उत्कट आकर्षण देह सौंदर्य के लिए पैदा किया है। इस तरह विगत के मुकाबले स्त्रियों को अधिक दोहन योग्य समझा गया।[5] पितृसत्ता के नए रूप नारीवादी आंदोलनों के गुब्बारे को फुस्स करते हुए स्त्री को देह/भोग्या/मादा बनाए रखना चाहते हैं और स्त्री, सौंदर्य- प्रतिमानों का स्पर्श करने के लिए असंभव कोशिशों में लगी है।

स्त्री, सौंदर्य को अपनी ताकत समझने लगी है। उसे, सुंदरता के प्रभाव का पहले से ही बोध है। अजब है, स्त्री का सौंदर्य-प्रतिमान पुरुषों द्वारा गढ़ा गया और कवियों ने नख-शिख वर्णन में जी-जान लगा दी लेकिन तब, सौंदर्य प्राकृतिक था। नई सभ्यता का जो नया सौंदर्यशास्त्र गढ़ा गया, वह तो स्त्री के लिए खतरनाक है। नोआमी वुल्फ ने अपनी पुस्तक 'द ब्यूटी मिथ' में औद्योगिक-सभ्यता के सौंदर्यशास्त्र की ही विवेचना की है। उनके मतानुसार, स्त्री ने देह को प्रयोगशाला बना लिया है। सौंदर्य-उद्योगों से संबद्ध स्त्री सुंदर आकार पाने के लिए ऑपरेशन थिएटर तक पहुंचने में नहीं हिचकती। उसे अपनी प्राकृतिक देह पर लज्जा आती है। दरअसल, 'सौंदर्य ही स्त्री का सबसे विश्वसनीय पासपोर्ट है। वह सौंदर्य नहीं, जिसकी कालिदास और दांते ने चर्चा की है। वह सौंदर्य जो औद्योगिक सभ्यता की लेबोरेटरी में ढलकर निकला है। स्त्रियां कितनी ही सामाजिक और राजनीतिक ताकत हासिल कर लें उन्हें स्त्री होने की कीमत चुकानी पड़ेगी। जब तक, वे अपनी शर्तों पर जीना नहीं सीखती।[6] पूंजीवाद और बाजारवाद से पितृसत्ता ने गठबंधन कर लिया है जिससे समाज से नैतिकता गायब हुई है। स्त्री भी नैतिकता की डोर छोड़ती हुई प्रतीत होती है। पितृसत्ता के नए प्रतिरूपों के समक्ष स्त्री -छवि बहुआयामी हुई है। वह शासन, प्रशासन, सेना, अंतरिक्ष तक में अपनी योग्यता सिद्ध कर अग्रणी है। दूसरी तरफ उसके नकारात्मक चरित्र भी प्रकट हो रहे हैं। वह पुरुष की भांति भ्रष्टाचार, हिंसा, आतंकवाद, नक्सलवाद जैसी गतिविधियों में भी सक्रिय है। तथाकथित प्रगतिशीलता शराब और सिगरेट में दिखाई जाती है। बराबरी का मतलब यह तो नहीं था कि पुरुष-अवगुण भी आत्मसात कर लिया जाए। वह अभी भी पितृसत्ता के इर्द-गिर्द घूम रही है। ऐसे में, स्त्रीत्व की अवधारणा ही सवालिया निशान के घेरे में है। स्त्री के विविध चेहरों में असली चेहरा क्या है , यह पहचानना आवश्यक है।

'परिवार' पितृसत्ता का प्रमुख स्तंभ है जो विवाह-संस्था के द्वारा विकसित होता है। इतरलिंगी यौनिकता को यहां नैतिक और कानूनी अधिकार मिलता है। पुरुष, स्त्री को अपनी संपत्ति समझते हुए उसकी यौनिकता और प्रजनन क्षमता पर पूर्णतया नियंत्रण रखना चाहता है ताकि उसे सत्ता-हस्तांतरण में यह विश्वास बना रहे कि उसका उत्तराधिकारी अपना वंशज है। धर्म, संस्कृति, पुराण-गाथाओं आदि के माध्यम से यहां स्त्री को यौनशुचिता और कर्त्तव्यपरायणता के प्रति आग्रही

बनाया गया। यहीं से स्त्री को पुरुष के आधीन बनाने की भी शुरुआत होती है। जॉन स्टुअर्ट मिल ने इसीलिए विवाह-संस्था को 'पराधीनता और गुलामी' का अधिकृत संस्थान घोषित किया। सिमोन द बोवुआर स्वयं विवाह न कर, विरोध दर्ज कराती कहती हैं- 'मेरे पास स्त्री का शरीर है फिर भी मै खुशकिस्मत हूं। मैं ऐसी चीजों से मुक्त रही जो औरत को गुलाम बनाते हैं। जैसे पत्नी और मातृत्व की परंपरागत भूमिकाएं।' विवाह-संस्था नारीवादियों की दृष्टि में उत्पीड़क रूप में है। इसलिए उन्हें प्रजनन, गर्भधारण, गर्भपात आदि कोख संबंधी मामलों में स्वनिर्णय के लिए संघर्ष करना पड़ा।

'मातृत्व' स्त्री का प्राकृतिक उपहार है। विवाह संस्था के अंतर्गत इसे कानूनी और सामाजिक अधिकार भी मिल जाता है। परंतु, यह पूर्ण सत्य है कि मातृत्व स्त्री- अस्मिता को प्रभावित करता है। विवाह- संस्था के भीतर और बाहर दोनों ही स्थितियों में संतान के लिए स्त्री को अपने को स्थगित करना पड़ता है। अगर, औरत समझौतापरस्त है और उसे पति-पुरुष से असहनीय स्तर पर मतभेद नहीं है तब तो ठीक, अन्यथा यह प्रश्न धारदार हो जाता है कि वह पति-पुरुष का वर्चस्व क्यों सहन करे? तब अधिक ज्यादा, जब वह शिक्षित और आत्मनिर्भर हो। अपमानित और उत्पीड़ित होने के बनिस्वत वह अलगाव का रास्ता श्रेयस्कर समझती है। किंतु, यह निर्णय मातृत्व को उपेक्षित करता है जिससे नई समस्या का जन्म होता है। बच्चे की परवरिश में माता-पिता दोनों की ही उपस्थिति आवश्यक होती है लेकिन, अलगाव में संतान जीवन भर के लिए भावनात्मक और सामाजिक रूप से असुरक्षित हो जाता है।

विवाह और तलाक का मामला आधुनिक जीवन-मूल्य का एक गंभीर मुद्दा है। कुछ विकृतियों को लक्ष्य कर अतिवादी नारीवादियों ने विवाह का ही निषेध किया और कुछ ने 'असहनीयता' की स्थिति में तलाक को आवश्यक बताया। इस प्रकरण में मार्क्स-चिंतन का विश्लेषण समीचीन होगा। मार्क्स पूंजीवादी और सामंती-व्यवस्था-उन्मूलन के पक्षधर थे और पूंजीवाद का संबंध पितृसत्तात्मक व्यवस्था से गहनतम रूप में जुड़ा होता है। इसलिए, तलाक के पैरोकार उनके चिंतन की व्याख्या अपने समर्थन में करते हैं। जबकि, तलाक मसले पर मार्क्स की नैतिकता वरेण्य है। उनके अनुसार, विवाह एक नैतिक इकाई है। वह सिर्फ दो व्यक्तियों की साझेदारी नहीं, परिवार, भावी पीढ़ी, सम्पत्ति (चल-अचल) का भी मसला है। इसलिए तलाक एक व्यक्ति की अहंकारिता पर आधारित नहीं होना चाहिए। वरन् इसके लिए कानून सुनिश्चित होना चाहिए।[5] संभव है, विवाह का निषेध या तलाक की पक्षधरता समाज के दस प्रतिशत लोगों का व्यक्ति-सत्य हो मगर,, यह सार्वदेशिक और सार्वजनीन यथार्थ नहीं है। विकसित देशों में भी विवाह-संस्था आदर्शपरक स्थिति में है। सिंगल पैरेंट की कठिनाइयां और 'लिव इन रिलेशनशिप' का प्रयोग तब हास्यास्पद लगता है जब सामाजिक परिचय के लिए वैवाहिक रिश्तों को रेखांकित जाता है। प्रेम का वैयक्तिक संदर्भ भी परिणति में सामाजिक चौखटे की मांग करता है। प्रभा खेतान के उपन्यास 'पीली आंधी' में इस विडंबना की ओर संकेत है। पति-पत्नी के अहंकार की टक्कर का खामियाजा भुगतता है उपन्यास 'आपका बंटी' (मन्नू भंडारी) का बंटी। स्त्री के प्रतिक्रियावादी होने पर बच्चे का व्यक्तित्व-विघटन तय है। फिर, व्यक्तिवादिता और स्वतंत्रता की अहमियत क्या है? क्या बच्चे के व्यक्तित्व -विकास के लिए/सुदृढ़ भविष्य के लिए उसे आत्मबलिदानी होना अनिवार्य है? स्त्री-जीवन की अहमियत की कला क्या हो? अधुनातन समाज में उच्चतम न्यायालय के द्वारा अविवाहित मातृत्व को भी कानूनी मान्यता प्राप्त हो गई है। उसे

अपने बच्चे की परवरिश का अधिकार है और उसके द्वारा बच्चे का उससे परवरिश पाना जन्मसिद्ध अधिकार। इस नई स्थिति में स्त्री की जिम्मेदारी बढ़ी है और पुरुष पारंपरिक जिम्मेदारियों से भी मुक्त हो रहा है। इस प्रकार यौनमुक्ति की अवधारणा पुरुषों के लिए अधिक फायदेमंद साबित हो रही है।

क्या, स्त्री-पुरुष के मध्य समकक्षता या समाज के नजरिए में स्त्री-पुरुष समकक्ष हो सकते हैं? भारत के सभी भूभागों में प्रजनन की प्रक्रिया को 'बीज' और 'धरती' के रूपक के माध्यम से व्याख्यायित किया जाता है। पुरुष के वीर्य रूपी बीज के माध्यम से स्त्री के खेत में अंकुरण होता है। ऐसा संदर्भ वेद, उपनिषद महाभारत जैसे ग्रंथों में मिलता है। बीज (सत्व) को महत्व देते हुए बच्चे की पहचान पिता के कुल से होती है।[7] यह मान्यता ही पुरुष को वरीयता देती है। अमेरिकी मार्क्सवादी लेखिका शुलामिथ फायरस्टोन स्त्री को प्राकृतिक रूप से ही बंधनयुक्त मानती हैं फिर, उसकी बराबरी का मांग ही असंगत है। वे कहती हैं, स्त्री गर्भधारण करती नौ महीने तक उसका भार ढोएगी और जन्म के बाद स्तनपान कराएगी मगर पुरुष आजाद रहेगा।[8] शारीरिक भिन्नता के कारण मानसिक भिन्नता भी नैसर्गिक है।

प्रायः स्त्री 'परिवार' को लेकर कॅरिअर साधने और अग्रशील होने का यत्न करती है किंतु, संतुलन डगमगा जाता है। परिवार के टूटने बिखरने की त्रासदी भी घटित हो रही है। तलाक का एक कारण पति का यह आरोप होता है कि पत्नी उसे समय नहीं देती और यही शिकायत बच्चे की भी होती है कि वह उपेक्षित महसूस करता है। स्त्री, दस भुजाएं करने के प्रयत्न में स्वयं रीतेपन का शिकार होती है। पितृसत्ता उसे 'सशक्त' बनाना चाहता तो है, परंतु उतना ही, जितने पर नियंत्रण उसका बना रहे। सामंतवादी मानसिकता के संवाहक धर्म, संस्कृति की जड़े समाज में इतनी गहराई तक फैली हुई है कि स्वावलंबी स्त्री भी विवाह- संस्था में बँधते ही सहर्ष रूढ़ियों को अपना लेती है क्योंकि तर्कसम्मत बातें धर्मविरोधी कहलाती हैं। विश्व में जितन भी धर्म हैं- हिंदू, ईसाई, कैथोलिक, इस्लाम सभी स्त्री के प्रति क्रूर और बेरहम हैं।

देह- मुक्ति का तात्पर्य क्या है? यही न कि अपनी स्वेच्छा से दैहिक-व्यवहार किया जाय। पितृसत्ता के नए रूप में शिक्षा संस्थान, कारपोरेट जगत, फिल्म या विज्ञापन उद्योग में स्त्रियों का एक ऐसा वर्ग पैदा हुआ है जिनके लिए वर्जनाओं की कोई श्रृंखला नहीं है। उपभोक्तावादी मानसिकता से उत्प्रेरित होती वह पद, पैसा के लिए बेलगाम बढ़ना चाहती है। निश्चित ही, यह मायाजाल पितृसत्ता का फैलाया हुआ है। उसका ही संकेत है- 'नाच मेरी बुलबुल, तुझे पैसा मिलेगा।' कारपोरेट जगत में प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से उत्पीड़न की वह शिकार होती है। स्त्री-मुक्ति के दावे मंचों से किए तो जाते हैं परंतु, सत्य कुछ और होता है। मीडिया, स्त्री-उत्पीड़न के समाचारों से रोज-रोज हमें व्यथित करती है। इस मामले में प्रायः स्त्रियां चुप्पी साध लेती हैं जबकि पूरे विश्व में मंच, पुस्तक, आयोग और सामाजिक संगठनों के माध्यम से स्त्री जागरूक हुई है। उसे अपने कर्त्तव्य और अधिकार का बोध हुआ है। उसे यह भी बोध हो चुका है कि संघर्ष किए बगैर रास्ते नहीं मिलेंगे, वह संघर्षशील भी है जोखिम उठाते हुए।

स्वालंबन या आत्मनिर्भरता स्त्री के लिए वह औजार है जिसके जरिए वह पुरुष की अधीनता को नकारती है। इस अस्त्र के बिना वह कोई लड़ाई नहीं लड़ सकती। सिमोन द बोवुआर हों या महादेवी वर्मा दोनों ने स्त्री की अस्मिता के लिए आर्थिक स्वातंत्र्य पर बल दिया है। इस पक्ष को

मजबूती से उठाया सबसे पहले मार्क्सवादियों ने। नारी-मुक्ति के प्रश्न को उन्होंने सामाजिक उत्पादन से जोड़ते हुए ही यह कहा कि गृहकार्यों से अलग होकर ही स्त्री अपनी पहचान बना सकती है और अर्थोपार्जन कर स्वनिर्भर होगी। महादेवी जिरह करती हैं कि यदि किसान की स्त्री घर में परिश्रम करके खेती के अनेक कामों में पति का हाथ बंटा सकती है, या साधारण श्रेणी के श्रमजीवियों की स्त्रियां घर-बाहर के कार्यों में सामंजस्य स्थापित कर सकती हैं तो हमारे यहां अन्य स्त्रियां भी अपनी शक्ति, इच्छा और अवकाश के अनुसार घर से बाहर कुछ करने के लिए स्वतंत्र हैं।[10] लेखिका का इशारा मध्यवर्गीय स्त्रियों की ओर है जो परंपराओं की शृंखला में अधिक बंधी होती है।

कामकाजी स्त्री/स्वावलम्बी स्त्री भी क्या स्वतंत्र है? यह प्रश्न वर्तमान परिदृश्य में अधिक धारदार हुआ है। आधी आबादी की आधी संख्या तो निस्संदेह आत्मनिर्भर हुई है। विवाह के लिए वही युवती श्रेयस्कर मानी जाती है जो कामकाजी हो। अब स्त्री की योग्यता का पैमाना उसकी शिक्षा और आर्थिकता है। कार्यरत/पहचान-संपन्न मां से बच्चे भी अपने दोस्तों के बीच गौरवान्वित होते हैं और पति समकक्षों के बीच ईर्ष्या के पात्र। किंतु, स्त्री का यथार्थ-सत्य यह कि वह आजाद नहीं हैं? अपने धन का उपयोग भी वह मनमाने ढंग से नहीं कर पाती। वहां, वह निगाहों के निशानों पर होती है। उसे कब्जे में बनाए रखने की दुरभिसंधियां रची जाती हैं।[11] स्त्री-मुक्ति के लिए आर्थिक-स्वतंत्रता को प्रमुख कारक रेखांकित किया गया तो भी वह न पूर्णतया स्वतंत्र है और न ही सुरक्षित। उस पर दोहरे दायित्व का भार डाल दिया गया है। इसलिए आधुनिक स्त्री-चिंतक मार्क्सवाद की इस स्थापना से असहमति व्यक्त करती हैं कि आर्थिक-कारक स्त्री-पुरुष विषमता का एकमात्र कारण है।

स्त्री-प्रश्न का एक पहलू 'मताधिकार' रहा है। 'स्त्री चरित्र देवं न जानम' कहने वाले पुरुष स्त्री को न समझते थे और न समझना चाहते थे अतः स्त्रियों के द्वारा राजनीतिक भागीदारी के लिए/नागरिक अधिकार के लिए संगठित संघर्ष हुए। पुरुषों के लिए यह सहजग्राहय नहीं था कि स्त्री गृहकार्य और मातृत्व के बंधनों से छुटकर सत्ता संचालन में शिरकत करे। अतएव, योरोपीय स्त्रियों को मताधिकार के लिए एक सौ वर्ष तक इंतजार करना पड़ा। फ्रांस, बेल्जियम, इटली, स्विटजरलैंड, पुर्तगाल और स्पेन जैसे देशों की स्त्रियों को मताधिकार का अवसर द्वितीय विश्व युद्ध के बाद मिला। भारतीय परिवेश में स्त्रियों की सक्रियता औपनिवेशिक काल के विरोध अभियान में ही अधिक जनसंख्या में रही और उन्हें राजनीतिक अधिकार भी मिले। स्त्रियां, उच्चतम पदों पर विराजमान हुईं किंतु अल्प संख्या में। उनकी समस्याओं का निराकरण हो सके, इसके लिए आरक्षण का मामला भी उठाया गया कि 33 प्रतिशत भागीदारी स्त्रियों की संसद और राज्यसभा में सुनिश्चित हो। किंतु, सदन में जब भी यह मसला प्रस्तुत किया जाता है क्रियान्वयन के लिए, वर्चस्व की राजनीति के कारण विरोध के रोड़े बरसाए जाने लगते हैं और मामला जस का तस अटक जाता है। राजनीतिक शक्ति संपन्न स्त्रियों के प्रति भी शक की सूई घूमती रहती है ताकि, उनके दामन पर दाग लगाया जा सके। राजनीति के आकाओं की मंशा संदेहास्पद है। अगर, राजनीति किसी भी देश का प्रधान स्वर है तो उसमें आधी आबादी की आवाज होनी ही चाहिए।

लैंगिक-विषमता की अवधारणा से कानून भी अप्रभावित नहीं रहा। न्यायमंत्री के रूप में डॉ. भीमराव अंबेडकर ने हिंदू कोड बिल तैयार किए जिसमें बहुविवाह पर रोक, तलाक का सिद्धांत और बेटियों को संपत्ति का बराबर का उत्तराधिकारी सुनिश्चित करने जैसे मामलों पर विचार किया गया।

किंतु, इन न्यायपरक मांगों के विरुद्ध लोग इतने उत्तेजित हुए कि अंबेडकर को इस्तीफा देना पड़ा था। समकालीन स्थितियों में स्त्री को कानूनी अधिकार देने और उत्पीड़न रोकने के निमित्त दिनोंदिन भारतीय कानून में संशोधन किए जा रहे हैं। सती प्रथा, दहेज हत्या, बलात्कार, संपत्ति में हक, घरेलू हिंसा, वेश्यावृत्ति संबंधी अधिनियम, लिंग निर्धारण विरोधी अधिनियम आदि पर न्यायालय गंभीर है। लेकिन, कानून और आचरण में जबर्दस्त अंतराल है। सख्त से सख्त कानून बनाए जाते हैं और अपराध उसकी प्रतिक्रिया में चौगुने रूप में बढ़ता है। वैसे, स्त्री अधिकार संबंधी कानून को दो श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है- एक परंपरागत मूल्य- व्यवस्था में पुरुष की भांति स्त्री को अधिकार दिलाने की कोशिश, जैसे विवाह अधिनियम, उत्तराधिकार अधिनियम, हिंदू दत्तक भरण-पोषण अधिनियम आदि। दूसरे स्तर के वे कानून हैं जो सामाजिक विकृतियों या उपभोक्तावादी मनोवृत्तिजन्य अपराधों पर नियंत्रण रखने के लिए बनाए गए हैं- जैसे, अश्लीलता विरोधी अधिनियम, यौन-हिंसा, बलात्कार, हत्या आदि। इक्कीसवीं सदी के डेढ़ दशक तक में बने कानून स्त्री के लिए ऐसा कवच नहीं बन पाए हैं जिनसे वह चुनौतियों का सामना करते हुए विजय हासिल कर सके। अतः स्त्री प्रश्न यह कि कानूनों का परिपालन समुचित ढंग से कैसे हो, जो प्रभावी हो। फिलहाल, कानून के भरोसे निश्चिंत होने की स्थिति तो अभी नहीं हैं। धर्मगत नीतियों के विरुद्ध समान नागरिक संहिता का प्रश्न भी महत्वपूर्ण है। लोक की मानसिकता के बदलाव के लिए कारगर उपाय क्या हो, यह प्रश्न भी निरंतर बेचैनी देने वाला है। हालांकि, सरकारें स्त्री पक्ष पर गंभीर हैं। अगर, प्रेमजाल में फंसी अविवाहित माताओं को कानूनी पहचान दिया गया और उसे और उसके बच्चे को अचल संपत्ति का वारिस बनाने का नियम बना है तो स्त्री हित में उठाया गया यह एक स्वागतेय कदम है।

वर्तमान समाज में दो ऐसे ज्वलंत प्रश्न कंटीले बने हुए हैं जो स्त्री के लिए दुःखद और समाज के लिए शर्मनाक हैं। युवतियां शिक्षित और स्वावलंबी हुई हैं, मेधावी छात्राएं प्रतियोगिताओं में अग्रणी हैं फिर भी बेटी के पिता को दहेज देना पड़ रहा है और बेटे के पिता की मांग बढ़ती जा रही है। लड़की की योग्यता लड़के से अधिक ही क्यों न हो? दहेज देना-लेना समाज का स्वीकृत मूल्य बन चुका है। कानून इसे अपराध घोषित करता है इसके लिए सजा सुनिश्चित है मगर, समाज के सुरक्षित और धनाढ्य वर्ग तक इस कुप्रथा में सहज रूप से संलग्न है। गरीब भी अपनी हैसियत से ज्यादा दहेज जुटाता है। यह कुप्रवृत्ति युवती को 'अन्या' आंकने की ही दुष्प्रवृत्ति नहीं है? विडंबना यह कि लड़की भी पितृसत्तात्मक मूल्यों से अनुकूलन स्थापित करती चुप रहती है। 'भ्रूण हत्या' संभवतः दहेज का ही प्रतिफलन है। गर्भ में ही लिंग निर्धारण होते ही स्त्री शिशु को मार दिया जाना एक घिनौनी हरकत नहीं है? शिक्षित स्त्रियां इस अधर्म में कहीं ज्यादा सम्मिलित होती हैं।

समकालीन समाज, में सबसे बड़ा स्त्री-प्रश्न सुरक्षा का है। 'बलात्कार' जैसे क्रूर कृत्य के द्वारा स्त्री उत्पीड़ित हो रही है। उसकी हत्या भी बेरहमी से किया जा रहा है। ऐसी बर्बरता जिसकी भरपाई जीवंत पर्यंत नहीं हो सकती। दस वर्ष से कम उम्र की बच्चियों के साथ यौन-उत्पीड़न की घटनाएं अधिक घटित हो रही हैं जिन्हें यह भी बोध नहीं होता कि उनके साथ क्या हो रहा है और ऐसा क्यों हो रहा है? निर्भयाकांड दिसंबर 2012 की प्रतिक्रिया/जन-आक्रोश में सड़कों पर जन-सैलाब उमड़ आया था। वयस्क-अवयस्क दंड-विधान पर पुनर्विचार हुए फिर भी, ऐसी घटनाओं में कमी नहीं आई। ऐसी खबरें, निरंतर प्रकाशित हो रही हैं। स्त्री, सुरक्षित नहीं हैं कहीं भी, न घर पर, न बाहर। वह

सड़क, बस, ट्रेन हवाई जहाज में चल रही है, अंतरिक्ष तक में उड़ रही है, वह सक्रिय और जागरूक हुई है, मगर कब उसे कोई बर्बर पुरुष अपना ग्रास बनाएगा उसे नहीं पता। अल्प और उत्तेजक वस्त्रों को कारण बताया जाना दरअसल, समस्या पर पर्दा डालना है। सुरसामुखी सवाल यह कि स्त्री कब तक डरती रहेगी और कब तक पुरुष अपनी बर्बरता से उसे डराएगा? आदिवासी स्त्री, दलित स्त्री, शहरी स्त्री, सबके समक्ष भय का कुहासा छाया हुआ है। देह-मुक्ति का प्रश्न टूटे हुए शीशे की किरचों में अनेकरूपा ही हुए हैं। जन्मदात्री स्त्री के जननांग को पुरुष समाज मनका की भांति वक्त-बेवक्त जाप करता है और उसकी यौनिकता से आक्रमक और हिंसक होता रहा है। इक्कीसवीं सदी का यह कटु सत्य इस तथ्य की ओर संकेत है कि आगे बढ़ती हुई स्त्री की प्रतिभा, योग्यता और बुद्धिमत्ता से पशु-पुरुष कुंठित है।

वास्तव में, स्त्री-प्रश्न सामाजिक-न्याय का प्रश्न है। दलितों की भांति उसे भी दबाया गया। 'मनुष्य' होते हुए भी स्वतंत्रता के जन्मसिद्ध अधिकार से उसे वंचित किया गया। अतः स्त्री प्रश्न मानवाधिकार का भी प्रश्न है। यह विषय, दुनिया की समग्र औरतों को एक सूत्र में पिरोता, बहनापा का ऐसा संसार रचता है, जहां पुरुष को बदलना भी अनिवार्य सा हो गया। स्त्री के साथ ही पुरुष भी बदल रहा है। परिवर्तनकामी लहरें उसे बदलाव के लिए विवश कर रही हैं। फिर भी पुरुष कहीं गहरे तक फांस चुभा हुआ महसूस करता है और उसकी टीस से आक्रामक हो उठता है। स्त्री के समक्ष अपार संभावनाएं उभरी हैं और समस्याएं भी उसी अनुपात में बढ़ी हैं। इन चुनौतियों के बीच ही स्त्री अपनी मंजिल सुनिश्चित कर आगे बढ़ रही है। परंतु, तमाम स्त्री प्रश्न 'जस के तस' उसके सम्मुख हैं और वह 'कहां जाइ, का करी' की बेचैनी लिए हुए 'अन्या' की पीड़ा से मुक्त न हो सकी है।

संदर्भ :

1. संपादक : अभय कुमार दुबे, समाज विज्ञान कोश, भाग 3
2. प्रभा खेतान : उपनिवेश में स्त्री, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ.सं. 39
3. महादेवी वर्मा- शृंखला की कड़ियां, लोकभारती प्रकाशन
4. अभय कुमार दुबे- पितृसत्ता के नए रूप, हंस, मार्च 2001, पृ. 27
5. सरला माहेश्वरी- नारी प्रश्न, पृ.सं. 67, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली
6. राजकिशोर- स्त्रीत्व का उत्सव, पृ.सं. 106, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली
7. लीला दुबे- बीज और धरती, राजकिशोर - स्त्री की जगह पृ.सं. 50, वाणी प्रकाशन
8. शुलमिथ फायरस्टोन : द केरा फॉर फेमिनिस्ट रिवोल्यूशन
9. परमानंद श्रीवास्तव-पुरुष वर्चस्व और स्त्री मुक्ति की चुनौतियां (पुस्तकः आजाद औरत कितनी आजाद-संपादक-शैलेंद्र सागर) पृ.सं. 20
10. महादेवी वर्मा- शृंखला की कड़ियां, लोकभारती प्रकाशन
11. रजनी गुप्त, आजाद औरत कितनी आजाद, पृ.सं. 9, सामयिक प्रकाशन
12. अरुण कुमार त्रिपाठी, पुरुष कब्जे में स्त्री कानून (पुस्तक स्त्री के लिए जगह, संपा. राजकिशोर) पृ.सं. 92, वाणी प्रकाशन
13. टाइम्स ऑफ इंडिया, 14 जुलाई 2015

●

उपन्यास अंश

निर्वासन!

चंद्रकांता

कौन सी जिद कब, कैसे, किन कारणों से मन-जेहन में ऐसी जड़ पकड़ती है कि तमाम दानिशमंदी से लिए गए फैसलों पर, चाहे-अनचाहे हावी होने लगती है, यह जानना कभी किसी के लिए आसान नहीं रहा है।

भला उस दिल दिमाग से दुरुस्त आदमी की आंतरिकता में कैसे सेंध लगाई जा सकती है, जो मंजिल की तरफ कदम बढ़ाते, सीधा रास्ता छोड़ अचींही पगडंडियों पर खुद को धकेल देता है, बिना यह सोचे कि रास्ता कटियल नागफनियों से अटा, भूल भुलैया में भटका देने वाला भी हो सकता है?

आयुष की ही बात लें, कब उसके भीतर कहीं गहरे अदृश्य में, दृश्य से दूर जाने की जिद ने सिर उठाया, उसे खुद को भी तो नहीं मालूम!

वादी के हौलनाक किस्से उसने अपने मम्मी डैडी से सुने थे। उन आतंक भरे दिनों वह घर से दूर पिलानी, राजस्थान में इंजीनियरिंग की पढ़ाई कर रहा था। नाते-रिश्तेदारों ने उस दहशत भरी रात की दहलाने वाली दास्तानें सुनाई थीं, जब लाऊडस्पीकरों पर आतंकियों ने धमकी भरे ऐलान किए थे। उन्हें कुत्तों और जासूसों की प्रजातियों से जोड़ कर, वादी से दफा होने का हुकुम दिया था। साथ में अंतिम चेतावनी भी कि घर-बार छोड़ कर नहीं गए तो कुत्तों की मौत मारे जाओगे।

बीच रास्ते आंखें उघाड़े पड़ी, गली के अंधेरे मोड़ों पर, बंधें घुटनों सोई और पेड़ों से लटकी, प्रेम राग गाने वालों की क्षत-विक्षत लाशें उन हुकुमनामों के सुबूत बनकर वहां पहले से ही नमूनों के तौर पर मौजूद थीं।

कहानियां थीं कि विदाख!

जय रैना अंकल को जानते हो न? महाराजगंज में जिनकी बजाजी की दुकान थी। आतंकियों के डर के मारे धान के मटके में छिपकर बैठ गया था, वहीं गोदाम में घुसकर, बदमाशों ने उसे गोलियों से भून दिया।

सुनीता कौल को भर दोपहर उठाकर ले गए, और अगले दिन, आरी-कटी लाश दरवाजे पर छोड़ गए। वक्ष पर डेजहोर लटकाकर, कि समझदार हो तो इशारा समझ लो।

जो घर छोड़कर नहीं गया, उसका वैसा ही हश्र हुआ।

आयुष सुन कर दहल उठा था। घर-आंगन, दोस्तों-अहबाबों की तमाम खट्टी-मीठी यादें कलेजा कचोटने लगी थीं।

उस रात आयुष, जवाहर टनल से गुजरती बसों, ट्रकों को भागते देखता रहा, उन लुटे-पिटे

खौफजदा बच्चों-बूढ़ों और बदहवास औरतों को गोद में लिए, जो हड़बड़ी में हाथ आए गठरी-मुठरी चद्दर-बुगचों को सीने से चिपकाए मौत से भाग रहे थे, सांस रोके, कहीं वह उनकी आहट न सुन ले।

टनल की दरारों से यहां-वहां फूटती बर्फीले पानी की यख बौछारें, निर्वासितों की घुटी-घुटी मौन चीखों पर, भीगे कंबल डाल उदास माहौल को, गझिन बोझ तले बराबर दबोचती जा रही थी।

भीतरी रसायन में आंधियों की हू-हू लिए, आंखों से गरम सोते बहाते, सिर उठा कर जीने वाले, सिर झुकाए, पीछे छूटती वादी को अलविदा कर रहे थे।

यहीं तो उन्होंने जीने और होने के अर्थ जाने थे। यहीं तो गांधी बाबा ने कहा था, कि यहां मुझे उम्मीद की किरण नजर आती है, इसलिए कि देश विभाजन के वक्त, जब सांप्रदायिक दंगों की ज्वालामुखी में पूरा देश जल रहा था, वादी में धर्म के नाम पर एक भी हादसा नहीं हुआ था।

'उम्मीद' शब्द आयुष के जेहन में खलबली मचाता रहा। उम्मीदों के भरोसे कब तक जिया जा सकता है? आज गांधी होते तो इन घरों से बाहर खदेड़े गए निरपराध लोगों की उम्मीदों की रक्तझरी टूटन देख क्या कहते? क्या करते वहां, जहां सदियों की विरासतें लहूलुहान हो रही थीं? जहां वापस लौटने के सभी रास्ते आतंक का बादल फटने से ध्वस्त हो गए थे?

उत्तरकाशी में बादल फटने से हुए भयंकर ध्वंस की तरह, जो ढहे-अधढहे घर, उम्मीदों का मलबा और कीचड़ भरा गंधाता माहौल पीछे छोड़ गया था।

आयुष के मम्मी-डैडी उस दहशत भरी रात से कुछ ही दिन पहले जवाहर नगर के अपने घर में ताला लगाकर, बेटी अस्मी के साथ दिल्ली आ गए थे। मम्मी की लाड़ली भानजी की शादी तो एक बहाना भर था। इधर दहशतगर्द लड़कियों के पीछे हाथ धोकर पड़े थे। उन्हें रात-बेरात घरों से उठाकर 'मुताह' करने को मजबूर किया जाता था। तमाम वारदातों से घबरा कर लड़कियां घरों में कैद हो गई थीं और उनके माता-पिता दहशतगर्दों की बंदूक की नली के आगे बेबस और परेशान!

कुछ दिनों के लिए घर से निकले थे आयुष के मम्मी-डैडी, हाथ में एक अटैची और हालात ठीक होने की उम्मीद लेकर! चाबी पड़ोसी दोस्त रघुनाथ को थमा', भैया घर का ध्यान रखना, शिव शंकर तुम्हारी रक्षा करे' की याचना के साथ, जल्दी लौट आने का आश्वासन दिया था। दोस्ती का मान रखते रघुनाथ ने, चाबी लेते, हालात के दिन-ब-दिन बदतर होने का रोना रोते दुहरी याचना के साथ कहा था, 'जैसे हालात हैं, उस हिसाब से तो शिवशंकर पर ही भरोसा है भैया। बस तुम शादी निपटते ही लौट आना। क्या पता कल क्या हो...।'

भानजी की शादी हुई, पर प्रभा-सुरेंद्रनाथ अस्मी समेत दिल्ली में ही रहे। सोचा, कुछ दिनों की ही बात है, सरकार जल्दी ही हालात पर काबू पा लेंगी, तो लौट जाएंगे अपने घर।

लेकिन हालात दिन ब दिन बिगड़ते ही गए। इस बीच बसों-ट्रकों में लद कर लोग वादी छोड़, जम्मू-दिल्ली के शिविरों, अधबनी सरायों, कम्युनिटी सेंटरों में पनाह लेने को अभिशप्त हो गए। घर का क्या हुआ, रघुनाथ कहां चला गया, इसकी कोई खबर कहीं से न मिली।

अचानक सब कुछ बदल गया। पीढ़ियों से सजे-सजाए घरों में रहने वाले, बेघर, बेजमीन हो गए। अस्थायी ठिकानों में भेड़-बकरियों, रेवडों के झुंड जैसे विस्थापित परिवार जीने की मुहिम से जूझने लगे। दाता दीन-हीन भिखारियों से, लंबी पांतों में खड़े, राशन पानी का इंतजार करते थकने

लगे।

दिल्ली में विस्थापितों के जुलूस थे। मंत्रियों, प्रधानमंत्री से न्याय की अनसुनी गुहार थी, दरख्वास्तों की बेहुरमती और संवेदनहीन आश्वासन थे।

सुरेंद्रनाथ असमंजस में थे। दो कमरों के फ्लैट में बीवी बच्चों के साथ, जैसे-तैसे गुजारा करते साले साहब के साथ ज्यादा देर रहना गलत लग रहा था और दिल्ली में किराए पर रहने के लिए अच्छी-खासी रकम चाहिए थी। इधर कई महीनों से, पेंशन भी बंद थी। शुक्र है आयुष पढ़ाई पूरी कर चुका था और कैंपस सेलेक्शन में उसे कलकत्ता में नौकरी मिल गई थी।

नौकरी ज्वाइन करने से पहले आयुष घर जाना चाहता था। दोस्तों के साथ दौड़ लगा कर शंकराचार्य पर्वत का शिखर छू लेना चाहता था, झील डल में खूब छींटें उछाल-उछाल लहरों से खिलवाड़ करना चाहता था। जाने फिर कब संगरमाल की छातियों से फूटकर बह आते दूधिया झरणों का छलकता संगीत सुनने को मिले! और हर्षा भी तो वहीं थी, आयुष का पहला प्यार, जिस से मिलने की लालसा सीने में पागल धुकधुकी सी बज उठती थी।

इधर अचानक आई सुनामी सब कुछ के साथ, उम्मीदें और आकांक्षाएं भी लील चुकी थी।

आयुष भारी मन से कलकत्ता के लिए रवाना हो गया।

सुरेंद्रनाथ प्रभा और अस्मी को लेकर कुछ वक्त के लिए बड़े बेटे आदर्श के इसरार पर, जालंधर चले गए। घर लौटने की झीनी सी उम्मीद अभी उन्होंने छोड़ी नहीं थी, या कहिए, छोड़ नहीं पाए थे।

लेकिन न हालात बेहतर हुए, न घर लौटना हुआ। सुरेंद्रनाथ की चिंताएं बढ़ने लगीं। आखिर कब तक बेटे के भरोसे, निठल्ले बैठे रहेंगे? अस्मी की एम.एस.सी. की पढ़ाई बीच में ही छूट गई थी, आगे कुछ न कुछ उसके लिए भी सोचना था। अपना भी कहीं तो ठिकाना करना ही होगा।

प्रभा सदमे में थी, उसके विदाख खत्म ही नहीं हो रहे थे। मेरा यह मेरा वह, छूटने का मातम, उसके मन जेहन को मुट्ठी में कसे बैठा था। पुरखों की निशानियों, सांझी विरासतों और उम्र भर संजोए-बटोरे का मरसिया! घर-आंगन, वितस्ता, हारी पर्वत, खीर भवानी, और नन्द ऋषि का अस्थान चरारे शरीफ! जिन के आगोश में जिया गया समय अचानक ध्वस्त होकर स्मृतियों की कंदराओं में दफ्न हो गया था।

किसी से उसके पैरों तले की जमीन, आसमान और हवाएं कैसे छीनी जा सकती थी?

प्रभा ब्रह्मशिखर पर बैठे शिव-शक्ति से भीतर उफनते सवालों के जवाब मांगती -हमारा क्या कुसूर था? हमने तो ललद्य और नन्द ऋषि के वाख और श्रुख सुनाकर बच्चों को जीना सिखाया, हारी-बीमारी में मां शारिका से अरदास करते शाह-हमदान के अस्तान पर मन्नतें मांगी हैं, हम बेवजह सांप्रदायिक और जासूस क्यों घोषित किए गए?

पापा सुरेंद्रनाथ देश-प्रदेश की राजनीति से वाकिफ थे। पाकिस्तान की कारगुजारियों के चश्मदीद गवाह भी, जो तीन-तीन लड़ाइयों में मुंह की खाने के बाद भी अपनी बदनीतियों और खुराफातों से बाज न आया। वे भावुक उच्छवासों में वास्तविकताओं को खारिज नहीं कर पा रहे थे। सिर्फ एक हताश जुमले में, दिल में कील सा गड़ा दुःख जाहिर करते।

'अपने ही देश में, बिना किसी विभाजन के हम शरणार्थी कैसे हो गए'?

अनुत्तरित प्रश्न! उत्तर जिनके पास थे, वे मुंह बंद किए बैठे थे। शेष जनता हताश और गमगीन! उनकी हताशा में भौंहे उठाता आश्चर्य था। अपमान की बदहवास कलौंछ और हारा हुआ गुस्सा, जो उनकी सूरतों से लेकर अंतरात्मा को मथ रहा था।

सुरेंद्रनाथ ने हार नहीं मानी, बेटे के पास रहना अंतिम विकल्प हो सकता था। फिलहाल उन्होंने खुद पर भरोसा नहीं खोया था।

सुरेंद्रनाथ, प्रभा और अस्मी के साथ दिल्ली लौट आए और एनसीआर में कमरा ले कर रहने लगे। करिश्मों के इंतजार में बैठे रहना उन्हें यों भी रास नहीं आता था। नई जगह काम की तलाश में वक्त बरबाद न कर उन्होंने ट्यूशन पढ़ाने का काम शुरू कर दिया। दरवाजे के माथे पर सुघढ अक्षरों से अंकित ट्यूशन की पटिया लटका ली। आजू-बाजू दो चार पड़ोसियों को अपने अध्यापकीय जीवन काल का परिचय देकर लड़के-लड़कियों को अंग्रेजी-मैथ्स, साइंस पढ़ाने की मंशा जाहिर की। पहले अभिभावक दो तीन बालकों को लेकर पधारे, फिर धीरे-धीरे मास्टरजी की योग्यता को निरख-परखकर हाईस्कूल के छात्र-छात्राएं भी आने लगे।

धीरे-धीरे सुरेंद्रनाथ का काम जम गया। हाथ में थोड़ी रकम आ गई तो प्रोवीडेंट फंड में जमा रुपये निकाल, सुरेंद्रनाथ ने एनसीआर में ही डेढ़ सौ गज का प्लाट खरीदकर ढाई कमरे डलवा दिए। बेटों ने भी थोड़ी मदद की तो सिर पर छत हो गई। दरअसल करीब दो साल किराए के मकान बदलते, मकान मालिकों के रेट बढ़ाने की धमकियों से वे परेशान हो गए थे। न बढ़ते किरायों से समझौता कर पा रहे थे, न बीवी-बच्ची को घर वापसी का भरोसा ही दिला सकते थे। कब तक छूटे का मातम मनाते? सो पिछला भूलने की कोशिश और नए सिरे से शुरुआत करने की टूटी-फूटी हिम्मत बटोरी। जैसी-तैसी सिर पर छत हो गई।

विस्थापन में, तमाम परेशानियों और स्मृतियों में, शौक से बनाई कलात्मक कॉटेज-बाडी और पुरखों की धरोहरें छूटने की कचोट के बावजूद, सुरेंद्रनाथ ने नए सिरे से जीना स्वीकार लिया। ढाई कमरे बन तो गए, अब कंपलीशन सर्टिफिकेट के चक्कर में दफ्तरों के चक्कर लग रहे थे।

क्या गर्व से अपनी जन्मभूमि में जीने और कुछ बनने का स्वप्न देखने वाले आयुष ने इस अपमान-अनादर की जिंदगी से समझौता करने के बजाय, पराए देश में, अनाम हो कर जीना बेहतर समझा? आतंकी माहौल में अपना पहला प्यार छूटने का दुःख भी तो कहीं अवचेतन को मथ गया होगा।

आगे अच्छी भली नौकरी से इस्तीफा देना और देश छोड़, विदेश में भाग्य आजमाने की जिद, क्या पापा के इस गुड़िल वाक्य के आसपास ही कहीं जन्मी थी कि 'अपने ही देश में हम, बिना किसी विभाजन के शरणार्थी कैसे हो गए?'

यहां रह कर वह अस्तित्वहीनता के कुहरीले भविष्य की आशंका से भयभीत तो नहीं हो गया था और नई शुरुआत की मंशा से, अपने वजूद के साथ जीने का ख्वाब देखने लगा था?

क्या उसे भगोड़ा कहा जाएगा?

वह मन बना कर विदेश में बसने के इरादे से तो घर से नहीं निकला था!

वह तो एम.एस. की डिग्री लेने अमरीका गया था, कुछ नए अनुभव लेकर लौटने की बात कह कर। फिर उसका लौटना क्यों नहीं हुआ? कोई और वजह थी क्या, जिसे प्रभा या खुद आयुष जान

नहीं पाता?

हो भी सकता है और नहीं भी!

इच्छाओं-आकांक्षाओं का कोई ओर छोर होता है क्या? वजहें तो बनाई भी जा सकती हैं! कभी-कभी होती भी हैं!

यह भी तो हो सकता है कि वजह बड़ी न हो, रोज-रोज घटने वाली आदत बनी स्थितियां हों, दहलाने वाली या नाउम्मीद करने वाली घटनाएं हों, जिन्हें आयुष के युवा स्वाभिमान ने जरूरत से ज्यादा तूल दिया हो!

नई उम्र! आसमान को परों से तौलने वाली इच्छाओं की उम्र! इतनी दागदार तो नहीं हुई थी कि थम कर इंतजार करती वक्त बदलने का!

आयुष की जिद का ताल्लुक उस दिन की घटनाओं से तो नहीं था, जब ओल्ड दिल्ली-गुड़गांव रोड पर वह मम्मी प्रभा के साथ रिक्शे पर बैठा, हुड्डा आफिस जा रहा था?

ओह! धूप थी कि आग की झुलसाती लपटें! सड़क पर धूल के बगूले और घुमेर खाती लू थी, धूल की किरकिराहट से आंखें मलता, नाक में रेतीली सुरसुरी से आजिज, बार-बार छींकता, नाक छिनकता आयुष बेहाल हुआ जा रहा था, और बेटे की नाक-आंख से बहते पानी, और अंधाधुंध 'आह छूः आह छीः' से बुरी तरह हिलते सींकिया जिस्म को सहारा देने की कोशिश में प्रभा कभी उसकी पीठ पर हाथ फिराती, कभी झोले से रूमाल-तौलिया निकाल, उसे नाक-आंख ढंकने की हिदायतें देती।

ओह, यह एलर्जी!

मौसम से लड़ने का कोई हथियार प्रभा के पास नहीं था। कुछ था, तो चिंता में डूबे कुछ असहाय से आधे-अधूरे वाक्य, जो तमाम एहतियात से बरतने के बावजूद बेटे की परेशानी कम करने में नाकामयाब हो रहे थे।

प्रभा भीतर ही भीतर कुढ़ रही थी।

काश, सुरेंद्रनाथ का शूगर लेवल अचानक डाउन न हुआ होता।

इंजीनियर गुप्ता ने कंपलीशन सर्टिफिकेट देने का, छः महीनों से, आज कल पर टलता वादा आज निभाने का पक्का आश्वासन न दिया होता, तो मां-बेटे इस कड़ी दुपहरी में, सड़क पर लू के थपेड़े खाने के बजाय, घर में कूलर की ठंडी हवा में आराम कर रहे होते।

ऊपर से सुरेंद्रनाथ की हताश चिंता, 'आज ऑफिस न पहुंचा, तो फिर जाने कब तक टरकाते-दौड़ाते रहेंगे। उन्हें एक और मौका मिलेगा... क्या करूं'?

पति के फिक्रमंद जुमले और हालात की गंभीरता ने प्रभा के पास कोई विकल्प न छोड़ा, यह जानने के बावजूद, कि आयुष को गर्दो-गुबार से सख्त एलर्जी है, वह उसे साथ लेकर धूल-धूप के कहर से युद्ध लड़ने निकल पड़ी।

जाने को प्रभा अकेली भी जा सकती थी, पर दानिशमंद सुरेंद्रनाथ औरतों की कार्य कुशलता की तारीफ कभी-कभार भले करते हों, दफ्तरी मामलात में उन पर भरोसा करने का खतरा उठाते नहीं थे।

सो आयुष को, जो कलकत्ता से, कुछ दिनों के लिए, मां-पापा से मिलने आया था, साथ लेना

जरूरी हो गया।

गो कि, पहले हॉस्टल में रहकर पढ़ाई करने और बाद में कलकत्ता में नौकरी लगने के कारण, वह घर बनाने की अड़चनों, नक्शा पास करवाने, डी.पी.सी. लेवल चेक करवाने आदि-इत्यादि तवालतों से पूरी तरह नावाकिफ था। बड़ा बेटा आदर्श जालंधर में नौकरी कर रहा था। प्रभा ही पति के साथ हुड्डा ऑफिस जाकर, जरूरी आदेशों-निर्देशों और औपचारिकताओं की पूर्ति के लिए हाजिरी देती आई है।

दिए गए तमाम आश्वासनों के बाद भी कंपलीशन सर्टिफिकेट मिल ही जाता, इसकी कहीं कोई गारंटी नहीं थी, लेकिन दफ्तर के लंबे, नीम अँधेरे गलियारों से गुजर, जब इंजीनियर साहब के कमरे के बाहर 'गुप्ताजी' की तख्ती नजर आई, तो प्रभा ने तसल्ली की सांस ली! चलो, आज यह, आए दिन की चप्पल घिसाई वाला मुआ झंझट छूट जाएगा। सिर पर छत का जुगाड़ क्या कर दिया, किसी का खजाना लूट लिया। अच्छे-भले रह रहे थे अपने घर में, वहां से...'।

प्रभा ने कुछ बुड़बुड सस्वर की, कुछ निःशब्द, कि दालान के कोने से चिपके, खड़खड़ करते, जंग खाए कूलर के पास, खैनी मलते चपरासी ने टोका,- किधर?

इंजीनियर गुप्ता जी से मिलना है।

चपरासी ने बायीं ओर जाने का इशारा किया, जहां वक्त की मार खाई लंगड़ी बेंच पर, एक बूढ़ी हड्डियल काया, न न की मुद्रा में सिर हिलाती, उकड़ू बैठी हांफ रही थी।

आगे कुछ रंग उड़ी मेजों पर सिर जोड़े बैठे कुछ कर्मचारियों से गुप्ताजी के गुप्त कक्ष का पता पूछते, वे फाइलों के अंबार बीच धड़ तक फंसी दो लड़कियों तक पहुंचे।

सवाल एक ही था, गुप्ताजी का कमरा, जो अचानक कहीं गुम हो गया था और वे भूलभुलैया में फंसे रहस्य भरे कमरों-गलियारों में भटकते उसकी खोज में विकल भटक रहे थे।

इस बीच खडखड कूलर के पास दूसरा वर्दीधारी विराजमान हो गया था।

प्रभा ने निराश लौटते एक बार फिर गुप्ताजी का पता पूछा। वर्दीधारी ने उल्टे उन्हीं से पूछताछ करनी शुरू कर दी,

-अपॉइंटमेंट है? क्या काम है? मुआइना हो गया?

सभी सवालों के 'जी हां' में उत्तर पाने के बाद वर्दीधारी ने खिसक रही पैंट पर बेल्ट कसते मासूम सा जवाब थमाया, -साहब तो आज आए ही नहीं हैं।

प्रभा-आयुष दोनों धंस गए,

-हम से तो आज ही आने को कह गए हैं, खुश्क होते गले से प्रभा बोल गई।

-जरूरी मीटिंग थी एडमिनिस्ट्रेटर साहब के साथ। फिर आइए कभी, फोन करके। साहब के तो हजारों काम होते हैं।

वर्दीधारी, साहब की व्यस्तताएं गिनाने लगा। आयुष की नसें तन गई,-पहले नहीं बताया, अब बता रहे हैं। इतनी तहकीकात की क्या जरूरत थी?

वर्दीधारी को घूरते देख प्रभा ने बेटे की बांह छूकर चलने का इशारा किया। गर्म खून है, जानता नहीं, यहां बहस नहीं चलती।

वर्दीधारी की आवाज में हिकारत सी थी।

-पता नहीं कहां से चले आते हैं, इधर के तो लगते नहीं, फोकटिए!

आयुष की आवाज गुस्से से कांपने लगी थी, -क्या कहा आपने?

प्रभा ने कंधे पर हाथ रखकर बरज दिया, -चलो!

बेंच पर बैठा हड्डियल बूढ़ा, तौलिए से खल्वाट खोपड़ी और गर्दन का धारोंधार पसीना पौंछते जोर-जोर से सांस खींच रहा था। शायद अस्थमा का मरीज हो।

आयुष के पांव रुक गए -आप की तबीयत तो ठीक है? पानी लेंगे?

-है बेटा, पानी की बोतल साथ रखी है। यह गर्मी, उफ्फ!

लरजते हाथों से बूढ़े ने झोले से बोतल निकाल पानी का घूंट भरा।

रंग उड़ी मेज पर सिर जोड़े बैठे चार जनों की तरफ से आवाज आई,-ऐ भैया, जाओ, अपने घर जाओ। इसका तो घर में कुछ काम-धाम नहीं, फुरसत ही फुरसत है, भेज देते हैं घरवाले, जाकर उधर ही बैठो। अब रोज-रोज इधर आकर बैठने से ही काम हुआ करते हैं क्या?

मेज से दबा-दबा ठहाका उछल आया, हं हं हं।

'बिना जूते का केस है', प्रभा के आगे अहमद अपनी काईयां मुस्कराहट के साथ खड़ा हो गया। पास बुक में कुछ गड़बड़ी थी, ठीक कराने के लिए वह बैंक के चक्कर दर चक्कर लगा रही थी। कैलकुलेशंस में गलती की वजह से पचासेक हजार का घाटा हो रहा था। तब अहमद ने कहा था, बिना जूते का केस है सुरेंद्रनाथ का। आगे कैसे चलेगा?

सुरेंद्रनाथ वसूलों के मारे थे। गीता उनकी गुरू थी, गांधी के तीन बंदर उनके कमरे में विराजमान थे। अहमद को 'रीबॉक' क्या सस्ता फ्लीट तक न पहनाया। नतीजन, आज तक उनका हाड़तोड़ कमाया पैसा उन तक नहीं पहुंचा।

बूढ़े के पैरों में टायर की घिसी हुई चप्पल थी, शायद नाइलॉन चप्पल खरीदने के लिए भी उसके पास पैसे नहीं थे।

निंदाघ दोपहरी! रिक्शे पर घर लौटते प्रभा-आयुष चुप थे। आयुष के चेहरे पर तनाव की ऐंठन थी, उबलने को बेताब गुस्से की निःशब्द बौखलाहट!

प्रभा बेटे को उबारना चाहती थी,

-तुम्हारे पापा खुद ही सब ठीक कर देंगे। बिल्डर भी तो मदद कर सकता है। उसने तो पड़ोसी मेहता को दो दिन में आक्युपेशन सर्टिफिकेट दिलाया था।

-पैसा खिलाया होगा। पापा को तो चप्पलें ही घिसवाएंगे।

आगे आयुष चुप्प हो गया। पापा के वसूलों पर दोनों ने मौन धारण कर लिया।

दोनों जानते थे, उन वसूलों की अब कोई अहमियत नहीं है।

चुपचाप सड़क पर आ कर रिक्शा पकड़ लिया।

दाएं-बाएं ठसाठस भरी छोटी-बड़ी कतारबद्ध दुकानों, फलों-सब्जियों के गीले टाट ढके ठेलों, और टायर-ट्यूबों के स्तूपों बीच पंक्चर लगाते छोकरों को विराग भाव से देखते, वे आग बरसाती दोपहरी के कहर से निजात पाना चाहते थे, जो अपने अधबने घर के नीम अंधेरे कमरे में पहुंचकर ही मुमकिन हो सकता था।

लो! एक और मुसीबत! बीच चौरास्ते रिक्शा अडियल टट्टू सा खड़ा हो गया।

-चेन उतर गई?

-लगता है टायर पंचर हो गया।

नसें चढ़ी, सूखी टांगों वाला रिक्शा चालक, गजब की फुर्ती दिखा रिक्शे से उतर गया,-दो मिनट! आप फिक्र न करें। अभी ठीक करवाता हूं। पास में ही टायर-ट्यूबों की दुकान है।'

धूल पसीने से लिथड़े रिक्शा चालक को आशावाद विरासत में मिला था, या बीहड़ दिनचर्या ने हर हाल में जीने का मंत्र दिया था? लड़ते रहो, इस समर से भागने का कोई रास्ता नहीं।

पत्र विहीन पेड़ के नीचे खड़े मां-बेटे रिक्शा ठीक होने का इंतजार करते रहे।

-कोई है...? की पुकार के जवाब में चौदह-पंद्रह साल की, तेल-ग्रीज सनी पोटली, रंग उड़ी 'होंडा सिटी' के नीचे से सिर निकाल नमूदार हुई।

तुरत-फुरत हाथ चला लड़के ने पंचर ठीक कर दिया। आयुष कुछ हैरत से उसके हाथों की जादुई हरकतें देखता रहा।

-हो गया साहब! लड़का मुस्कुराया, अपने हाथों के करिश्मे पर, या बख्शीश पाने की उम्मीद में?

आयुष ने लड़के की, 'कर दिया न आपका काम फटाफट' वाली अदा देखी, और देखी उसके मुंह-गर्दन पर ग्रीज की चिपचिपी कालिख बीच नागमणि सी चमकती आंखें!

पूछा, क्या नाम है तुम्हारा?

मुझे राजा कहते हैं साहब!

आयुष ने दस का नोट लड़के के हाथ पर रखा, उधर गन्ने का रस बिकता है, पी लो, गर्मी बहुत है।'

लड़का नोट पाकर खुश-खुश मुड़ा ही था, कि मालिक से लगते मुस्टंडे आदमी की आरी सी काटती आवाज उन तक फट पड़ी, ऐ राजे के बच्चे! जल्दी आ, टाईम खोटी मत कर। ये इत्ता काम पड़ा है करने को, तेरा बाप करेगा क्या? कामचोर!'

दो कदम आगे बढ़ा, मुस्टंडे ने खौंखियाए बंदर की अप्रत्याशित झपट से लड़के के हाथ में भींचा नोट अपनी जेब के हवाले कर दिया।

राजा बिना कुछ बोले, सिर झुकाए, ट्यूब-टायर के स्तूप की ओर दौड़ पड़ा। दस का नोट उसके हाथ से छिन चुका था।

आयुष ने देखा, लड़का आगे-पीछे देखें बिना, एक और चिप्पी लगी कार के नीचे जैक लगाने में जुट गया।

आज जब प्रभा बेटे के विदेश में बसने के कारण ढूंढती है, तो 'इकोनोमिक रीजन', 'बेटर ऑपरचुनिटीज', 'लेटेस्ट टेकनीक्स' आदि चालू मुहावरों के बीच कुछ पुराने दृश्य उसकी आंखों के आगे फ्रीज हो जाते हैं।

वही, बरसों पहले की निंदाघ दोपहरी! हुड्डा आफिस की तरफ जाता रिक्शा, ट्रकों के जहरीले धुएं, धूल अटे रास्ते, करकती आंखें मलता, छींकों से बेहाल आयुष! और हजार सवाल पूछते मुच्छड़ चपरासी का हिकारत सना वाक्य, 'जाने कहां-कहां से चले आते हैं फोकटिए। इधर के तो नहीं लगते'!

आयुष का तमतमाता सवाल, क्या यह हमारा देश नहीं मम्मा? हमारा आजाद गणतंत्र, हं? घर छूटने से क्या हम अपने देश में ही विदेशी हो गए?'

प्रभा के दिमागी स्लेट पर कोई बटन होता, तो वह कई धूसर दृश्य वहां से मिटा देती। लकड़ी की अर्राती बेंच पर बैठा अस्थमा का मरीज बूढ़ा और मसखरी करते, बदसूरत मसूढे दिखाते क्लर्क तो वहां से हट जाते। हटा देती वह तेल-ग्रीज सनी चिथड़ा पोटली, 'राजा' की रौशन आंखों में बुझती उम्मीद की लौ, जिसने आयुष को बेचैन कर दिया था।

-राजा! किसने दिया होगा यह नाम उसे?

-मां-बाप ने, और किसने?

-तब क्या उन्हें मालूम रहा होगा कि उनका राजा किसी ऊबड़-खाबड़ सड़क किनारे अंगड़-खंगड़ सामान से घिरा, टायर-ट्यूबों के सिंहासन पर बैठा राज करेगा? अधनंगे बदन पर धूप की चिलक सहते, सुबह से शाम तक, जंग लगी कारों और फटे टायरों से जूझता रहेगा?

-उसके हाथों में खिलौने, किताबें नहीं, रेंच, मारतोड, पाना-वाना रहेंगे। बख्शीश में मिले चंद पैसे भी उसका मालिक उससे छीन लेगा...?

प्रभा ने अंधेरे में दूर के जुगनुओं की तरफ ध्यान खींचा, -यह भी तो हो सकता है बेटे, काम सीख कर आगे वह मोटर -मेकेनिक बन जाए, अपना गराज खोले और बड़ा आदमी बन जाए एक दिन...!

आयुष वर्तमान देखता है। भविष्य के सुनहरे सपने अक्सर भ्रमित करते हैं। राजा का रौंदा गया बचपन उसे सालता है।

- उसका बचपन उसे कौन लौटाएगा मम्मा? भविष्य संवारने का वादा करते वे नेता गण, जिन्हें चुनावों के वक्त ही इनकी याद आती है?'

और चुभ गया था एक जहर बुझा जुमला आयुष के मर्म में,-'क्या कहा था उस घूसखोर चपरासी ने? कहां-कहां से चले आते हैं...। अगर यह हमारा देश नहीं, तो हम यहां क्यों रह रहे हैं?'

कहीं कोई कांटा गड़ा तो था।

प्रभा को तर्कहीन विश्वास सा होने लगा है कि उन्हीं संवेदनहीन दृश्यों-संवादों के बीच, एक खामोश जिद, आयुष के अवचेतन में घुमेर लगाकर बैठ गई होगी कि उसे इस देश में नहीं रहना है, जहां प्रांतों-प्रदेशों और जातियों से आदमियों की पहचान होती है। जहां दूसरे प्रदेश का जन बाहरी जन है। वह अपना प्रदेश खो चुका है, शायद अपनी पहचान भी। फिर कहीं भी बसो, क्या फर्क पड़ता है?

प्रभा गलत भी हो सकती है। सही होने का मुगालता भी नहीं है उसे। जानती है, अब सही गलत का फैसला बीरबलीय नुस्खे से नहीं होता, कि आंख और कान के बीच वाले फासले के माप से तय किया जाए। आयुष तो उसका बेटा है, अच्छा रैपो है मां-बेटे के बीच लेकिन अपने जायों की आंतरिकता में क्या कुछ उमड़-घुमड़ रहा है, कौन से दंश उन्हें सालते हैं, कैसे सपने, कौन सी ख्वाहिशें वहां परवान चढ़ने को उतावली हैं, यह जानने के लिए तो ऐसी कोई एक्सरे मशीन भी अभी ईजाद नहीं हुई, कि दिल-दिमाग में फूटते ग्लेशियरों से निकले ठंडे-गरम सोतों के तापमान को आंक सके।

लेकिन न जानने की जिद छूटती है, न ही सवालों का अंत होता है।

और समय की गति में कोई फर्क नहीं आता।

आकांक्षाएं और सपने! या कोई खामोश जिद?

कलकत्ता में नौकरी करते आयुष को पांचेक वर्ष हो गए, प्रभा-सुरेंद्रनाथ को लगा, बेटा हिल्ले से लग गया। थोड़ा दूर है हमसे, पर अच्छा जॉब है। हमसे मिलने आता है, जब भी मौका मिलता है। मन को थोड़ी तसल्ली हुई। खुश रहे।

तभी इस खुशी या खुशफहमी के आगे विराम चिन्ह सा लग गया। अचानक ही एक दिन आयुष ने बिना भूमिका बांधे, मां-पापा से कहा, -पापा, सोच रहा हूं, एम.एस. करने अमरीका चला जाऊं। इधर नए पोस्ट खुलने लगे हैं, जिनके लिए एम.एस. की पढ़ाई फायदा करेगी। आप जानते हैं दिन-ब-दिन कंपीटिशन कितना बढ़ रहा है...।'

सुरेंद्रनाथ ने बेटे की आंखों में झांका, वहां आकांक्षाएं थीं, नए सपने थे, शायद उन तक पहुंचने की खामोश जिद भी।

सुरेंद्रनाथ के भीतर नामालूम सी कोई मरोड़ उठी। क्या थी वह?

क्या उम्र की सांझ में अकेले पड़ने की आशंका? या अचानक उन्हें दूर के आसमान पर उड़ान भरते किसी तन्हा परिंदे की आकुल पुकार सुनाई दी?

उस पुकार में कहीं कुलभूषण दादा की अनकही यातना की गूंज तो नहीं सुनी उन्होंने! लक्ष्मी दादी की आंसू भरी विदाखों की गूंज, जो परदेसी हो गए लाड़ले बेटे को देखने के लिए चार-चार सालों का इंतजार करते बौरा गई थी, और अंत समय बेटे के हाथ से दो बूंद जल भी न पा सकी, जीवन भर की अकेली आकांक्षा! यों बापू अकसर लक्ष्मी दादी की बौराई मनःस्थिति का जिक्र करते भी, विनय अंकल का बचाव करते, विनय तो मां-बाबा को परदेस जाकर भूला नहीं। बाबा को बराबर रुपया-पैसा भेजता रहा। उसी से घर की मरम्मत वगैरह भी मुमकिन हो पायी। मोती बेचारा तो मुश्किल से घर का खर्चा चला पाता था। चारेक सालों में एक बार दस-बारह दिन के लिए विनय घर आता तो मां को अलग से भी 'नोटों की गड्डी थमाता।'

मां 'नोटों की गड्डी' पर अपनी टिप्पणी देना न भूलती।

- हां, वे नोट लक्ष्मी चाची सिरहाने रखकर सोतीं, उन पैसों को न खुद खर्च करतीं, न किसी को हाथ लगाने देतीं! कहतीं, यह विनू ने भेजें हैं न, इन्हें पास रखती हूं तो लगता है मेरा विनू मेरे पास है।'

बेटे से सालों-साल की दूरियां वह सह नहीं पाईं। एक बार घर आकर विनय दोबारा अमरीका लौट गया, तो अगले दिन ही बिस्तरा पकड़ लिया। विनय ने लड़की पसंद की, तो कुलभूषणजी से कहा, अब तो बोलो जल्दी घर आ जाय, शादी तो यहीं करेगा न! मैं भी तो अपने विनू बेटे की सेहराबंदी देखूंगी, बहू की मुंह दिखाई की रस्म करूंगी। खूब धूम-धाम से शादी होगी...। वही, मांओं की सनातन हसरतें!

कुलभूषणजी से बार-बार पूछतीं- अब कितने दिन रह गए विनू को लौटने में? अंगुलियों पर दिन गिनती रहती। पर बेटे की शादी से पहले ही, एक रात जो आंखें बंद कर लीं, दोबारा खोली नहीं। लक्ष्मी के मरने के बाद, वे रुपये कुलभूषणजी ने उसके अंतिम कारज में ही खर्च कर दिए।

बेटा जब घर पहुंचा, तब तक तो उसकी राख भी ठंडी हो गई थी।

पापा को सोच में गुम होते देख, आयुष ने अपने फैसले के लिए तर्क पेश किया

-पापा, यों भी आपसे दूर ही रहता हूं, पास नौकरी होती, तो दूसरी बात थी।

क्या पापा के चेहरे पर कोई बेबस परछाईं दिखी, कि अगला जुमला बोलना पड़ा?

- कुछ एक्सपीरियंस गेन करके तो आप के पास ही लौट आऊंगा।

-ठीक है, ठीक है, तुम ने सही सोचा है।

सुरेंद्रनाथ ने बहस नहीं की, न बेटे के कच्चे-पक्के तर्क सुने। दानिशमंद थे, जान गए, बेटे ने मन बना लिया है।

प्रभा ने लंबी सांस भरी, आयुष हम से बहुत दूर हो रहा है।

फिर जो होना था, जिसकी तैयारियां पहले ही शुरू हो चुकी थीं, होता रहा।

पांचेक साल की नौकरी में, कब आयुष ने, विदेश में पढ़ाई करने का मन बनाया, कब जरूरी परीक्षाएं दीं, पेपर तैयार किए, कब न्यूयार्क यूनिवर्सिटी में दाखिला मिला, साथ में असिस्टेंटशिप! इस की सुरेंद्रनाथ को सूचना ही मिली। कोई सलाह-मशविरा जैसी चीजें अब तक बीती बातें हो गई थीं।

सुरेंद्रनाथ-प्रभा मन ही मन उदास हुए। बच्चों के आत्मनिर्भर होते ही क्या, जितना फर्क बच्चों के सोच में आता है, उतना मां बाप की भूमिका में भी? क्या सभी संबंध जरूरतों के हिसाब से ही बनते-बिगडते हैं?

शुक्र है दोनों जल्दी संभल गए।

प्रभा ने बेटे के उज्जवल भविष्य की कामना की। सुरेंद्रनाथ पासपोर्ट से लेकर वीजा मिलने तक की दौड़-धूप में बेटे के साथ रहे।

आखिर, उस सुर्ख द्रव का रिश्ता, जो बाप-बेटे की शाहरगों में बहता है, उसका जोर तो रहना ही था।

पांच साल की नौकरी में आयुष ने जितना कमाया, बचाया, यात्रा के अलावा एक दो महीने के लिए ही काफी था।

आगे?

सुरेंद्रनाथ को चिंता हुई। उनकी मां कहा करती थी, 'मां-बाप तो गमों के ठेकेदार होते हैं'।

सुरेंद्रनाथ के पास जो भी बचा-खुचा रुपया पैसा था, पहले ही घर की भेंट चढ़ गया था। अब क्या कर सकते थे वे बेटे की मुश्किलात हल करने के लिए? सिर्फ चिंता?

बेटे ने उबारा, छोटे-मोटे पार्ट टाइम काम करूंगा वहां, जरूरत पड़ी तो। पापा, सभी करते हैं वहां पढ़ाई के साथ-साथ। फिर, असिस्टेंटशिप भी तो मिल रही है। मेहनत से पढ़ाई करूंगा, हो सकता है, आगे फी वेवर भी मिल जाय।

प्रभा के गले में बांहें डाल आयुष ने जोड़ दिया 'मम्मा, मेरा दोस्त सान्याल भी है वहां। उसने मेरी मदद करने का वादा भी किया है। तुम बिलकुल फिक्र मत करो।'

-वह सब तो ठीक है बेटा, लेकिन परदेस बड़ा बेमुरौव्वत होता है। उम्मीदों-अंदाजों के भरोसे ही जिंदगी नहीं जी जाती। तुम निपट अकेले, बिना किसी सहारे...'

पापा के गले में लोथ सी क्यों जम गई?

-पापा प्लीज, आप चिंता न करें, कहा न मेरा दोस्त...!

-ठीक है, ठीक है। अच्छा है, दोस्त होना, पर उसके भरोसे का रिस्क लेना समझदारी नहीं, सोचते हैं क्या कर सकते हैं।

पापा संभालना जानते हैं, कमजोर पड़ना नहीं चाहते।

फिर भी चिंता के मारे सुरेंद्रनाथ की नींद उड़ गई। देर रात तक किसी सायेदार दरख्त की तलाश में एक बेअंत रेगिस्तान में भटकते रहे। सुबह के सुरमई उजास में दूर के एक हरियल गाछ पर नजर पड़ी।

विनय बहादुर! बचपन का लंगोटिया दोस्त विनय।

यादों की खिड़की से उसका चेहरा झांक आया-यार! फिक्र कैसी? मैं हूं न!

सुबह होते ही सुरेंद्रनाथ तन मन से सक्रिय हो गए। विनय बहादुर ने जो चाहा, वह पाया। सुख ही नहीं था उसकी झोली में, गरीबी का दुःख भी भरपूर झेला। लगन थी, सो असंभव को संभव कर दिखाया। सबसे बड़ी बात, कि वक्त बदलते दिमाग दुरुस्त रखा। विदेश में बस गया, पर अपने हम वतनों को नहीं भूला।

सुरेंद्रनाथ ने विनय बहादुर का फोन नंबर ढूंढ निकाला, संपर्क साधा, जो कुछ वक्त से छूट गया था। जरूरतमंदों की मदद करता है, विनय बहादुर। देखें, क्या कहता है!

विनय बहादुर ने मीठी सी डांट पिलाई, 'मदद' शब्द के लिए।

-क्या मेरा बेटा नहीं है आयुष? दोस्त हो कर भी तुमने मुझे पराया कर दिया।'

उन्नीस सौ नब्बे के उस सर्क्युलर की याद दिलाई, जो उसने कुछ विस्थापित मित्रों की मदद के लिए भेजा था, जिसका सुरेंद्रनाथ ने कोई नोटिस नहीं लिया था।

सुरेंद्रनाथ को याद था। तब कुछ बेघर हुए लोग आस्ट्रेलिया भी चले गए थे। वहां की सरकार से मदद का आश्वासन पाकर कईयों ने अपने बच्चों को वहां भेज दिया था। जिस की जैसी सुविधा हो पायी थी। लेकिन सुरेंद्रनाथ तब खुद पर भरोसा नहीं खोए थे। विनय बहादुर से उसने मदद नहीं ली थी, एक धन्यवाद का पत्र जरूर लिखा था।

महाराष्ट्र सरकार ने भी तब, वादी से विस्थापित बच्चों के लिए, अपने संस्थानों में कुछ सीटें रिजर्व की थी। उसका लाभ, सुरेंद्रनाथ ने बेटी अस्मिता के लिए भी नहीं उठाया।

लेकिन अब! अब जरूरी हो गया था विनय बहादुर! सुरेंद्रनाथ कैसे अपने लख्ते जिगर को परदेस में अकेला बेसहारा छोड़ देते?

आयुष चला गया। एयरपोर्ट पर प्रभा ने बांध तोड़ बहते आंसुओं को रोकने की फिजूल सी कोशिश की। जिगर चीरते कुछ जुमले, अटक-अटक कर, टुकड़ों में बाहर आ गए-तुमसे दूर रह कर कैसे जी पाएंगे हम? सालों-साल मिलना नहीं हो पाएगा। बड़का भी तो नहीं है हमारे पास'!

-मैं लौट आऊंगा मम्मा! वहां मेरा कौन है, जिसके लिए रुक जाऊंगा।'

आयुष की आवाज भीग गई थी।

उस वक्त, जाने क्यों सुरेंद्रनाथ के भीतर से नाखुश सी आवाज आई, जो अमरीका जाता है, वह कब वापस घर लौटता है?

थोड़े आश्वस्त वे जरूर थे कि विनय बहादुर वहां है। उसने आयुष को, 'बेटा' कहा है। बचपन के इस दोस्त ने मुफलिसी के दिन देखें हैं, जरूरत के वक्त आयुष की मदद करने में कोताही नहीं करेगा।

सुरेंद्रनाथ ने तमाम मजबूती से खुद को थामे रखा। आशीर्वाद दिया-ईश्वर तुम्हारी रक्षा करे! खूब मन लगा कर पढ़ाई करना। धुर परदेस है, मगर विनय अंकल हैं वहां। उन्हें मेरी जगह समझना। कभी भी जरूरत पड़े...।'

भीगा मन बहने न लगे, सो अधबीच ही रुक गए। प्रभा और आयुष को भी तो संभालना था।

आयुष ने जब तक न्यूयार्क पहुंचने की सूचना न दी, सुरेंद्रनाथ-प्रभा परेशान रहे। ईश्वर से बेटे की सलामती के लिए प्रार्थना करने के साथ- साथ, विनय बहादुर को दुआ देते रहे। एक बार उसे फोन किया, कि आयुष यहां से चल पड़ा है। बस, और कुछ नहीं कहा। जानते थे, अब विनय बहादुर पहले वाला विनू नहीं रहा, वेल सेटेल्ड अमरीकी एंटरप्रन्योअर हो गया है। बार-बार उसे फोन कर, उस पर अविश्वास करना ही नहीं, अपने को खुद की नजरों में भी छोटा करना होता।

इस बीच समय का चक्का घूमता रहा और उम्र गुजरती गई।

बड़का बेटा आदर्श, बैंक में काम करता था, उसका तबादला एक शहर से दूसरे शहर होता रहा, कभी जालंधर कभी बेंगलूरू और अब हैदराबाद!

बेटी अस्मी ने पत्राचार से बी.एड. कर लिया और स्थानीय स्कूल में पढ़ाने लगी। पापा को भी थोड़ी तसल्ली सी हो गई कि बेटी आत्मनिर्भर होना सीख रही है। प्रभा की चिंता दूसरी थी। महानगर में आए दिन घटती वारदातों से वह भयभीत थी। नौकरी के सिलसिले में अस्मी को एन.सी.आर., में बसों से यात्रा करनी पड़ती थी। स्कूल तक तो ठीक था, स्कूल बस में सुरक्षा थी, लेकिन सिटी बसों, स्कूटर-टैक्सियों में आए दिन लड़कियों के साथ हादसे हो रहे थे। वादी के आतंकियों से तो वे अस्मिता को बचाकर ले आए थे, पर एन.सी.आर. के गुंडों-बलात्कारियों और बिगड़े नवधनिकों से बेटी को बचाने का कोई उपाय उसके पास नहीं था।

'शादी!' शायद!

उसके दिमाग में स्वर्गवासी सासजी ने दस्तक दी।

लेकिन, इस उपाय को अस्मी ने बे हिचक खारिज कर दिया। उदाहरण के तौर पर हाल में ही घटित चार-छः घटनाओं की तरफ ध्यान दिलाया, जहां बलात्कार की शिकार, तीन साल की बच्ची से लेकर सत्तर साल की बुजुर्ग महिलाएं भी थीं। शादी से इन वारदातों का कोई लेना-देना नहीं था।

अस्मी ने मां का भय दूर करने की कोशिश की, भरोसा दिलाया कि वह अपना खयाल रख सकती है, मां चिंता न करे।

'मेरी क्लीग मिस सूद तो कराटे एक्सपर्ट हो गई है। वक्त मिला तो मैं भी उस से बचाव के कुछ टिप्स ले लूंगी'

प्रभा को मुस्कुराते देख अस्मी संजीदा हो गई, -मजाक नहीं कर रही मां, आजकल आए दिन लड़कियों के साथ जो बदसलूकियों और बलात्कार की घटनाएं देखने-सुनने में आती हैं, उनसे बचने और मवालियों का सामना करने के लिए हमें आत्मरक्षा के लिए तैयार तो रहना ही होगा। सुरक्षा कानून बनने से ही तो हम सुरक्षित नहीं हो पा रहे हैं न?

अस्मी ने भी राह चलते शोहदों, बसों में जिस्म छुआते मवालियों के फिकरों-स्पर्शों से बचते-बचाते जीना सीख लिया।

इधर ग्लोबलाइजेशन की हवा महानगरों में तेजी से चलने लगी थी। तकनीकी का प्रवेश दफ्तरों, स्कूलों में भी धड़ल्ले से होने लगा था। अध्यापकों के लिए कंप्यूटर ट्रेनिंग जरूरी हो गई, तो अस्मि ने भी कंप्यूटर क्लास ज्वाइन कर ली। तकनीकी का करिश्मा मोबाइल, उसके साथ काम करती महिलाओं के हाथ में आ गया था। वक्त की दौड़ में अस्मि पिछड़ना नहीं चाहती थी। वेतन में से पैसे बचाकर उसने नोकिया का एक छोटा सा फोन भी खरीद लिया। मां-पापा खुश हुए, स्कूल में कभी देर-सवेर हो जाती तो घर पर मोबाइल से इत्तला दी जाती।

एन.सी.आर. में रहने तो लगा सुरेंद्रनाथ का परिवार, पर मन छूटे हुए, घर में ही रहा। सालों -साल बीतते गए, घर वापसी की उम्मीद बन नहीं पायी। विस्थापितों ने आवाजें उठाई, धरने दिए, थोड़े आश्वासन पाए, ज्यादा लाठियां खाईं। प्रदेश में तालिबानियों की धमकियां थीं, प्रशासन में ऐतिहासिक ढुलमुल नीतियां! विस्थापित त्रिशंकु की स्थिति में!

सुरेंद्रनाथ को विश्वास सा होने लगा कि वे और उनके तमाम विस्थापित बंधु सत्ताधारियों की राजनीति का शिकार हो गए हैं। उनकी आवाज अब किसी भी न्यायालय तक नहीं पहुंचेगी।

विस्थापितों ने थके-टूटे मन को समझाया। हालात के भंवर में फंसने के बावजूद, जीवन का तिरस्कार नहीं किया जा सकता। उन्होंने छूटे हुए देवी देवताओं और आस्था स्थलों को अपने पास बुलाया। अनंतपुर की पहाड़ी पर मां शारिका को ले आए। यज्ञ, धूम और मंत्रोच्चारों के साथ चक्रेश्वर की स्थापना की और हरि पर्वत का नाम दिया। सतीसर तो उनसे छूट गया पर मां शारिका को कैसे भूल जाते, जिससे उनका इतिहास, पुराण, ही नहीं उनकी आस्था जुड़ी थी, उनका होना जुड़ा था। अपनी प्रिय भाषा कश्मीरी की आदि कवयित्री, शैव योगिनी लल्लेश्वरी की मंदिर के परिसर में स्थापना की। जन-जन के अंतर में संजोए, उनके वाक काले ग्रेनाइट की विशाल पट्टिकाओं पर खुदवाए। अपने आपसे वादा किया, जहां रहेंगे, तुम हमारे साथ रहोगी।

तीज त्यौहार, शिवरात्रि, नवरात्र मनाते रहे। दिन, मास, वर्ष बीतते गए। जीवन कहां रुकता है?

सुरेंद्रनाथ प्रभा भी रहते-रहते नए माहौल के आदी होते गए। प्रभा को जरूर, बेटी की बढ़ती उम्र का गम खाए जा रहा था।

बेटी, मां को अपनी बिरादरी में वर-ढूंढाई में परेशान होते देख नाराज हो गई।

-मां, मुझे शादी की जल्दी नहीं है। दोनों भाई हमसे दूर रहते हैं। पापा कितने अकेले हो गए हैं। मैं कुछ दिन और अगर आप के साथ रहूं, तो क्या कोई मुझसे शादी नहीं करेगा?

-ऐसा नहीं है अस्मि, कई अच्छे लड़के देखें हैं हमने। वे कुंवारे तो नहीं बैठे रहेंगे हमारे लिए? शादी की भी तो कोई उम्र...'।

-मां, प्लीज, मेरे लिए लड़के देखना बंद करो। मुझे जब शादी करनी होगी तो बता दूंगी। ऐसी कोई लूली-लंगड़ी नहीं है तुम्हारी बेटी, कि उम्र भर अनब्याही रह जाए। तसल्ली रखो, तुम गंगा जरूर नहाओगी।'

सुरेंद्रनाथ ने पत्नी को समझाया, बेटी पर भरोसा रखो, वह नादान नहीं है, जो करेगी, ठीक ही करेगी,'

प्रभा के पास कोई विकल्प नहीं था, वक्त का इंतजार करने के सिवा।

और वह वक्त एक दिन अचानक ही आ गया।

प्रभा ने बेटी की दिनचर्या में अचानक आई कुछ तब्दीलियां देखी। काम में उतावले, मोबाइल की वक्त-बेवक्त की पुकार, घर लौटने में अकसर देरी।

दिल्ली में दूरियां थीं। एन सी आर -गुड़गांव, फरीदाबाद, गाजियाबाद में नौकरियां! बसों में कंधे छीलती भीड! देरी होने का और क्या कारण हो सकता था?

एक दिन शाम ढलने के बाद भी अस्मि घर नहीं लौटी। प्रभा-सुरेंद्रनाथ, बेचैनी से सड़क पर नजरें जमाए बैठे रहे।

-इधर क्राइम रेट कितना बढ़ा है शहर में। क्या पता अस्मि...'?

प्रभा के सामने बलात्कार की शिकार लड़कियों की कटी-फटी निर्वस्त्र देहें उभर आई, बुरी तरह जख्मी! उनके दोस्तों, परिजनों की टीवी पर विकल अरदास, हताश जुमले, इंसाफ की आकुल पुकारें उसे थर्रा गईं। काश! कोई उनकी कटी-छिली देहों पर टाट का टुकड़ा भर डालकर, उनकी निष्प्राण ही सही, स्त्री देह को ढक देता, तमाशा न बनने देता!'

-आजकल, लगता है, लोगों में दया करुणा नहीं रही। उन मृतकों के परिजनों की आंखों में कैसा तो निराश बियाबान उतर आया था। सच तो यह है प्रभा, ऐसे क्रूर हादसों में भी मदद करने वाले विरले ही हैं, ज्यादा तो तमाशबीन ही होते हैं।'

प्रभा घबराई हुई थी, सुरेंद्रनाथ पत्नी के साथ शायद खुद को भी तसल्ली देना चाहते थे पर तसल्ली जैसी स्थिति उन्हें कहीं दिख नहीं रही थी।

-इधर हमारी न्याय व्यवस्था में भी जाने क्यों झोल आने लगा है। आए दिन हत्या-हिंसा के वहशी कांड देश भर में होते रहते हैं, विरोध की आवाजें उठती हैं, सड़कों पर उतर कर लोग न्याय की गुहार भी लगाते हैं। ऐसा नहीं है कि सरकार न्याय के आश्वासन नहीं देती, पर इसके बावजूद न स्त्री शोषण में कमी होती है, न बलात्कारियों को कोई सबक मिलता है।

-शुभ-शुभ बोलो!' चिंता के मारे प्रभा के प्राण सूखे जा रहे थे।

घर के सामने सड़क पर कोई कार रुकी देख प्रभा चौकन्नी हो गई।

अस्मि ब्ल्यू डेनम की जीन्स पहने युवक के साथ कार से उतरी है।

बेटी ने घर में कदम रखा कि मां ने सवालों की बौछार से स्वागत किया, जिनमें, कहां रही, क्या खास काम आ पड़ा, स्कूल बस मिस हो गई क्या, रास्ते में कोई हादसा तो नहीं हुआ, यह लंगड़ाकर क्यों चलती हो? आदि -इत्यादि प्रश्न शामिल थे। अस्मि ने दो कदम पीछे खड़े व्यक्ति से परिचय कराया, -मां, यह आस्तिकजी हैं, पहले इनसे मिलों, फिर तुम्हारे सभी सवालों के जवाब दूंगी।

'हुआ यह, कि ऑटो रिक्शा से उतरते वक्त मैं सड़क पर गिर गई। तारकोल सी किसी चिपचिपी चीज पर मेरा पैर फिसल गया। चल नहीं पा रही थी। मेरे आस-पास कुछ लोग इकट्ठा होने लगे थे, ये वहां से गुजर रहे थे, भीड़ जुटती देख इन्होंने गाड़ी रोककर मुझे सहारा दिया।

प्रभा घबरा गई, हे भगवान! कहीं हड्डी-वड्डी तो...।

-नहीं-नहीं, मां जी, हड्डी-वड्डी नहीं टूटी, जरा सी चोट है। दायीं टांग में थोड़ी खरोंचे आई हैं,

आस्तिक ने प्रभा की चिंता दूर करनी चाही।।

-पापा, मेरे मना करने के बाद भी, इन्होंने मुझे पास की डिस्पेंसरी में फस्ट एड दिलाकर पट्टी -वट्टी भी करवा दी। इसी से थोड़ी देर भी हो गई।

-थैंक यू बेटा, सो नाईस ऑफ यू। आजकल किसी अनजान के लिए कौन इतनी जहमत उठाता है!

-थोड़ी सी मदद के लिए थैंक्स की क्या बात है अंकल। इतना तो कोई भी कर लेता'। आस्तिक ने हलीमी दिखाई।

सुरेंद्रनाथ-प्रभा दोनों आस्तिक के व्यवहार और विनम्रता से बेहद प्रभावित हुए।

बाद में अस्मि ने बताया कि आस्तिक को उसने एक दो बार पहले भी देखा है, कभी -कभी, बस मिस करने पर वह अपनी छोटी बहन को स्कूल छोड़ने आता है।

प्रभा ने कोई प्रश्न नहीं पूछा, न ही सुरेंद्रनाथ ने। बेटी बिना किसी वारदात के घर पहुंच गई, इससे बड़ी राहत और क्या हो सकती थी? हां, दोनों देर रात तक आस्तिक की तारीफ करते रहे। प्रभा तो मन ही मन, अकारण या सकारण अस्मि के लिए खुश होती रही।

अस्मि-आस्तिक की, सड़क से शुरू होकर घर तक पहुंची इस आकस्मिक मुलाकात के कुछ दिन बाद, मां ने बेटी से, आस्तिक से जुड़े कुछ उत्सुक प्रश्न किए। यही, कि क्या करता है, कहां का है, कितना जानती हो इसे, क्या तुम्हें पसंद है? आदि-इत्यादि।

अस्मि जानती थी, प्रश्न पूछे जाएंगे, यों भी इश्क-मुश्क छिपाने से कहां छिपता है? सो जितनी जानकारी थी, मां को मुहैया कर दी। पसंद के प्रश्न का उत्तर दिए बिना, कुछ शरमाकर, खुद ही प्रश्नकर्ता की जगह पर बैठ गई, तुम्हें कैसा लगा आस्तिक?

-मैंने तो एक बार देख कर ही पसंद कर लिया। तुम कब से जानती हो?'

-अस्मि ने हंसकर जवाब टाल दिया।

आगे मां-बेटी के बीच जो भी संवाद हुआ, उसकी जानकारी मां ने पापा तक पहुंचा दी, 'लड़का अपनी बिरादरी का नहीं, यू.पी. का है, मल्टीनेशनल कंपनी में काम कर रहा है, अस्मि को पसंद है। मुझे लगता है, अब लड़के वालों से मिल कर शादी की बात पक्की करनी चाहिए।

-ठीक है, अस्मि ने सोच-समझकर ही फैसला लिया होगा, सुलझी हुई लड़की है, बाकी बिरादरी-गैर बिरादरी की बात अब पुरानी हो गई है। हम भी तो अब ग्लोबल हो रहे हैं।'

पता नहीं सुरेंद्रनाथ ने स्वीकृति वाक्यों के साथ 'ग्लोबल' का पुछल्ला क्यों जोड़ दिया। प्रभा ने आंख उठाकर पति का चेहरा पढ़ना चाहा, क्या कहना चाहते हैं? पर सुरेंद्रनाथ का ध्यान कहीं और था।

जल्दी ही अस्मि-आस्तिक की शादी हो गई। आस्तिक ने पहले ही गोवा में हनीमून के लिए कॉटेज बुक की थी। उसके मम्मी-डैडी ने शादी की तारीख का फैसला बेटे पर छोड़ दिया था। लेन देन वाले रीति रिवाजों पर दोनों पक्षों को एतराज था। सो सादगी से विवाह की रस्में निभाई गई। कोई बैंड बाजा, शोर शराबा नहीं। आयुष को छुट्टी नहीं मिली। उसने पापा से पूछा भी, शादी की तारीख थोड़ी आगे क्यों नहीं बढ़ाई जा सकती? बहन को दुल्हन के वेश में देखने की उसे भी हौंस थी पर निर्णय का अधिकार उनके हाथ में नहीं था। बच्चों के स्कूल और पत्नी की नौकरी के कारण आदर्श

भी अकेले ही बहन की शादी में शामिल हुआ। प्रीति भोज के अगले ही दिन वापस हैदराबाद लौट गया। विदाई के वक्त अस्मि मां-पापा को आंख से ओझल होने तक देखती रही। उनकी डबडब आंसुओं से भरी आंखों के पीछे का उदास अकेलापन भीतर तक कचोट गया। सुरेंद्रनाथ ने एक खामोश स्वीकार के साथ बेटी को आशीर्वाद दिया।

प्रभा ने आदिदेव का आभार माना कि बेटी को उसका मनपसंद साथी मिल गया।

किस के भीतर खुशी के बुलबुले फूटे, किस के भीतर आशंकाएं, इस पर कोई संवाद-विवाद नहीं हुआ।

प्रभा-सुरेंद्र वक्त की नब्ज पहचान गए थे। आर्थिक रूप से स्वतंत्र हुए बच्चों को अब मां-बाप से न जेब खर्च मांगने की जरूरत पड़ती है, और न अहम मामलों में उनसे सलाह मशविरे की। शादी तो उनका निजी मामला था ही। अच्छा यह लगा कि एन.सी.आर. में ही दोनों की नौकरियां थीं। मिलना-जुलना होता रहेगा।

आयुष अमरीका में लगभग बस ही गया था, और आदर्श का तबादला हैदराबाद हो गया था। हारी-बीमारी में कोई अपना तो साथ रहेगा, 'प्रभा ने मन का संतोष सुरेंद्रनाथ तक पहुंचाया। सुरेंद्रनाथ कुछ बोले तो नहीं, पर पत्नी से असहमत भी न हो पाए। बस, एक छोटा सा हुंकारा भरा-हूं ...'

अपनी क्षमताओं पर भरोसा रखने वाले सुरेंद्रनाथ भी, 'साथ' की उम्मीद, भला कैसे छोड़ सकते थे? इतने वीतरागी भी तो नहीं थे।

अस्मि की शादी के बाद घर अचानक बूढ़ा लगने लगा, युवा चहक-महक विहीन! खाली और उदास। प्रभा कई दिन रोती रही!

मन में कई तुके-बेतुके प्रश्न उठे, खामखाह की चिंताएं। हिलक-हिलक कर सुरेंद्रनाथ को सुनाईं। सुरेंद्रनाथ ने पत्नी को धैर्य से सुना, फिर गला साफ करते, एक वाक्य कहा, आंसू पोंछो प्रभा, ममता को कर्म पर हावी न होने दो।'

और भगवद्गीता हाथ में थमा दी!'

हम जानते हैं, कितने भी कर्मवीर हों सुरेंद्रनाथ, दिन भर खुद को काम में मसरूफ रखने के बाद, जब रात को बिस्तर पर लेट सोने की कोशिश करते होंगे, सांय-सांय करती रात में बगल में लेटी प्रभा की गहरी सांसें उन्हें विचलित करती होंगी, तब वे नींद को मुल्तवी कर, बच्चों के बचपन की सुखद यादों में लौट प्रभा से आत्मीय संवाद करते होंगे। वहां आदर्श, आयुष, और अस्मि तो होंगे ही, साथ में जाने अनजाने प्रवेश पा चुके होंगे बचपन के दोस्त विनू! याद करते होंगे उसे, जिसने जरूरत के वक्त आयुष की मदद कर उनके दोस्ती के भरोसे पर पक्की मुहर लगा दी थी, उसकी विनू से, वेल सेटेल्ड अमरीकी सिटिजन विनय बहादुर बनने की दास्तान! (शीघ्र प्रकाश्य उपन्यास का एक अंश)

●

कहानी

त्रास

रवीन्द्र कालिया

हिंदी कहानी की साठोत्तरी पीढ़ी के महत्वपूर्ण कथाकार, संपादक रवीन्द्र कालिया का गत 9 जनवरी 2016 को देहावसान हो गया। रवीन्द्र कालिया की चर्चित पुस्तकों में 'खुदा सही सलामत है' (उपन्यास), 'नौ साल छोटी पत्नी' (कहानी संग्रह), 'गालिब छुटी शराब' (संस्मरण), 'एबीसीडी' '17 रानाडे रोड (उपन्यास) प्रमुख हैं। 'बहुवचन' के पाठकों के लिए प्रस्तुत है उनकी एक प्रतिनिधि कहानी 'त्रास' व सुप्रसिद्ध कथाकार चित्रा मुद्गल का आत्मीय संस्मरण :

मां मोढ़े पर, गुपचुप बैठी उसका स्वैटर बुन रही थी। पापा कमरे में नहीं थे। उनका कोट टंगा था, जिसमें से नैप्थलिन की बास आ रही थी। उसने कमरे को नए रूप में देखा तो वह अस्त-व्यस्त हो गया, अपने को समेटते हुए उसने मां से कहा कि वह आया है।

उसे उम्मीद थी कि मां उसके इंतजार में फाटक पर खड़ी होगी और इसी संभावना में उसने स्कूटर गली के मोड़ पर ही छोड़ दिया था लेकिन कमरे का वातावरण देखकर उसे लगा कि जिस बात का उसे खतरा था, वह हो चुकी है। वार्डरोब अपनी जगह पर नहीं थी। रैक में जूते पड़े थे और किताबें अलमारी में पहुंच गई थीं और मां फाटक पर इंतजार करने की बजाय बिना चश्मे के मशीन की तरह स्वैटर बुन रही थी।

'मैं तुम्हारा इंतजार कर रही थी। तुम रोज इसी वक्त आते हो?' मां ने पूछा।

उसने बताया कि वह लगभग रोज ही इस वक्त आता है और आकर माउथ ऑर्गन बजाया करता है फिर सो जाता है।

'तुम्हारी किसी भी बात पर विश्वास नहीं रहा।' मां ने कहा, 'पड़ोसिन बता रही थी कि तुम रात को बहुत देर से आते हो और कई बार नहीं भी आते। कई बार दिन-रात कमरे में ही बंद रहते हो।'

उसने कहा, उसने पड़ोसिन को कभी नहीं देखा। वह उससे बात नहीं करता। उसे यह भी नहीं पता कि उसके कितने बच्चे हैं। पिछली गर्मियों में उनके यहां बच्चा हुआ था और उन्होंने वार्डरोब उसे दे दी थी। उसके पति ने कहा था, उनके पास जगह बहुत कम है। उनके पास निरंतर जगह कम होती जा रही है।

वह शायद इस बात से मां का ध्यान हटाना चाहता था।

'तुम उनसे बात क्यों नहीं करते? तुम्हारा इस शहर में कौन है? तुम्हें दुआ-सलाम तो रखनी ही चाहिए।' मां गंभीर थी।

उसने कहा, उसे इन तमाम बातों का पता है और वह कभी-कभी दुआ सलाम तो रखनी ही चाहिए।' मां गंभीर थी।

उसने कहा, उसे इन तमाम बातों का पता है और वह कभी-कभी दुआ सलाम किया करता है।

मां ने स्टोव पर दूध चढ़ा दिया और पूछा, 'दूध के साथ क्या लोगे?'

उसने कहा कि वह दूध नहीं पीता। वह कॉफी के साथ 'जिंजर बिस्किट' लेगा।

'वे कड़वे बिस्किट?' मां ने कहा, 'तुम मुझे दुःखी करते हो। तुम सेहत का खयाल क्यों नहीं रखते। तुम्हारा रंग कितना काला हो गया है।'

उसने कहा कि वह सेहत का बहुत खयाल रखता है और उसका रंग पहले से ही काला है।

उसकी बात का मां पर कोई असर नहीं हुआ। मां ने दूध का गिलास उसके हाथ में थमा दिया, जैसे वह दूध ही पिएगा। मां ने कहा, 'तुम्हारे पापा बहुत खुश थे कि तुम्हारे कमरे से सिगरेट की राख नहीं मिली।'

उसने कहा कि वह अब सिगरेट नहीं पीता। उसे खुशी हो रही थी कि वह इतनी कुशलता से सफाई कर सकता है। उसने वार्डरोब और रैक की ओर देखा तो उसे अपनी मूर्खता पर खेद होने लगा। उसने तमाम चीजें फेंक दी होतीं परंतु वह रद्दी वाले का इंतजार करता रहा था।

दूध का घूंट लेते हुए उसने मां की ओर देखा। उसे लगा, उसकी मां बूढ़ी हो रही है। पिछली बार जब मां को देखा था, मां की गर्दन पर झुर्रियां नहीं थीं। वह मां के सामने परास्त नहीं होना चाहता था। उसने कहा कि जब वह इस मकान में आया था तो सिगरेट के ढ़ेरों टुकड़े थे और राख और खाली बोतलें। बियर और व्हिस्की की खाली बोतलें। उसने निहायत सादगी से बच्चों की तरह आश्चर्य प्रकट करते हुए मां की ओर देखा। उसने दूध का गिलास वहीं मोढ़े के पास रख दिया और मोढ़े पर चढ़कर मां को बोतलें दिखाने लगा जो वार्डरोब की छत पर रद्दी के नीचे दबी पड़ी थीं।

मां ने बोतलें देखीं तो चौंकी नहीं बल्कि रहस्य खुलने की एक हल्की सी खुशी उनकी झुर्रियों में फिसलने लगी। मां ने पूछा, 'ये बोतलें तुम्हारी नहीं?'

वह हँसा। उसकी होतीं तो वह फेंक न देता?

वह हँसी नहीं, न आश्वस्त हुई। वह उसे पूरी तरह टटोल लेना चाहती थीं। मां ने कहा, 'तुम्हारे पापा ने देखीं तो बहुत उदास हो गए। वह वापिस चलने के लिए कह रहे थे। वे मामूली-मामूली बातों को लेकर परेशान हो जाते हैं।'

उसने पूछना चाहा कि पापा कहां हैं मगर एक अपराध भावना के अधीन वह पूछ नहीं पाया। उसे उम्मीद नहीं थी कि ये लोग आते ही इस तरह घर की सफाई करने लगेंगे। रैक में जूते पड़े थे। उसने जूतों को टटोलकर देखा। वहां कुछ नहीं था। मां रसोई में चली गई तो उसने अलमारी खोल कर किताबों के पीछे कुछ टटोला और बिना देखे एक पैकेट उठाकर जेब में रख लिया। उसने ये तमाम चीजें फेंक दीं? वह शायद इस तरह चीजें नहीं फेंका करता। वह पड़ोसी को दे देता लेकिन उसे मालूम है कि उसके पड़ोसी का इसमें विश्वास नहीं, ईश्वर में विश्वास है। उसकी मौजूदगी से दोनों विस्मित हुए होंगे। वह लज्जित-सा खड़ा रहां यह वह अपने पापा की अलमारी में भी अकसर देखा करता था। छिपाने की जगह भी उसने पापा से ही सीखी है या उत्तराधिकार में प्राप्त की है। सर्वप्रथम इसे देखकर वह भी विस्मित हुआ था लेकिन वह कभी पूछताछ नहीं कर पाया था, क्योंकि वह जानता था, पापा किताबों के पीछे वही चीजें रखा करते हैं जिनके उत्तर नहीं होते या जिनका

कोई अर्थ नहीं होता, होता होगा मगर उसके लिए नहीं। पापा अपने सर्टिफिकेट, जीवन बीमा की पॉलिसी, मकान की रजिस्ट्री भी लोहे के गोल डिब्बे में रोल करके वहीं रखते थे, बैंक की पासबुक भी। वह अवकाश के क्षणों में पापा का बैंक-बैलेंस जरूर देखा करता था।

वह अनिश्चय की स्थिति में कुछ देर वहीं खड़ा रहा। फिर उसने कमीज के बटन खोलकर कुछ विदेशी पत्रिकाएं बनियान के नीचे छिपा लीं और बटन बंद करके मोढ़े पर बैठ कर बूटों के फीते खोलने लगा, खिन्न मन से। सुबह भी वह इसी खिन्नता के साथ उठा था। वर्षों बाद उसने इस शहर की सुबह देखी थी और उसे बहुत हैरानी हुई कि बसें इतनी सुबह चलने लगती हैं, इधर के डिपो पर लोगों की इतनी लंबी कतार होती है और अखबार इतनी देर पहले भी बिकते हैं। मैं गलत कह गया, उसे शायद इन तमाम बातों का पता था, लेकिन वह यह नहीं सोच सकता था कि वह इतनी देर से उठने वाला जीव है। स्टेशन जाने से पहले तक उसे यह एहसास भी नहीं था कि वह अपने घर वालों को 'रिसीव' करने जा रहा है। उत्सुकता-विहीन वह प्लेटफार्म पर सिगरेट फूंकता रहा और गाड़ी आते देख उसने सिगरेट फेंक दी थी और हाथ धो लिए थे, क्योंकि वह भूला नहीं था कि उसके पापा सिगरेट को अत्यंत गंभीरता से लेते हैं। इसमें कुछ उसका भी दोष था। उसी की लापरवाही से एक बार उसकी खाट और बिस्तर जल गए थे और उसकी छोटी बहन ने केवल इतना बताया था कि जब वह कॉलेज से लौटी थी तो पापा बाल्टियां भर-भर कर आग बुझाने में व्यस्त थे। इस सिलसिले में उसकी पापा से आज तक कोई बात नहीं हुई थी। इतना जरूर हुआ था कि उस दिन के बाद उसने पापा के सामने सिगरेट का विज्ञापन तक नहीं पढ़ा, बल्कि जब रेडियो पर भी सिगरेट का विज्ञापन आता था तो वह स्टेशन बदलने को मजबूर हो जाता था।

घर वाले डिब्बे से उतरे तो उसे बहुत ही पहचाने हुए लगे। न जाने क्यों उसे आशा नहीं थी कि वह इतनी सरलता से उन्हें पहचान लेगा और चेहरे इतने पहचाने हुए भी हो सकते हैं। उन्हें नमस्कार करते ही उसे विश्वास हो गया कि उसकी भी मां है, जिसकी गर्दन के नीचे झुर्रियां पड़ गई हैं और जिसका एक दांत टूट गया है, और जो उसके सिर पर, इस तरह इतने अधिकार से हाथ रख सकती है और उसका एक बाप है, दूसरों के बाप जैसा ही या 'बाप' की कल्पना जैसा- जिसके सर के तमाम बाल सफेद हो गए हैं और जो बार-बार थूक रहा है। उन्हें देखते ही उसे लगा था जैसे वे खिलौने हों और घर जाते ही उन्हें कार्निश पर सजा देगा। मुझसे फिर गलती हो गई, उसके घर कार्निश नहीं है, मेज भी नहीं। मां नाराज होगी, झाड़ू भी नहीं। उनसे बात करते हुए उसे विश्वास नहीं आ रहा था कि वह इन्हें ही पत्र लिखा करता है और इनके पत्र पढ़कर वह कितनी लापरवाही से जेब में ठूंस लिया करता है। इन्हें तो शायद वह बहुत कुछ लिख सकता था, जो उसने कभी नहीं लिखा। उसने कुछ रटी-रटाई पंक्तियां ही हमेशा लिखी हैं, जिन्हें लेकर उसकी छोटी बहन बहुत चिढ़ा करती थी। एक ही इबारत के खत और फिर काली स्याही से लिखे हुए। वह अकसर शिकायत करती। उसकी शिकायत जायज थी। उसकी छोटी बहन की शादी न हो गई होती तो उनका इकट्ठे समुद्र देखने का इरादा था। वह मोढ़े से उठने लगा तो उसका पैर दूध के गिलास से टकरा गया। गिलास टूट गया और गिलास में कैद दूध के खरगोश फर्श पर लोटने लगे।

'तुम्हें दूध नहीं पीना था, नहीं पिया।' मां के कमरे में आकर कहा।

वह अपने पैर नचाता हुआ, खाट की ओर बढ़ गया, खिड़की से बाहर गली की ओर देखने लगा। सामने लगी में बैठी बुढ़िया उसी तरह प्रतीक्षा की मुद्रा में बैठी जबड़े हिला रही थी। उसने खिड़की

की तरफ पीठ कर ली।

'तुम्हारा किसी से झगड़ा हो गया है?' मां ने पूछा, 'तुम इतने उदास क्यों हो?'

उसने कहा कि उसका किसी से झगड़ा नहीं हुआ और वह उदास नहीं है वह शायद थक गया है।

'मुझे लगता है हमारे आने से तुम्हें असुविधा हो रही है।'

उसने कहा कि उनके आने से वह बहुत खुश है, और उसे बहुत अच्छा लग रहा है।

'पड़ोसिन कह रही थी कि उसने तुम्हें कभी हँसते हुए नहीं देखा।' मां ने कहा।

उसने कहा कि पड़ोसिन की ओर देखकर उसे कभी हँसी नहीं आई।

'मुझे लगता है, तुम्हें कोई बात कचोट रही है और तुम उसे निरंतर टाले जा रहे हो। किसी लड़की-वड़की की तो बात नहीं?' मां उत्सुकता से उसकी ओर देखने लगी।

उसने कहा कि वह लड़कियों को लेकर कभी परेशान नहीं रहा। उसे इस बात की खुशी है।

'पी' कौन है?' मां ने कहा, 'किशोर कुछ बता रहा था।'

उसने कहा कि किशोर बरसों पुरानी बात करता होगा।

'तुमने उसे यह भी लिखा था कि तुम बहुत अकेलापन महसूस कर रहे हो। वह आया था और बता रहा था। उसके घर फिर जुड़वां बच्चे हुए हैं।' मां ने कहा।

उसने कहा कि वह किशोरी को चिढ़ाने के लिए तमाम बातें लिखा करता है, मगर उसने यह नहीं सोचा था कि किशोरी अब भी बच्चों की तरह बातें करता होगा। उसे दुःख हुआ कि अब वह किशोरी को भी नहीं लिख पाएगा। किशोरी को वह इसलिए लिखता रहा है कि किशोरी उससे सैकड़ों मील दूर है और उसे अच्छा लगता था कि वह आस-पास नहीं टूटता, उल्कापात की तरह हजारों मील दूर जाकर बिखरता है।

मां ने सुराही का पानी कमरे में बहा दिया और फिर कपड़े से फर्श पोंछ दिया। पानी उसकी जुराबों में भी चला गया था, मां ने जुराबें बाहर फेंक दीं, उसके बूट रैक में रख दिए और उसके पास ही खाट पर बैठ गई और उसके सर पर हाथ फेरने लगी।

उसे लगा, वह रो पड़ेगा।

'तुम्हें क्या हो गया है, तुम्हें क्या कष्ट है?'

वह कहना चाहता था कि उस पर विश्वास करना चाहिए, उसे कुछ नहीं हुआ और उसे कोई कष्ट नहीं है, परंतु वह चुप रहा। गीली आवाज में बात-चीत करना उसे सदा गलत लगा है। वह सर नीचा किए बैठा रहा। उससे बरदाश्त नहीं हो रहा था कि मां उसे जानना चाह रही है और उसे लेकर चिंतित हो रही है, जबकि वह अच्छी तरह से है।

'यह तुम्हारी कमीज के अंदर क्या है?' मां ने उसकी कमीज छूते हुए कहा।

उसने कहा कि ये किताबें हैं और उसे किताबें हाथ में पकड़कर घूमने की आदत नहीं है।

'दिखाओ, कौन सी किताबें हैं!' मां ने कहा।

उसने कहा कि ये अंग्रेजी की किताबें हैं और वह जल्दी ही मां के लिए गीता लाएगा। उसके एक दोस्त की किताबों की दुकान है।

उसने किताबें निकालकर बड़ी लापरवाही से अलमारी में फेंका दीं। उसने कल ही किताबों पर अखबार के रैपर चढ़ाए थे।

'मुझे बड़े अक्षरों वाली रामायण चाहिए। पहले वाली रामायण अब पढ़ी नहीं जाती। उसके अक्षर

बहुत छोटे हैं।' मां ने कहा और अपनी धोती से चश्मा साफ करने लगी।

'चश्मा पहनकर भी नहीं पढ़ा जाता?' उसने पहली बार मां से कुछ पूछा।

'नहीं। बाईं आंख तो बेकार हो रही है।' मां ने कहा।

उसने कहा कि वह कल छुट्टी लेकर मां को अपने साथ नजर टेस्ट करवाने ले जाएगा।

'तुम्हें तो छुट्टी का बहाना चाहिए।' मां ने कहा।

वह हँसा। मां आखिर उसकी मां है। मां ने उसका हाथ चूम लिया। हाथ से जरूर सिगरेट की बास आ रही होगी, लेकिन मां ने कुछ नहीं कहा। उसने इन लोगों के आने से पहले अपने को संतुलित और व्यवस्थित क्यों नहीं कर लिया, वह सोचने लगा, मगर इससे पहले किसी प्रकार के असंतुलन या अव्यवस्था का अनुभव भी उसने नहीं किया था।

मां बाहर गई तो उसने महसूस किया कि स्नायविक तनाव से उसका सर भारी हो गया है। 'ट्रेंकुलाइजर' की शीशी उसने कल रात छिपा दी थी। उसने दबे पांव वार्डरोब पर चढ़कर रोशनदान से शीशी निकालकर जेब में रख ली।

सुराही में पानी नहीं थी, गोली निगलने से पूर्व वह रसोई से गिलास उठाकर नल की ओर चल दिया। उसने गोली मुंह में रखी और पानी का लंबा घूंट लिया।

'यह तुमने क्या खाया है?'

उसने पीछे मुड़कर देखा, मां खुफिया सिपाही की तरह उसके पीछे खड़ी थी।

'क्या खाया है, बोलो?' मां भय और क्रोध से कांप रही थी।

उसने कहा कि उसके सर में दर्द हो रहा था, उसने 'एनासिन' ली है।

उसने कांच का गिलास मजबूती से पकड़ा हुआ था। मां ने उसके हाथ से गिलास ले लिया और आंखें मूंद कर दवा की तरह पानी पिया। फिर नल के नीचे सुराही रख दी, जो वह अपने साथ लाई थी। वह अभियुक्त की तरह कुछ देर वहां खड़ा रहा, फिर मां के पीछे-पीछे कमरे में आ गया।

मां ने अपने पर्स में से कुछ गोलियां निकालकर उसके सामने रख दीं और पूछा, 'ये कैसी गोलियां हैं?'

ये गोलियां उसकी चिरपरिचित गोलियां थीं।

'जानते हो तुम्हारे बिस्तर में क्या-क्या मिला? ये गोलियां, पत्र और पिनें।'

'तुमने कभी अपना बिस्तर झाड़ा है?' मां के होंठ फड़फड़ा रहे थे।

उसने कहा कि वह बिस्तर नहीं, कभी-कभी चादर झाड़ा करता है और उसने आज सुबह ही नई शीट बिछाई थी।

'ये कौन-सी गोलियां है?' मां ने कहा, 'तुम नहीं बताओगे तो मैं खुद खाकर देख लूंगी।'

उसने मां की हथेली से गोलियां उठा लीं और बोला कि ये वे गोलियां नहीं हैं जिन्हें खाकर उसके मित्र ने आत्महत्या की थी। ये थकान की गोलियां हैं और उसे एक सरकारी डॉक्टर ने ही लिख कर दी हैं। उसे अब थकान नहीं रहती, अब वह अपनी सेहत का पूरा-पूरा खयाल रखता है और दोनों वक्त भोजन करता है। दूध उसे कभी अच्छा नहीं लगा, परंतु उसे उम्मीद है कि वह ओवलटीन मिलाकर पिएगा तो जरूर पसंद करेगा...

वह बोलता जा रहा था और मां बहुत ही निरीहता से उसकी ओर ताक रही थी, जैसे अपनी आंखों के सामने उसकी मृत्यु देख रही हो। ●

एक नए भगवान का जन्म

महीप सिंह

बिहारीलालजी सुबह-सुबह आ गए।

मैंने पूछा, 'पंडितजी, समस्या कुछ गंभीर लगती है। आपको इस तरह सोच में डूबा मैंने कम ही देखा है।'

ऐसा लगा जैसे वह और अधिक सोच में डूब गए हों। बोले, 'एक विचार कुछ समय से मेरे मन में उठ रहा था। सोचा, तुमसे शेयर कर लूं। बात कुछ गंभीर है और मेरे भविष्य की योजना का दारोमदार इस पर है।'

मैं भी कुछ गंभीर हो गया। सोचा, बात कुछ इतनी गंभीर है बिहारीलालजी का भविष्य इस पर टिका हुआ है। मैंने कहा, 'पंडित जी, बताइए बात क्या है?'

वह बोले, 'कॉलेज से रिटायर हुए मुझे पूरा एक बरस बीत गया है। यह बरस कैसे बीता, बस कुछ मत पूछो। मुझे यह अंदाजा नहीं था कि खाली समय मनुष्य की पीठ पर बिल्कुल अगिया बैताल की तरह आकर बैठ जाता है। पहले सोचा था कि रिटायर होने के बाद कुछ नहीं करूंगा... बस आराम करूंगा। अब लगता है कि मेरे सारे संकट की जड़ यह आराम ही है... यह तो सचमुच हराम है. .. सच कहूं कि यह हरामी है! बस सारा दिन मेरे बाल नोचा करता है।'

मैंने कहा, 'पंडितजी, आप कुछ काम क्यों नहीं शुरू कर देते। आपको दोनों बेटे नौकरी करते हैं। दुकानदार होते तो मैं कहता कि आप उनकी दुकान पर चले जाया करिए। मेरा ख्याल है कि आप पार्टटाइम कोई जॉब पकड़ लीजिए।'

उनके चेहरे पर गुस्सा झलक आया। 'कभी-कभी तुम बहुत घटिया बात करते हो। जिस पोजीशन से मैं रिटायर हुआ हूं, उसके बाद कोई ऐसा-वैसा जॉब करना क्या मुझे शोभा देगा?'

मैं कुछ शर्मिंदगी महसूस करने लगा।

'अच्छा, आपके मन में क्या विचार आ रहा है?'

'देखो'... वह थोड़ा सोचते हुए बोले, 'इस उम्र में मैं दो ही काम कर सकता हूं। इन कामों में मेरी रुचि भी है, मेरी पात्रता भी है और ये मेरी प्रतिष्ठा के अनुरूप भी है।'

मैंने कहा, 'पंडितजी, आपकी प्रतिष्ठा और रुचि के अनुरूप जो काम था, वह आप कर चुके हैं।'

'क्या मतलब है तुम्हारा?' वह भौहें सिकोड़कर बोले।

'आप सारी उम्र अध्यापक रहे। इसी कार्य में आपकी रुचि थी। इसी कार्य में आपने जो प्रतिष्ठा प्राप्त करनी थी, कर ली।' मैंने कहा, 'मेरी मान्यता है कि अध्यापक एक बहुत नोबुल प्रोफैशन है। किंतु यह काम व्यक्ति को एकदम नाकारा बना देता है। एक बार लंबे समय तक अध्यापक रह चुका व्यक्ति और कोई काम नहीं कर सकता। हां... आराम से कहीं कुछ लेक्चर-वैक्चर देने का जुगाड़ बन जाए तो वह उसके बूते की बात है।'

बिहारीलालजी बहुत जोर से हंसे, 'तुम ठीक कहते हो। अपनी रुचि और प्रतिष्ठा के अनुरूप जिन दो कामों की बात की मैं तुम से करने जा रहा था, उनमें एक तो राजनीति है...'

वह अपनी बात पूरी करें कि मैं बोल पड़ा, 'राजनीति... पंडितजी, कॉलेज की राजनीति में थोड़ा-बहुत मुंह मार कर आप सोचने लग गए हैं कि देश की राजनीति भी कर सकते हैं? कहावत है- बड़े-बड़े बहे जाएं गडरिया थाह मांगे... क्षमा कीजिएगा, आप बीस बिस्वा कनौजिया ब्राह्मण हैं, गडरिया नहीं हैं। मैं सिर्फ इतना कह रहा हूं कि देश की राजनीति आपके बूते की बात नहीं है।'

पंडितजी को गुस्सा आ गया। बोले, 'तुम बड़े अहमक हो। मुझे अपनी बात पूरी नहीं करने देते, बार-बार बीच में दाल-भात में मूसरचंद की तरह कूद पड़ते हो। अरे भाई, इस देश की राजनीति मेरे बूते की नहीं है, यह मैं भी जानता हूं, लेकिन इस देश की धर्मनीति तो मेरे बूते की है।'

'धर्मनीति...'? मैं चौंका... 'यह क्या बला है?'

'घबराओ मत... यह जयललिता नहीं है, समझने की कोशिश करो।'

मैं हँसा, 'समझाइए।'

'इस देश में दो धंधे बहुत फल-फूल रहे हैं- एक राजनीति, दूसरी धर्मनीति। किसी एक में यदि आपकी पकड़ बन गई... तो बस करोड़ों के वारे-न्यारे हैं।' आपको चारों तरफ बेहिसाब लोगों की भीड़ लगी रहती है। आप फूलमालाओं से लाद दिए जाते हैं, आपकी जितनी चाहें उतनी जय-जयकार होती है। और लक्ष्मी.... वह तो आप पर बरसती हैं एक आम इंसान को जीवन में इससे अधिक ओर क्या चाहिए?

मैं सचमुच किसी अहमक की तरह उनका मुंह ताक रहा था।

'मेरी पूरी योजना सुनो।' वे पूरे अध्यापकीय अंदाज में बोले, 'एक अध्यापक को और कुछ आए न आए... भाषण देना तो आता ही है। घर से वह अपने विषय की पूरी तैयारी करके न भी आए तो भी वह घंटा दो घंटा इस प्रकार धाराप्रवाह बोल सकता है कि विद्यार्थी रोब खा जाएं।'

मैंने कहा, 'पंडितजी, सारी उम्र आप भी अध्यापक रहे और मैं भी। हम लोग अपने धंधे के सारे गुर जानते हैं।'

'अब ये सारे गुर मुझे राजनीति में अपनाने हैं। इस बात में तुम्हें मेरा सहयोग करना है और. ... साझीदार भी बनना है।' उन्होंने इस तरह आंखें घुमाई जैसे बड़ी गूढ़ बात बता रहे हों।

मैंने कहा, 'चलिए... आगे चलिए।'

वह बोले, मैं धर्म-उपदेशक बनना चाहता हूं।

मैंने पूछा, 'मेरा क्या काम होगा?

'तुम मेरे प्रचारक बनोगे।'

'आप धर्म के प्रचारक... मैं आपका प्रचारक?'

'ठीक समझे।' वह बोले, 'यह ऐसा धंधा है जो सारी उम्र चलता है... जितना बूढ़े होते जाओगे, उतना यह धंधा और निखरेगा... मरने के बाद तो यह धंधा और चमक जाता है, फिर पीढ़ी दर पीढ़ी चलता है।'

मैंने कहा, 'पंडितजी, आपकी पैनी नजर का मैं कायल हो गया। राजनीति के धंधे में वह स्थायित्व नहीं, जो इसमें है।'

'अरे...।' वह बड़ी हिकारत से बोले, 'आज की राजनीति की तुम बात करते हो। इस क्षेत्र में प्रधानमंत्री बन जाना, सबसे ऊंची पदवी पाना है। परंतु तुम देखते नहीं हो क्या हो रहा है। प्रधानमंत्री अपने पद पर कुछ साल भी बना रहे तो यह उसकी उपलब्धि मानी जाती है।'

'इस काम में मैं आपकी किस प्रकार सहायता करूंगा? मैंने पूछा।'

'देखो, एक अच्छे पी.आर.ओ. के बिना न कोई सफल नेता बन पाता है, न अभिनेता और न ही धर्मनेता। सबसे पहले तुम मेरे धार्मिक प्रवचनों का आयोजन करोगे। इसका प्रारंभ निम्न-मध्य वर्ग की कॉलोनियों से किया जाएगा।

'निम्न-मध्य वर्ग से क्यों?'

'इसलिए कि उच्च-मध्य वर्ग के लोग जीवन में कुछ सफलता पा चुके होते हैं। उनके जीवन में सुरक्षा कुछ हद तक आ चुकी होती है। ऐसे लोगों को धर्म की... ईश्वर की आवश्यकता इतनी जल्दी महसूस नहीं होती, जितनी निम्न-मध्य वर्ग के लोगों को। यह वर्ग तो आर्थिक संकट में सदा ही फंसा रहता है। निम्न वर्ग को भी ईश्वर की जल्दी जरूरत नहीं महसूस होती। वह दो वक्त की रोटी के चक्कर में ही फंसा रहता है और कैसी भी हालत में जीने का आदी रहता है।'

मैंने कहा, 'ठीक... आगे...।'

'प्रारंभ में तुम मुझे पंडित बिहारीलाल शास्त्री कहकर प्रचारित करोगे और चारों तरफ यह बात फैलाओगे कि मुझमें बहुत बड़ी हीलिंग पावर है। मेरे छू लेने से, माथे पर हाथ रख देने से और कान में मंत्र फूंक देने से बड़े से बड़े रोग दूर हो जाते हैं।'

'फिर...?'

'तुम इस ढंग से प्रचार करोगे कि लोग अपने रोगों से छुटकारा पाने के लिए मेरे पास आने लग जाएं।' 'स्त्रियों के अंदर ऐसा विश्वास पैदा करना बहुत सरल होता है। तुम्हें दो-चार महिलाओं को भी अपने साथ मिलाना होगा, जोर घर-घर जाकर बताएंगी कि उनके अंदर कितनी भयंकर बीमारी थीं... जीवन से पूरी तरह निराश हो चुकी थीं, किंतु शास्त्री जी का स्पर्श पाते ही वे पूरी तरह निरोग हो गई हैं।'

बिहारीलालजी कुछ गंभीर होकर सोचने लगे। मैं उन्हें एकटक देख रहा था। एकाएक मुझे उनके चेहरे पर एक धर्मोपदेशक की झलक मिलने लग गई।

वह बोले, 'पंडित बिहारीलाल शास्त्री की कुछ चर्चा हो जाने के बाद कुझे आचार्य बिहारीलाल शास्त्री कहा जाएगा। पार्कों में, धर्मशालाओं में, खुले मैदानों में मेरे प्रवचनों का आयोजन किया जाएगा। यहां से हमारे कार्य में विज्ञापनबाजी शुरू हो जाएगी। मेरे प्रवचन से पूर्व ही आस-पास के क्षेत्र में पर्चे बंटवाए जाएंगे। कुछ प्रमुख स्थानों पर कपड़े के बैनर लगाए जाएंगे, जिन पर लिखा होगा, अमुक दिन, अमुक समय, अमुक स्थान पर आचार्य बिहारीलाल शास्त्री का जीवन को नए अर्थों से

भर देने वाला प्रवचन... आचार्यजी के स्पर्श मात्र से लाखों रोगग्रस्त लोगों को नया जीवन प्राप्त हुआ है। उनका प्रवचन सुनें और व्याधियों से मुक्ति पाएं।'

मैंने कहा, 'कपड़े के बैनर के लिए यह मैटर कुछ लंबा होगा।'

'इसी चिंता न करो।' वह बड़े आश्वस्त भाव से बोले, 'छोटा-छोटा मैटर बनाकर कई बैनर बनेंगे। यह सारा काम तुम्हें ही करना होगा।'

'पोस्टर का आइडिया कैसा रहेगा?'

'पोस्टरबाजी अगले चरण में।' वह बोले, 'कुछ समय बाद आचार्य शब्द ही हट जाएगा। उसकी जगह पूज्य बिहारीलाल शास्त्री लिखा जाएगा।'

'यह सब तो ठीक है पंडितजी, पर आपको ऐसे धार्मिक प्रवचन देने का कुछ अभ्यास तो है नहीं। आपने वर्षों तक आधुनिक हिंदी कविता पढ़ाई है और छायावाद, प्रगतिवाद, प्रयोगवाद की रेतीली गलियों में भटक-भटककर रेत से चांदी निकालने की कोशिश की है।'

'रेत से चांदी निकालना बहुत मुश्किल काम है, यह तो तुम मानते ही हो। धार्मिक प्रवचन देना उससे कहीं आसान है।'

'धार्मिक प्रवचन आसान है?' मैंने आश्चर्य व्यक्त करते हुए कहा, 'धर्मोपदेशक को वेदों का, सभी शास्त्रों का ज्ञान तो होना ही चाहिए।'

'तुम भूलते हो।' वह बोले, 'इस काम में शास्त्रों की कोई लंबी-चौड़ी जानकारी नहीं चाहिए। प्रवचन सुनने वाले मूर्ख श्रद्धालु क्या जानते हैं कि किस शास्त्र में क्या लिखा है।' हमारे शास्त्र-निर्माता बहुत सयाने लोग थे। आम जनता को उन्होंने सदा अनपढ़ रखा और शास्त्र उस भाषा में लिखे जो किसी की समझ में न आए... सिर्फ उंगलियों पर गिने जा सकने वाले लोगों को छोड़कर। एक बात बताओ। फिल्मों के तुम बहुत शौकीन हो। एक फिल्मी गाना लिखने के लिए अधिक से अधिक पचास शब्दों की आवश्यकता होती है- जफा, वफा, मोहब्बत, प्यार, जिगर, दिल, जान, परदेश वगैरह-वगैरह। इसी तरह अच्छा धर्मोपदेशक बनने के लिए कुछ वाक्यों की जरूरत होती है। इस धंधे की अपनी भाषा है, अपने मुहावरे हैं। जो व्यक्ति इस भाषा का प्रयोग कर सकता है, इन मुहावरों को पकड़ सकता है वह पूरी तरह सफल होगा।'

'कृपया मुझे भी इसका ज्ञान कराइए।' मैंने शिष्यवत पूछा।

वह बोले, 'पहली बात यह जान लो कि आम आदमी किन बातों से डरता है। मृत्यु का डर सबसे बड़ा डर है। सफल धर्मोपदेशक इस डर को निरंतर बढ़ाता है। वह बार-बार लोगों से कहता है- जीवन झूठा है... मृत्यु ही एकमात्र सच्चाई है... यह सदा हमारे चारों ओर मंडारती रहती है... इसके खूनी पंजे सदा हमारी गर्दन पर होते हैं... इसलिए हे मानव, यदि तुम इस भय से मुक्ति चाहता है तो भगवान का सहारा ले... आदि-आदि।'

दूसरी बात वह लोगों के सामने बार-बार यह दोहराता है कि यह संसार झूठा है... संसार के सभी संबंध झूठे हैं... धन-दौलत, बड़ी-बड़ी कोठियां, सारी शान-शौकत यहीं धरी रह जाएगी... तुम्हारे साथ कुछ भी नहीं जाएगा। इसलिए हे प्राणी, संसार का मोह त्यागो... माया बड़ी ठगनी है, उससे बचो और अपना मन प्रभु चरण में लगाओ, उसी से तुम्हारा कल्याण होगा...।

तीसरी बात, एक सफल उपदेशक नरक-स्वर्ग की खूब चर्चा करता है। स्वर्ग की कम करता

है, नरक की ज्यादा। वह नरक का ऐसा भय दिखाता है कि लोग पसीना-पसीना हो जाते हैं।

चौथी बात, तो अत्यंत महत्वपूर्ण है। वह लोगों को बात-बात पर यह समझाता है कि गुरु का क्या महत्व होता है। निगुरे को तो नरक में भी स्थान नहीं मिलता है। इस संबंध में संतों-भक्तों की जितनी भी उक्तियां हैं, उनका पूरा पुलिंदा सदा अपने पास रखता है और उसका भरपूर इस्तेमाल करता है और बार-बार इस बात पर आग्रह करता है कि संदेह गुरु सदा तुम्हारे सामने होना चाहिए जिससे तुम जब चाहो, मार्गदर्शन प्राप्त कर सको। ऐसे ही और बहुत-से हथकंडे हैं। मैंने गहराई से अध्ययन कर लिया है।'

मैं मुग्ध भाव से उन्हें निहारता हुआ बैठा था। मैंने कहा, 'पंडितजी, आप धन्य हैं। आप जैसा संतु पुरुष, महात्मा, गानी उपदेशक जब इस संसार को प्राप्त हो जाएगा तो इसका कल्याण अवश्यंभावी है।'

'ऐसी बेहूदा बातें मत करो।' वह कुछ खीझकर बोले, 'संसार जाए भाड़ में। उसका कल्याण न पहले कोई कर सका है, न आगे कोई कर सकेगा। इस समय मेरी रुचि सिर्फ इस बात में है कि इस धंधे से मेरा और तुम्हारा भी, कुछ कल्याण कैसे हो।'

फिर वह उत्साह से बोले, 'यदि मैंने यह धंधा बीस-पच्चीस वर्ष पहले प्रारंभ कर दिया होता तो आज मैं कहां पहुंचा हुआ होता। देश के हर कोने में तो मेरी धूम मची ही होती, इंग्लैंड, अमरीका आदि देशों में भी मेरे लाखों अनुयायी होते। अब मुझे यह रास्ता बहुत जल्दी तय करना है। आचार्य से संत, फिर परम संत, फिर ब्रह्म ज्ञानी और फिर भगवान की स्थिति तक बहुत जल्दी पहुंचना है। शहर-शहर में मेरे प्रवचनों के विशाल सम्मेलन आयोजित होने हैं। जल्दी ही मुझे दूरदर्शन के लोकप्रिय चैनलों पर समय खरीदकर उनसे प्रवचन सुनाने हैं। आगे चलकर हमें सेटेलाइट से अपना पूरा चैनल चलाना है।'

मैंने कहा, 'धन्य हो... भगवान बिहारीलालजी शास्त्री।'

वह झटपट बोले, 'उस स्थिति तक पहुंचते-पहुंचते एकवचन 'मैं' बहुवचन 'हम' में बदल जाएगा। हमारे नाम के साथ के सभी पुछल्ले धीरे-धीरे उतर जाएंगे... लोग मुझे केवल भगवान बिहारीलाल कहकर पुकारेंगे।'

मैंने दोनों हाथ जोड़कर उनके चरणों पर सिर झुकाया। उन्होंने अपना दाहिना हाथ मेरे सिर पर रखा और आशीर्वाद दिया, 'तुम्हारा कल्याण हो...।'

(यह कहानी वरिष्ठ कथाकार महीप सिंह ने अपनी मृत्यु से छह माह पहले बहुवचन को प्रेषित की थी)

●

संस्मरण

गंगा-यमुनी संस्कृति का सबसे रौशन झूमर

नासिरा शर्मा

अमृतलाल नागर को महत्वपूर्ण लेखक कहा जाए या फिर एक बेहतरीन इनसान समझा जाए। इंसाफ का तराजू उठाने वाला जिस तरह आंखों पर पट्टी बांध अपने दोनों पल्लों को बराबर साधे खड़ा रहता है। कुछ वैसा ही मामला अमृतलाल नागरजी का रहा है। वह इनसान बड़े हैं या लेखक? यकीनन दोनों का मिश्रण थे तभी उनकी लेखनी में सकारात्मकता का संगम, गंगा यमुनी संस्कृति में अपनी छटा बिखेरता रहा है।

जब स्त्री विमर्श और दलित विमर्श का शोर नहीं था तब उनके कलम से ऐसे किरदार निकल रहे थे जो पहले इनसान थे बाद में कुछ और! इनसानों के बीच उन्होंने रेखाएं नहीं खींची और न ही यह अहसास उनके अंदर था कि वह कौन है और कहां उन्हें नहीं जाना चाहिए था। वह वास्तव में एक ऐसे नित्थरे हुए कलमकार थे जिनके लिए इंसानी व्यथा को पकड़ना ही महत्वपूर्ण था। इस बात की साक्षी उनकी कहानियां और उपन्यास हैं। उनका मिलनसार स्वभाव था। मुझे याद है कुछ नादान किस्म के लोग उनके इस स्नेह भरे स्वाद के चलते उन पर अपना अधिकार जमाने लगते और इसी के चलते वह नागरजी को समझाते कि उन्हें किससे मिलना चाहिए और किस से नहीं, उनकी बातें भी वह सुन लेते थे यह समझकर कि यह हमारे समाज के चरित्र हैं जो अपने में सीमित और सोच में संकीर्ण हैं। समझाने से समझेंगे नहीं।

इसी तरह की एक घटना का अनुभव है मुझे जब मैंने उन्हें किसी से यह कहते हुए सुना कि 'तुम मुझे फोन न करना यहां मैं लखनऊ पहुंचते ही खुद तुम्हें करूंगा।' उनकी परेशानी स्वर में थी। बाद में उनकी पोती से जो विस्तार मिला वह सब सुनकर मैं सकते में आ गई कि कोई इस तरह की हिमाकत भी एक ऐसे लेखक के साथ कर सकता है जिसने सारी वर्जनाएं, बंदिशें तोड़ कभी चबूतरे पर कभी पेड़ के नीचे, कभी तख्त पर मसनद लगा कलम कागज पर बिना किसी कुंठा, बिना किसी भेदभाव के मृदुलमन से चरित्रों को गढ़ा है? मैं चुप थी मगर मेरे अंदर नागवारी सी उभर रही थी। आज भी जब वह सब बातें याद आती हैं तो मुझे बड़ी बेचैनी सी महसूस होती है कि यह लखनऊ की वजादारी थी जिसको पूरे फूहड़पन से कोई अपनी कमअकली से समझ नहीं पाया और यह भ्रम पाल बैठा है कि उसकी 'हद पार करने की' बेजा बदजबानी से नागरजी आगे से कभी उस व्यक्ति से संपर्क नहीं रखेंगे और उसकी हर हरकत पर किसी ने उसकी लगाम नहीं कसी जिसका

नतीजा यह रहा कि वह आज अपनी इन आदतों से दूसरों को कष्ट पहुंचाने में लगे हैं। शायद मैं भी चुप रही क्योंकि नागर जी चुप थे वह जिस दोआब की सांस्कृतिक मिट्टी से बने थे उसी में मेरी परवरिश भी हुई थी, लेकिन बरसों बाद भी वह बात कहीं दिमाग को कचोटती है क्योंकि इनसान का दिल व दिमाग 'आलपीनदान' नहीं होता जहां नुकीली पीने खोसी जाती रहें। इस तरह की व्याकुलता बहुतों को अनेक तरह के संदर्भों को लेकर होती रहती है। मेरी इस बेचैनी से ठीक विपरीत नागरजी की भी एक पीड़ा थी जो उन्हें साहित्य के ऊंचे मुकाम को हासिल करके भी अकसर परेशान करती रहती थी। उन्होंने उस व्यथा का इजहार 'मेरी प्रिय कहानियां' (राजपाल एंड संस) की भूमिका में कुछ यूं व्यक्त किया है। इधर कुछ वर्षों में मैंने प्रायः एक भी कहानी नहीं लिखी है इसका कारण यह भी है कि साहित्य के आलोचकों ने मेरी कहानियों का कोई विशेष नोटिस नहीं लिया। कारण जो भी हो, पर यह स्थिति मेरे लिए सृजनशील मन को कहानियां रचने लायक प्रफुल्लित नहीं कर पातीं। पत्र-पत्रिकाओं के द्वारा मुझसे अब भी कहानियां मांगी जाती हैं पर 'सिर्फ आर्डर सप्लाई' के लिए ही लिखना मुझे अच्छा नहीं लगता है। जो भी हो, राजपाल एंड संस ने मुझे यह कथा-संग्रह मांग कर मेरी चुटीली अहंता को जो मरहम लगाया है उसके लिए उनके प्रति धन्यवाद प्रेषित करता हूं।

इसमें कोई शक नहीं कि नागरजी के महत्वपूर्ण उपन्यासों ने वटवृक्ष बन उनकी कहानियों और बाल-साहित्य को उस स्तर पर चर्चा में नहीं आने दिया, ठीक यह स्थिति धर्मवीर भारतीजी की भी रही है कि वह कहानीकार से ज्यादा उपन्यासकार व कवि के रूप में लोकप्रिय रहे। उसी भूमिका में नागरजी आगे लिखते हैं :

'शकीला की मां' लिखकर मुझे यह लगा कि इस में शरतचन्द्र और प्रेमचंद के अनुभव और रियलिज्म वाली शर्तों की पूर्ति के साथ ही साथ सहज बोलचाल की भाषा में लिखने की पाण्डेयजी वाली शर्त भी पूरी कर दी है, कहानी मुझे और मेरे मित्रों को ही नहीं अपितु स्वयं निरालाजी को बहुत पसंद आई थी किंतु दुर्भाग्यवश यह प्रकाशित कहीं नहीं हो सकी; न माधुरी में न हँस में न और कहीं। सन 37 में अपना साप्ताहिक पत्र 'चकल्लस' निकालने पर मैंने उसे स्वयं ही प्रकाशित किया था। छपने पर उस जमाने के नए लोगों ने उसे बहुत सराहा। लखनऊ के एक बंगाली नवयुवक ने उसका अनुवाद भी किया था। पता नहीं उनकी यह मेहनत बांग्ला पत्र-पत्रिकाओं में सफलीभूत हुई थी या नहीं पर अपने अनुवाद की प्रतिलिपि जो बकलम खुद लिखकर वे मुझे अर्पित कर गए थे, आज भी मेरे पास सुरक्षित है। 'शकीला की मां' कहानी मुझे आज भी प्रिय है और इस संग्रह में अपने विकास की उस पहली मंजिल को मैं पहला स्थान देता हूं।'

इसमें कोई शक नहीं कि यह कहानी जिस तरह शुरू होती है वह अपने आप आपको अपनी तरह इस तरह खींचती है कि आप बंधे बंधे उस आंगन की तरफ चले जाते हैं जो आपके अतीत में बसे किसी घर का नक्शा है या फिर ऐसा कोई मोहल्ला जिधर से आप गुजरे हों!

'कले अमरूद के तीन-चार पेड़ों से घिरा कच्चा आंगन...''

नैय्यर मसूद की कहानी 'ताऊस चमन की मैना' जहां समाप्त होती है, 'शकीला की मां' कहानी वहीं से शुरू होती है। समय ने करवट बदली तो उसमें सांस लेने वालों का भाग्य भी पलट गया। नया जमाना जिन चीजों की मांग करता था वे उन उसे समझ पा रहे थे न ही पुराने रीति-रिवाज को

लेकर जी पा रहे थे। उस दौर का जिक्र एक वाक्य में नागरजी बयान कर देते हैं :

'नवाबी युग की याद में मर्सिया पढ़ती हुई तीन चार कोठरियां। एक में जमीलन, दूसरी में जमलिया, तीसरी में शकीला, शहजादी, मुहम्मदी। वह उजड़े घर वालों के ठहरने की सराय थी।'

कहानी इसी सराय से उठती है उन पेशावर औरतों को लेकर या फिर उन गरीब औरतों को लेकर जिन्होंने मजबूरन यह काम पेट का दोजख भरने के लिए शुरू किया है। कहानी शकीला के घर से भागने से शुरू होती है और फिर दोबारा शकीला के घर लौटने और दोबारा भागने पर खत्म होती है। दिखावे के लिए उसके भागने पर जो शोर हंगामा, लौटने पर मारना और कोसना फिर उसी बीस रुपए से पेट की आग बुझाना जो सुनार के बेटे ने दो दिन शकीला के साथ गुजार कर उसके एक जोड़ी नया कपड़ा, सोने के झुमके के साथ दिए थे। मां को महसूस हुआ था कि यह संबंध कहीं न कहीं जाकर उनके लिए एक नई दिशा खोलेगा मगर उस सुनार के बेटे के दोबारा घर में रात गुजारने के बाद भी शकीला भाग जाती है पता नहीं उस मार से आहत होकर जो पड़ोसन से बात करने के जुर्म में उस पर पड़ी थी। या फिर...? यह सवाल पाठक की अपनी कल्पना शक्ति पर लेखक ने छोड़ दिया है। शकीला के जाने के बाद उसकी मां सजधज कर गली में खड़ी होती है मगर उसे कामयाबी हासिल नहीं होती है और जब शकीला से मिलने सुनार का लड़का फिर आता है तो मां उस पर अपने नाज व अदा के जादू चलाना चाहती है मगर सारी कोशिशें बेकार जाती हैं और मुन्ना उन्हें धक्का देकर भाग जाता है।

कहानी के अंत तक पहुंचते-पहुंचते जहन में सआदत हसन मंटो की कहानी 'हतक' की सुगंधी कौंध जाती है। मंटो की यह कहानी भी यह बाती है कि सुगंधी को यह काम अपनाए केवल पांच वर्ष हुआ है। इसका मतलब है वह पेशेवर परिवार से नहीं है। यह बंटवारे के बाद की लिखी कहानी हो सकती है जब अच्छे घरानों की लड़कियां इस तरह के पेशे में डाली गई या मजबूरन उन्हें यह काम करना पड़ा। सआदत हसन की इस कहानी का शुमार उनकी लोकप्रिय कहानियों में होता है उनकी कलम से बेशुमार कहानियां इस तरह के चरित्रों पर लिखी गई हैं। उनका बयान, भाषा-शैली नागरजी से अलग है मगर जहां कहानी 'हतक' का अन्त होता है वह शकीला की मां से अलग नहीं है। एक मैं ग्राहक का 'उह' कांटा बन सुगंधी के वजूद को सुलगा देता है और वह अपमान से पगला सी जाती है और दूसरी तरफ शकीला की मांग की बेचारगी भरी जिल्लत है जो उसे इस स्तर पर लाकर उसे अपमानित करती है :

'मुन्ना सचमुच में घबरा उठा था।

आखिर उससे न रहा गया। अपनी पूरी ताकत में जमीलन को ढकेलकर भागा।

जमीलन दूर जा पड़ी। समूची शक्ति लगाकर उठना चाहा पर उठ न सकी। वहीं ढह गई। रोष घुमड़-घुमड़ कर उसके अंग-अंग को जैसे उमेठ रहा था। होंठ बार-बार फड़फड़ाकर रह जाते थे, मानो कह रहे हों, 'शकीला, आ जा, बेटी, आ जा।'

जैसे उसकी दोनों बाहें टूट गई थीं, मुहम्मदी भी नहीं, शकीला भी नहीं और वह भूखी थी।

सआदत हसन मंटो की सुगंधी रोटी की नहीं प्यार की भूखी है। इसी के चलते उसने कई शादियां कीं और ग्राहक के झूठे प्यार को भी सच मान कर उससे मानवीय व्यवहार करती रही मगर वह रात जब ग्राहक बीड़ी की रौशनी में उसका चेहरा देख 'ऊंह' कहकर तेजी से कार सरपट दौड़ाता

है तो उसके अहम को गहरी ठेस लगती है और वह बौरा जाती है मगर उसे सही स्थिति का ज्ञान हो जाता है और सपने टूट जाते हैं तभी वह मुफ्तखोर माधो के आने पर अपना आपा खो बैठती है।

'तेरी मां का सिर- तू होता कौन है मुझसे सवाल करने वाला- भाग यहां से वरना... सुगंधी की बुलन्द आवाज सुनकर उसका खारिशजदा कुत्ता, जो सूखी चप्पलों पर मुंह रखे सो रहा था, हड़बड़ाकर उठा और माधो की तरफ मुंह उठाकर भौंकना शुरू कर दिया। कुत्ते के भौकने के साथ ही सुगन्धी जोर-जोर से हंसने लगी।

उसके खारिश वाले कुत्ते ने माधो को कमरे से बाहर निकाल दिया। उसको सीढ़ियां उतारकर जब कुत्ता दुम हिलाता सुगंधी के पास वापस आया और उसके कदमों के पास बैठा कर कान फड़फड़ाने लगा तो सुगंधी चौंकी, उसने अपने चारों तरफ एक भयावह सन्नाटा देखा। ऐसा सन्नाटा जो उसने पहले कभी नहीं देखा था।

कुछ देर तक बेंत की कुर्सी पर बैठी रही। सोच-विचार के बाद भी जब उसको अपना मन परचाने का कोई तरीका न मिला तो उसने अपने खारिशजदा कुत्ते को गोद में उठाया और सागवान के चौड़े पलंग पर उसे पहलू में लिटाकर सो गई।

'शकीला की मां' कहानी का अंत देखें तो वहां सुगंधी वाले तेवर नहीं हैं। शकीला की मां सुगन्ध ी की तरह पेशा कर उन पैसों से सिर्फ प्रेमियों की ही नहीं दूसरों की भी मदद करती है मगर शकीला की मां के यहां बेबसी है वह तन्हा है, उसकी कोई कमाई नहीं है। उसका बस सिर्फ शकीला पर चलता है। शहजादी की बातें उसे अखरती है। जब वह शकीला के इस तरह गायब होने और दोबारा प्रकट हो जाने से आग बबूला हो, हजार सलवातें शकीला को सुनाती है। यह सारी बातें जमीलन को बहुत बुरी लगती है, वह बेटी से कुछ नहीं कहती सिर्फ थोड़ी पूछताछ के बाद उसके खाने के लिए पूरी का बंदोबस्त करती है मगर उस दिन उसके सर पर भूत सवार हो जाता है जब शकीला रोज की लड़ाई रोज की सुलह समझकर जाने किस तरंग में मुंह बोली मौसी से कह उठती है 'मौसी आज पान नहीं खिलाओगी?'

'जमीलन का चेहरा क्रोध से तमतमा उठा। शीघ्रता से आकर शकीला को 'ले, और जाएगी? ले...ले।' धम-धम-धमाधम... शकीला फिर खूब पीटी गई। मुहम्मदी के बीच बचाव करने से छुटकारा पाकर जोर जोर से सिसकती हुई शकीला अपनी कोठरी में चली गई और जमीलन हांफते-हांफते अपनी चारपाई पर।'

इस घटना के ठीक बाद सुनार का बेटा वहां पहुंच जाता है। जमीलन परेशान हो उठती है। बेटी की कोठरी का बंद दरवाजा पीटते हुए कहती है।

'शकीला, अरी शकीला! जरी कुंडी खोल तो बिटिया... अरी मुन्ना बाबू आए हैं' बड़ी देर बाद मां के बार-बार मिन्नत करने के बाद उसने कुंडी खोल दी।

अपनी छाती से शकीला को कसकर जमीलन रोने लगी और शकीला भी। सिसकियों और आंसुओं के बीच जमीलन ने कहा 'अल्लाह करे, मेरे यह हाथ गल जाएं। मेरी बेटी, मेरी बच्ची!' वह उसके मस्तक को दोनों हाथों से अपनी छाती पर कसकर दबाए थी। मुहम्मदी ने कोठरी के द्वार पर खड़े होकर उस दृश्य को देखा और फिर जमीलन से कहने लगी 'पहले तो लेकर पीट डाला और अब फफड़-दलाली करने चली है, वाह री मौसी! ऐसा मना रही हो, अल्लाह कहीं सचमुच ही तुम्हारी

बाहें न काट डाले।' 'शकीला! चल उठ हाथ मुंह धो। रहने दे अब अपने नखरे। चल चल, यह चोंचले बाजी ऊपर जाकर दिखाना। दो-एक झुमके और मिल जाएंगे। सुनार का बेटा है।'

इतने रंग तो इंद्रधनुष के पास भी न होंगे जितने जमीलन के पास हैं। हालात की मारी जमीलन 'रोटी' की मार और 'भूख' की खुरचन को जानती है। उसके लिए मान-मर्यादा, जीवन-मूल्य, पवित्रता यह सारे भाव सिर्फ पेट भरो के चोंचले लगते हैं और जो मुहम्मदी और जमीलन की लड़ाई के बीच, मुहम्मदी का सच भी खुल जाता है जो अपनी जवानी को याद करते हुए शकीला से चिढ़ जाती है उसके आक्रोश में ढलती उम्र का आक्रोश भरा था।

हिंदी साहित्य में नारी-मन की बातें तो बहुत की गई हैं। उनका दुःख, द्वेष, ईर्ष्या, ममता, सुख और प्रतिशोध को हर लेखक ने अपने अनुभव और अवलोकन द्वारा अपने साहित्य में दिखाया है मगर ऐसे नारी मन की तिलमिलाहट जिसमें बेचारगी, बेबसी, बेदर्दी और मजबूरी के साथ उसके औरतपन पर गहरी ठेस लगी हो उस पर कलम उठाना और उसे शब्दों में बांधना बहुत कठिन काम है। खासकर उस औरत के भाव जो जवानी में पेशा करती हो और उम्र के ढलते ही उस बाजार का दरवाजा उसके लिए बंद हो जाए। यह एक ऐसी कुंठा है जो उसके बिलकुल तन्हा छोड़ देती है। अछूत तो वह पहले भी थी सभ्य समाज में, अब अपना आकर्षण खोकर वह अपनी नजरों में भी एक ठुकराई इनसान और कोढ़ी औरत का रूप ले लेती है। ऐसे चरित्रों पर कलम उठाना फिर उस से हमदर्दी भरा बर्ताव करना कोई मामूली बात नहीं है क्योंकि यह सिर्फ कहानी या कहानी के चरित्र तक प्रश्न नहीं बल्कि यह लेखक की मानसिकता को भी दर्शाती है कि उसके दिल व दिमाग के दरवाजे ऐसे पात्रों के लिए भी खुले हैं। उसकी मानवीय दृष्टि को भी दर्शाते हैं कि उसमें भेदभाव और किसी भी तरह का पक्षपाती दृष्टिकोण अपने चरित्रों को गढ़ते हुए उसके कलम के आगे नहीं आता है। उसका उदार मन उसकी सूक्ष्म दृष्टि जीवन की किन तहों में जाकर इनसानी अनुभूतियों को अपने कलम के द्वारा कागज पर उतार लेता है, यह कमाल ही तो है। 'शकीला की मां' कहानी में कहानी के चरित्रों और माहौल के मुताबिक उन्होंने लखनऊ की आम बोलचाल की भाषा को बड़ी खूबसूरती से सामने रखा है। उन्होंने अपनी सादा जबान बल्कि कहानी वाली जबान लिखवाने का श्रेय कई लोगों को दिया है।

'अगस्त सन 35 ई. में मेरा पहला कहानी-संग्रह प्रकाशित हुआ। उसकी एक प्रति सम्मत्यर्थ प्रेमचंदजी की सेवा में भेजी। उनका पत्र भी आया। वाटिका में फूलों की खुशबू तो उन्हें अच्छी लगी पर साथ ही यह भी लिखा मैं तुमसे रियलिस्टिक कहानियां चाहता हूं।' कलकत्ते में शरतचंद्र चट्टोपाध्याय के दर्शन करने पर उनसे भी यही मंत्र मिला था जो लिखो वह अपने अनुभव से लिखो। लेकिन इन दोनों ही महान लेखकों के उपदेश मन में चकफेरी लगाते रहने के बावजूद तब तक अपना कोई केंद्र स्थापित नहीं कर पाए थे। डिक्शनरियों से कठिन शब्द खोज-खोज कर कवित्वमय कथा-शैली में उनका प्रयोग करने से ही अपनी शान समझता था। मुझे याद है प्रेमचंद का पत्र पाने के तुरंत बाद ही मैं एक वैसी ही महान लघुकथा लिखकर उसे 'माधुरी' के संपादक स्व. पं. रूपनारायण पाण्डेयजी की सेवा में ले गया। कहानी पर नजर डालकर पाण्डेयजी अपने सहज मीठे ढंग से बोले, 'भैया, तुम बहुत विद्वान हो गए हो, अब तुम्हारी कहानियों के नीचे फुटनोट लगाने पड़ेंगे।'

इसके आगे उन्होंने लिखा कि फिर काफी दिनों तक मैं कुछ लिख न पाया। मोपांसा की कुछ

कहानियों का अनुवाद किया, उसमें भी छायावादी शैली थी। 1936 में नागरजी की भाषा शैली में जो बदलाव आया वह 'शकीला की मां' कहानी थी। इस कहानी को पढ़कर कुछ पाठक यह भी कह सकते हैं कि यह उर्दू कहानी है और आज का पाठक जिसके पास एक भाषा का ज्ञान है वह यह भी कह सकता है कि उर्दू के शब्दों की बहुत भरमार है यह हिंदी कहानी कैसे हो सकती है? यदि आप गंगा-जमनी इलाके में रहते हैं तो इन दोनों नदियों का बांकपन जानते और महसूस करते हैं और जब आप उस आदमी की कहानी लिखने बैठते हैं तो उसे दोआबा की जमीन से वही भाषा अपने कल्ले फोड़ती है जो कहानी का किरदार बोलता है। आप उसका अनुवाद करके उसके मुंह से संवाद नहीं कहलवा सकते हैं यदि कहलावते हैं तो फिर वह बेहद बनावटी और सतह के ऊपर से गुजर जाने वाले कहानी होगी।

भाषा को लेकर मैंने 1984 में नागर जी से एक साक्षात्कार लिया था। जो 1990 में संडे आब्जर्वर में छपा था जिस में मेरे सवाल कि बरसों पहले अमीर खुसरो जो भाषा लिख गए या आप जो भाषा लिखते हैं उस में उर्दू हिंदी भाषा के शब्द बराबर से अपनी जगह बनाते हैं मगर आज के लेखन में यह बात कुछ के लिए बहस का मुद्दा बन गई है कि कौन सा शब्द हिंदी का है और कौन सा उर्दू का, इस संदर्भ में शब्द की पहचान महत्वपूर्ण है या भाषा का सच और भावना का प्रवाह? इस प्रश्न के जवाब में उन्होंने कहा था 'हिंदी-उर्दू भाषा तो मेरी घुट्टी में है। हम क्या करें? वह लखनऊ कुछ और था। उस समय एक हिंदी लड़का मुशायरों में भी उसी तरह शे'र सुनने जाता था, जैसे मोहर्रम की मजलिसों में मर्सिया सुनने। अनीस के मर्सिये कहने का अपना ढंग था जो ड्रैमेटिक था। गाने की वह 60-70 वर्ष पहले की परंपरा हम को सीधे मर्सिये से सुनने को मिलती थी। यह बात आज न हिंदू लड़का ठीक से बता पाएगा, न मुसलमान।

मेरा दूसरा प्रश्न था तो फिर गंगा-जमनी तहजीब की जो बात है, वह क्या सिर्फ चर्चा बनकर रह गई है? उनका जवाब था : 'मैं तो गंगा-जमनी तहजीब का पैदावार हूं मगर हकीकत यह है कि अब इसकी केवल चर्चा रह गई है और उसे वे लोग करते हैं जो सियासी हैं, फायदा उठाना चाहते हैं। यह खुली बात कहने का बुरा माना जा सकता है मगर मेरे अंदर भी कड़वाहट सी आ गई है। यह कड़वाहट हकीकत से करीब है आज गंगा-जमुनी संस्कृति की जो भी चर्चा करता है वह झूठी बात कहता है क्योंकि इस पर विश्वास बहुत कम लोग करते हैं। एक जोगी को आसिफुद्दौला ने हजार गाएं दी। उसे ताल्लुकेदार बना दिया जो आज हजारा बाग के नाम से मशहूर है। यहां पर मसीहउद्दीन हैदर नाम का वसंत का मेला हुआ करता था जिसकी तस्वीरें देखने को मिल जाएंगी। इस एकता में शियों से पहले उसमें सूफियों का बहुत बड़ा हाथ था। जो भावना शिया सल्तनत के खुलेपन में खूब फली-फूली खासकर आसिफुद्दौला के जमाने में, जब तक गियासउद्दीन शाह को अंग्रेजों ने बादशाह नहीं बना दिया। हिंदू-मुसलमान एकता का रंग दरबारी तौर पर भी एक था। सआदतगंज नाम की जो बस्ती बसी, उसमें रहने वाले हिंदू बहुसंख्यक हैं। यहां पर शिया धर्म जो बढ़ा, वह इसलिए हरगिज नहीं बढ़ा कि उसने दूसरों के धर्मों की महिमा को कम किया, उन पर अंकुश लगाया बल्कि सआदत अली खां (1801) में कांगड़ा के बड़े विद्वान आकर बसे। वाजिद अली शाह के जमाने में तीन पंडितों की पाठशालाएं थीं। मैं यह बताना चाहता हूं कि जिसने भी इतिहास लिखा, उसने आधे लखनऊ के बारे में लिखा, विशेषकर मुसलमान इतिहासकारों ने ऐसा करके अपना

ही नुकसान ज्यादा किया।' उनके इस जवाब के बाद मेरा कहना था कि उस अधूरे इतिहास की एक और हकीकत यह भी है कि औरंगजेब की उग्रता पूरा भारत जानता है मगर आसिफुद्दौला की उदारता केवल लखनऊ तक सीमित होकर रह गई है।

अमृतलाल नागरजी से यह मेरी महत्वपूर्ण बातचीत बहुत अहम मुद्दों पर हुई थी क्योंकि पक्षपाती नजरिया आम इनसान को कितना कष्ट देता है पता नहीं मगर भाषा के इस भेदभाव का बेहद बुरा व गहरा प्रभाव हमारे लेखन पर पड़ता है क्योंकि हर शब्द की अपनी जगह और तरंगें हैं जो बहुत दूर तक पढ़ने वालों के दिल व दिमाग में धड़कती हैं। और हर शब्द का एक संस्कार एक सिक्का चलता है बतौर मिसाल नागरजी अगर 'शकीला की मां' कहानी को 'धर्म संकट' कहानी वाली भाषा में लिखते तो वह कहानी ही कहलाती मगर उसमें परिवेश का वह रंग न उभर पाता जो सीध ो पाठकों को प्रभावित करता। भारी शब्दों से सजाकर कहानी लिखी जा रही है उर्दू-हिंदी में, सिर्फ यह साबित करने के लिए। जी! हम खालिस उर्दू या हिंदी लिखते हैं मगर यह नहीं जानते कि जिस शब्द को आप खालिस हिंदी-उर्दू का समझ रहे हैं वह असल में उर्दू का है या हिंदी का, इसे कौन साबित करेगा? कहानी की जबान आम फहम और आम बोलचाल वाली होनी चाहिए। नागरजी ने अपनी कहानी में 'जरी' का प्रयोग किया है क्योंकि लखनऊ में 'जरा' का प्रयोग नहीं होता था। आज भी कुछ लोग 'जरी' का ही प्रयोग करते हैं। यदि आप डोमनियों पर लिखी भारतीजी की कहानियां पढ़ेंगे तो आपको वह भाषा 'सूरज का सातवां घोड़ा' उपन्यास से अलग लगेगी और यही हमारी गंगा-जमुनी संस्कृति है।

नागरजी की कुछ कहानियां ऐसी हैं जिन्हें पढ़ते हुए अचानक लगने लगता है कि जैसे नागरजी खुद कहानी सुना रहे हों, उनकी आवाज बाकायदा आपके कानों में गूंजती रहती है जैसे 'आदमी : जाना पहचाना' नाम की कहानी। यह उनके मिजाज की कहानी है जो एक साथ इतिहास मनोविज्ञान, समाज और बटवारे की त्रासदी को झेलते एक ऐसे परिवार की कहानी बन जाती है जिसको पढ़ते हुए महसूस होता है कि इनसान अपनी एक जिंदगी में बदलते हालात की कितनी कलाबाजियां खाता है। शत्रुता इश्क, अपमान भरी दुर्घटनाओं में धर्म की भूमिका कैसे अपने पैंतरे बदलती है। वह ध र्म जिसके चलते आदमी मरने मारने को तैयार हो जाता है उसी धर्म को अपनी इच्छाओं और स्वार्थ के चलते पलक झपकते में छोड़ देता है। यही नहीं वह दूसरों के धर्म का अपमान करना भी नहीं भूलता। इस कहानी की भाषा बेहद गठी और पर्तदार है किरदारों की तलाश भी परिस्थितियों का दर्पण दिखाती है।

एक और कहानी जो पंडित और मौलाना के बीच किस्सागोई के रूप में चलती है 'एक दिल हजार दास्तां' अपने वर्णन, गुजरे लखनऊ का बखान, भाषा, नैतिक प्रश्न, इंसानी कमजोरियों को लेकर जिस तरह जहन की पगडंडियों से गुजरती है उसमें रस ही रस है और एक बेहद गहरा सबक मर्दों के लिए मौजूद है वैसे तो कहानी में अनेक नजरिए और अतीत के लखनऊ की झलकियां उसी दौर की भाषा शैली में लिखी गई है जो उस दौर के सांस्कृतिक परिदृश्य को उजागर करती है। यह सारे वर्णन आपको इतिहास की किताबों में नहीं मिलेंगे। इतनी सुंदर उपमाओं से सजी भाषा समय की नब्ज बनकर धड़कती है। इस कहानी से उदाहरण तो बहुत दिए जा सकते हैं परंतु कौन सा ऐसा टुकड़ा उद्धृत किया जाए? जिन पाठकों ने उनकी यह कहानी पढ़ रखी है वह एक बार फिर

पढ़ें और जिन्होंने नहीं पढ़ी है वह मेरे आग्रह पर इसको जरूर पढ़ें और खासकर उन लेखकों व पाठकों से मेरा निवेदन है जो स्त्री-विमर्श के इस दौर में ऐसी कहानियों को पढ़ना चाहते हों जो स्त्री समस्या पर आधारित तो भी यह कहानी उस खाते में सीधे नहीं जाती है मगर बड़ी कलात्मकता के साथ मर्द की स्वीकृति को दर्शाती है जब वह कहानी के अंत में कह उठता है।

'बरसों बाद मेरा संगदिल पिघलकर पानी-पानी हो गया। गाड़ी गैबी पीरघाट पहुंच चुकी थी। मोटर से उतरकर ऊंची पहाड़ियों के साए में मैं खड़ा हो गया। कुदरत की हर शै मुझ पर फटकार बतला रही थी। पीर की मजार पर मैंने रो-रो कर कसम खाई 'अब नहीं, अब नहीं।'

तवायफों पर लिखा सबसे सशक्त उपन्यास 'उमराव जान अदा' है, 'लैला के खुतूत' हैं, 'गुलाम अब्बास', 'मुमताज', 'मुती', 'आगा बाबर' की कहानियां हैं जिसमें ऐसी महिलाओं की भावनाओं, मजबूरियों और परिवेश का बयान है। यह सारी कहानियां साहित्य की बेजोड़ कहानियां हैं लेकिन जो बात किसी भी कहानी में नहीं है वह 'एक दिल हजार दास्तां' में है। कभी मर्द ने अपनी सारी हमदर्दी के बावजूद अपने को गुनाहगार नहीं माना कि इन सारी परेशानियों की जड़ में वह खुद है। कोठे, उसी के लिए आबाद हुए जिस पर कला और संस्कृति की चिलमनें डाल दी गईं। यह सच केवल कल का नहीं है बल्कि आज का कड़वा यथार्थ है भले ही उसका नाम बाजारवाद और आधुनिकतावाद का दे दिया जाए।

अमृतलाल नागरजी की अन्य कहानियां 'मां-बाप और बच्चे', 'मोती की सात चलनियां', 'सूखी नदियां', 'एटम बम', 'छापे के हुरुफ', 'गोरखधंधा', 'कादिर मियां की भौजी' इत्यादि हैं जो भाषा, कथावस्तु के देखते काफी रोचक हैं। हर कहानी विभिन्न विषय पर लिखी गई हैं। उनकी कहानियों की भाषा में व्यंग्य का पुट है और कई जगह रेखाचित्रों जैसा खाका चरित्रों का खींचा गया है जो पात्रों की हुलिया को सामने लाकर खड़ा कर देता है।

कहानी पत्रिका के संपादक श्रीपतजी का कहना था कि लेखक को खुद को बेदर्दी से अपने कलम से निकले गैर जरूरी गद्य को फाड़ देना चाहिए। नागरजी ने भी कुछ ऐसा ही किया। शब्दकोश देखकर बड़े-बड़े शब्दों से सजी और छपी कहानियां कहां गईं उन्हें नहीं मालूम और उनके इस तरह खो जाने का उन्हें कतई मलाल नहीं है। एक निष्ठावान लेखक की तरह वह अपनी कमजोरियों के प्रति भी उतने ही ईमानदार रहे जितना अपने लेखन के प्रति वह समर्पित रहे।

●

संवाद

‘हस्तक्षेप सार्थक होना चाहिए’

कवि-आलोचक विश्वनाथ प्रसाद तिवारी का नाम साहित्यिक क्षेत्र में किसी परिचय का मोहताज नहीं है। कविता, आलोचना, यात्रा वृत्तांत, संस्मरण विधाओं में उनकी दर्जनों कृतियां प्रकाशित हो चुकी हैं। इन दिनों उनकी आत्मकथा ‘अस्ति और भवति’ चर्चा के केंद्र में है। वे लेखकों की शीर्ष संस्था साहित्य अकादेमी के अध्यक्ष भी हैं। प्रस्तुत है विश्वनाथ प्रसाद तिवारी से उनके रचना-कर्म पर केंद्रित साधना अग्रवाल की बातचीतः

हिंदी में अब तक जिस तरह साहित्यकारों के साक्षात्कार लिए जाते रहे हैं उससे थोड़ा अलग हटकर, यदि आप अनुमति दें तो आपके कवि, आलोचक और संपादक के बारे में कुछ प्रश्न मैं पूछना चाहती हूं– मुझे मालूम है आपने अपने लेखन का आरंभ कविता से किया लेकिन आपकी पहली पुस्तक 1968 में प्रकाशित हुई ‘छायावादोत्तर हिंदी गद्य साहित्य’। मेरे मन में यह जानने की उत्सुकता है कि यह कवियों का लिखा गद्य साहित्य है या आलोचक का, आप इसके बारे में कुछ कहें।

मेरी पहली प्रकाशित पुस्तक छायावादोत्तर हिंदी गद्य साहित्य मेरा शोध ग्रंथ है जो पी-एच.डी. उपाधि के लिए प्रस्तुत किया गया था। वह पच्चीस वर्ष की आयु में लिखा गया था और शोध की तकनीकी सीमाओं में भी था। वह न तो कवियों के गद्य साहित्य के बारे में है, न आलोचकों के। वह 1936 से 1960 के बीच के संपूर्ण हिंदी गद्य साहित्य के बारे में है। उस पुस्तक से मैं संतुष्ट नहीं था अतः उसका पुनर्मुद्रण नहीं कराया। बाद में मैंने कई गद्यकारों के बारे में अलग से लिखा जैसे : हजारी प्रसाद द्विवेदी, कुबेरनाथ राय आदि तथा अनेक गद्यकारों पर लिखे मेरे निबंधों के दो अन्य संकलन प्रकाशित हुए ‘गद्य के प्रतिमान’ और ‘गद्य का परिवेश’।

अनुमानतः आप लगभग चार-पांच दशकों से आलोचना के साथ कविताएं लिखते रहे हैं। अब तक आपके सात कविता-संग्रह भी प्रकाशित हो चुके हैं। ‘चीजों को देखकर’ से लेकर ‘फिर भी कुछ रह जाएगा’ तक मेरे मन में यह उत्सुकता है कि समकालीन कविता में आपने कहां हस्तक्षेप किया?

समकालीन कविता में मैंने कहां हस्तक्षेप किया, इसका विश्लेषण और लेखा-जोखा तो आलोचकों का क्षेत्र है। मेरा पहला कविता संकलन ‘चीज़ों को देखकर’ वर्ष 1970 में प्रकाशित हुआ। कविता का वह सातवां दशक क्रांति, विद्रोह और आक्रामक कविताओं का था। नक्सलवादी और अकवितावादी प्रवृत्तियों का समय था वह। अनास्था और सेक्स कुंठाओं की उच्छृंखल अभिव्यक्तियों का दौर। उस समय में ‘चीजों को देखकर’ की कविताओं की शांत मनःस्थिति और अभिव्यक्ति, संयम तथा संतुलन यदि कोई हस्तक्षेप स्वीकार किया जाए तो किया जा सकता है। ‘साथ चलते हुए’ नाम से मेरा दूसरा संकलन 1976 में छपा। यह भारत में आपातकाल का समय था। इसके कुछ पहले बांग्लादेश का मुक्ति संग्राम घटित हो चुका था। इन दोनों ही ऐतिहासिक परिस्थितियों का सीधा

संदर्भ उस संकलन की कविताओं में है। इस संकलन की कविताओं में विद्रोह और आक्रामकता है। रूसी आलोचक अलेक्सांद्र सेंकविच ने इस संग्रह पर विस्तार से लिखते हुए लक्ष्य किया है कि 'ये कविताएं धूमिल की कविताओं से ज्यादा 'रेडिकल' हैं।'

अपने समय की कविता में हस्तक्षेप करने वाली कविता सदा श्रेष्ठ नहीं होती। हस्तक्षेप सार्थक होना चाहिए। अन्यथा सातवें दशक की तेजाबी कविताओं से बड़ा हस्तक्षेप क्या होगा? पर आलोचकों ने उन कविताओं की निंदा ही की है। कोई भी कवि लिखते समय अपने भावों और विचारों को सही शब्द देना चाहता है, जो उसे इसी दुनिया से मिले होते हैं। जब तक वह भाषा और फार्म में कोई व्यापक तोड़-फोड़ करके अभिव्यक्ति में कोई चमत्कारिक बदलाव न उपस्थित कर दे और यह बदलाव भी व्यापक लोकचित्त के परिस्कार के लिए न हो, उसका हस्तक्षेप ग्राह्य नहीं होता।

कविता, आलोचना के अतिरिक्त 1978 में आपने साहित्यिक पत्रिका 'दस्तावेज' का आरंभ किया। आरंभिक दस वर्षों तक यह पत्रिका ठीक-ठाक निकलती रही लेकिन आज जिस तरह यह पत्रिका निकल रही है, अब उसकी कोई सार्थकता नहीं दिखती, कृपया बताएं 'दस्तावेज' के संपादन से आपका इतना मोह क्यों है?

चीजों को हम जिस बिंदु से देखते हैं, वे वैसी ही दिखती हैं। संभव है आप जहां स्थित होकर देख रही हैं वहां से 'दस्तावेज' के अंक सार्थक न लगते हों पर उसके दस वर्ष पूरे होने के बाद राहुल सांकृत्यायन, भोजपुरी कविता, गीत और गजल, महात्मा गांधी, हिंद स्वराज, जैनेन्द्र कुमार, मराठी कविता आदि पर निकले अंकों को पाठकों ने सराहा तथा उसमें प्रकाशित लेखकों के लगभग एक हजार पत्रों को विशेष महत्वपूर्ण माना। आपके अनुसार 'आरंभिक दस वर्षों तक यह पत्रिका ठीक-ठाक निकलती रही' पर कुछ लोगों ने तो इसके पहले-दूसरे अंक के बाद ही इसे निरर्थक मान लिया क्योंकि यह मार्क्सवादी स्टैंड लेने वाली पत्रिका नहीं थी। ऐसे लोगों के पत्र 'दस्तावेज' के आरंभिक अंकों में प्रकाशित हैं। फिर मैं आपकी राय को क्या कहूं? 'दस्तावेज' के संपादन से मेरा मोह स्वाभाविक है क्योंकि मैं उसका जन्मदाता हूं और उसके संघर्ष में पिछले 36 वर्षों से साथ हूं। कुछ दिनों पूर्व भारत भारद्वाजजी ने मुझे सुझाव दिया कि उससे अपने संपादक का नाम हटा लूं लेकिन अनन्तकीर्ति ने स्वीकार नहीं किया। फिर भी सोचता हूं 151वें अंक से उसमें 'आलोचना' जैसा परिवर्तन तो कर ही दूं।

'दस्तावेज' के संपादन के दौरान आपने अज्ञेय, हजारी प्रसाद द्विवेदी, प्रेमचंद, आठवें दशक की हिंदी कविता और आठवें दशक की हिंदी आलोचना, जो वस्तुतः 'दस्तावेज' के विशेषांक थे का संपादन भी किया, पुस्तकाकार रूप में छपवाया भी, इसके पीछे आपका क्या दृष्टिकोण था?

'दस्तावेज' के अब तक 144 अंक निकल चुके हैं। इनमें केवल छः अंकों की पांच-पांच सौ प्रतियां पुस्तकाकार थीं। ऐसा इसलिए कि इनकी छपाई जिन प्रकाशकों ने की थी, उनका भुगतान वे पुस्तकाकार प्रतियों से ले लें। मेरे पास भुगतान के पैसे न थे। इसको लेकर एक व्यक्ति ने आपत्ति भी की। अब उस तीस वर्ष पुराने विवाद को लिखकर मन को पुनः अशांत नहीं करना चाहता। हां, यह जरूर कहना चाहता हूं कि पुस्तकाकार प्रतियों से मुझे आज तक एक पैसा भी नहीं मिला।

संस्कृत के आचार्यों से लेकर हिंदी के अनेक आचार्यों ने कविता को परिभाषित करने की कोशिश की जैसे आचार्य शुक्ल ने 'सरस्वती' में लेख लिखा 'कविता क्या है' और नामवर सिंह

की पुस्तक 'कविता के नए प्रतिमान' का पहला लेख भी 'कविता क्या है'। आपकी एक आलोचनात्मक पुस्तक का शीर्षक है 'कविता क्या है' क्या आपको लगता है कि कविता अब तक अपरिभाषित रह गई है?

आपके इस प्रश्न के उत्तर में अपनी पुस्तक 'कविता क्या है' की 'भूमिका' की कुछ पंक्तियां उद्धृत करना चाहता हूं- 'कविता की कोई एक सर्वसम्मत परिभाषा दे पाना कठिन है। अत्यंत प्राचीन काल से, सारी दुनिया में, कवि, दार्शनिक, आचार्य, आलोचक और प्रबुद्ध विचारक काव्य की अपनी-अपनी परिभाषा देते रहे हैं। 'कविता' क्योंकि 'कवि' की अर्थात् एक चेतन मनुष्य की 'मानसकृति' है, अतः इसका किसी कारखाने में बनी हुई 'वस्तु' के समान तात्विक विश्लेषण संभव नहीं है और इसीलिए इसका कोई एक सर्वमान्य निष्कर्ष प्रस्तुत करना भी कठिन है। अलग-अलग कालों में और अलग-अलग देशों में कविता के प्रतिमान भी बदलते रहे हैं।'

मेरे मन में एक और सवाल उठता है कि आपके मन में कविता और आलोचना को लेकर एक द्वंद्व है। न तो आप आलोचना छोड़ सकते हैं और न कविता लिखना। हिंदी में अशोक वाजपेयी को कवि-आलोचक कहा जाता है। वैसे अशोकजी अब आलोचना से मुक्त हो गए हैं और मूलतः कवि ही हैं लेकिन आप आलोचना और कविता के धरातल पर किस तरह सामंजस्य बैठाते हैं, यह जानने की मेरी उत्सुकता है?

कविता और आलोचना को लेकर मेरे मन में कोई द्वंद्व नहीं है। मेरे मन को कविता या कहें कि रचना (मैंने गद्य की अन्य विधाओं में भी लिखा है) में ही सुख और संतोष मिलता है। वैसे आपकी सूचना के लिए बता दूं कि मैंने आलोचना लिखना छोड़ दिया है। व्यावहारिक आलोचना लिखना तो काफी पहले छोड़ चुका हूं।

अब तक प्रकाशित आपके सात कविता-संग्रहों में संकलित कविताओं में समाज, परिवार, प्रेम, प्रकृति के साथ आपके तमाम जीवनानुभव हैं, मुझे आपकी जो कुछ कविताएं याद रह गई हैं-- 'आरा मशीन', 'बेहतर दुनिया के लिए', 'उड़ गई मां', 'पुस्तकें', 'स्त्री की तीर्थयात्रा' आदि उनके बारे में, उनकी सृजन प्रक्रिया के बारे में जानना चाहूंगी, खासकर 'मां' सीरीज वाली कविता।

अपनी 'आरा मशीन', 'पुस्तकें' और मां के बारे में लिखी गई कविताओं के बारे में मैंने अपनी डायरी 'दिन रैन' में जो लिखा है उसे ही उद्धृत कर देना चाहता हूं-- 'आरा मशीन-- मैं जिस कमरे में रहता हूं उसके ठीक बगल में एक आरा मशीन है। जब चलती है वह तो अपनी खिड़कियां बंद कर लेता हूं। तब ताजा हवा बंद हो जाती है, बाहर के परिदृश्य का दिखना बंद हो जाता है, रह जाती है उसकी आवाज कानों में धंसती हुई। लगता है वह बाहर नहीं, मेरे सीने को चीरती निकलती है। इस यातना से बरसों जूझते रहने के बाद, अचानक एक दिन फूट पड़ी वह कविता जिसमें जमाने का आतंक भी समाया हुआ है।

मेरे घर में असंख्य पुस्तकें हैं। मुझे स्वयं नहीं पता, कौन-सी किताब कहां है। आधा घर पुस्तकों से भरा है। बंडलों में बंधी, डिब्बों के भीतर, मेज-कुर्सियों-- तख्तों पर पड़ी। तमाम तो दीमकों का आहार बन चुकीं। इन्हें झाड़-पोंछकर धूप दिखाने और सजाकर रखने के लिए न जगह है, न मेरे पास समय। बहुत पुस्तकें पुस्तकालयों को दे दीं। इनकी सुरक्षा की चिंता बराबर लगी रहती है। इसी मनोव्यथा से निकली मेरी कविता-'पुस्तकें'।

हर व्यक्ति की एक मां होती है जिसके दुनिया से चले जाने के बाद महसूस होता है कि कोई ऐसा चला गया जो बेटे के सुख के लिए उसके दुःखों को स्वयं से लेने में भी सुख का अनुभव कर सकती थी। मुझे भी ऐसा महसूस हुआ और एकांत में मां के लिए कई बार रोया। उस वेदना में मैंने सात कविताएं लिखीं जिनसे किसी को कुछ मिले या नहीं, मेरी वेदना का शमन हुआ।'

मुझे लगता है कवि की गहरी वेदना ही कविता को शक्ति दे सकती है। बाहर का दर्द जब तक कवि के भीतर का निजी नहीं हो जाता, कविता में प्राण प्रतिष्ठा नहीं होती।

आपकी रुचि संस्मरण में भी है। यदि मैं नहीं भूलती तो आपकी संस्मरण पुस्तक 'एक नाव के यात्री' में आलोचक परमानंद श्रीवास्तव पर एक मार्मिक संस्मरण है, जिसके अंत में आपने लिखा है, 'हमारा होना ही एक-दूसरे के लिए पर्याप्त है। मैं सोचता हूं हम दोनों में 'एक' जिस दिन इस शहर में नहीं रहेगा 'दूसरा' अपने को निपट अकेला महसूस करेगा।' अब परमानंदजी जब इस दुनिया में नहीं हैं तो गोरखपुर में आप अपने अकेलेपन को किस रूप में देखते हैं?

अब जबकि परमानंदजी नहीं हैं तो उनके उत्तर जीवन की गतिविधियों के बारे में कुछ आलोचनात्मक लिखना उचित नहीं है। हालांकि एक ही नाव का यात्री होने के कारण स्वयं उन्हीं से मैं बहुत कुछ कह दिया करता था। उन्होंने शुरू में निःसंदेह इस शहर में एक साहित्यिक वातावरण बनाया मगर परवर्ती काल में उनका स्वभाव और साहित्यिक गतिविधियों में उनकी भूमिका मेरे लिए इतनी तकलीफदेह रही कि उनके जीवनकाल में ही मैं अकेला महसूस करने लगा था।

आपके लेखन के अनेक पक्ष हैं जिसमें यात्रा संस्मरण भी हैं और इस पर अब तक आपकी दो पुस्तकें भी प्रकाशित हो चुकी हैं 'आत्म की धरती' और 'अंतहीन आकाश'। आप धोती-कुर्ता पहनकर देश-विदेश घूमते अनुभवों को यात्रा संस्मरण में संयोजित करते हैं, आपके यात्रा संस्मरणों में एक कहानीकार की तरह नैरेशन ही नहीं होता है बल्कि रेणु की तरह रिपोर्ताज शैली में उस विदेशी धरती की धड़कन भी होती है, ऐसा लगता है जैसे किसी कैमरे की आंख से आप दुनिया को देख रहे हैं, यह कला आपने कहां से सीखी?

यात्रा संस्मरण लिखने की कला मैंने भी लेखकों को पढ़ते-पढ़ते वैसे ही सीख ली जैसे भाषा। न भाषा मेरी बनाई हुई है, न लिखने की कला। सब अपने पूर्व के लेखकों से ही प्राप्त है। आपका भाव मेरे प्रति अच्छा है इसलिए आपको मेरे यात्रा संस्मरण प्रीतिकर लगते हैं। हां, यात्राओं में मैं सचेत रहता हूं और जिस स्थान की यात्रा करता हूं वहां के इतिहास, भूगोल, परंपरा, संस्कृति और प्रत्यक्ष जीवन को अधिक-से-अधिक पकड़ने की कोशिश करता हूं। इसके लिए वहां के लोगों से संपर्क भी करता हूं। इससे अधिक इस संबंध में क्या कहूं?

सवाल और भी हैं, आप साहित्य अकादेमी के पहले संयोजक हुए, फिर उपाध्यक्ष और अब अध्यक्ष। आप हिंदी के पहले अध्यक्ष हैं, इस पर क्या कहना चाहेंगे?

साहित्य अकादेमी के बारे में अनेक साक्षात्कारों में कह चुका हूं। मैं हिंदी का पहला अध्यक्ष जरूर हूं पर मुझसे पहले अन्य भाषाओं के अनेक बड़े लोग इसके अध्यक्ष रहे हैं। मैं अपने को एक साधारण व्यक्ति पाता हूं। हां, यह जरूर कहना चाहूंगा कि अकादेमी के लिए जो भी मुझसे संभव है, करूंगा और कभी भी अपने हित में अकादेमी का शोषण नहीं करूंगा। अकादेमी से संबद्ध सभी लोग और कर्मचारी इस बात को जानते और महसूस करते हैं।

मेरे मन में यह जानने की इच्छा है कि विश्व के किन कवियों, लेखकों, आलोचकों ने आपको सबसे ज्यादा प्रभावित किया। कभी आपने पाब्लो नेरुदा की प्रेम कविता Tonight I can write का हिंदी में अनुवाद किया था। विश्व कवियों में आपने मायकोवस्की, ब्रेख्त, नेरुदा, नाजिम हिकमत आदि की कविताएं तो पढ़ी होंगी, इन कवियों की तुलना में आप हिंदी कवियों को कहां रखते हैं?

विश्व के कवियों-लेखकों से ज्यादा मुझे भारतीय कवियों-लेखकों ने प्रभावित किया है। रचना अपने देखे हुए संसार-सागर के रूप-तरंगों और अपनी अनुभूत परिस्थितियों से पैदा होती है। अतः अन्य देशों के महाकवियों से हिंदी कवियों की तुलना की तो जा सकती है, पर वह बहुत सार्थक नहीं होगी। उन कवियों की काव्य-परंपराएं और परिस्थितियां भिन्न हैं। मुझ पर प्रभाव अपनी भारतीय परंपरा और भारतीय महाकाव्यों का है। संस्कृत हिंदी की जननी है अतः हिंदी में स्वाभाविक रूप से संस्कृत का भाव-विचार भी उतर आया है। आपने ठीक ही कहा है कि मैंने नेरुदा की कुछ प्रेम कविताओं का अनुवाद किया था और अफ्रीका के आधुनिक कवियों का भी। यह आज के लगभग तीस वर्षों पहले की बात है।

कभी नोबेल पुरस्कार प्राप्त लेखकों से एक सवाल पूछा गया कि किन लेखकों को उन्होंने नहीं पढ़ा है। उनके जवाब थे- किसी ने मिल्टन को, दांते को, चौसर, शेक्सपियर, सर्वांतीस और टॉलस्टॉय को नहीं पढ़ा। कृपया आप मुझे बताएं जिनको आप पढ़ना तो चाहते थे लेकिन अब तक पढ़ नहीं पाए?

मैंने विदेशी लेखकों को पढ़ा तो बहुत है मगर विधिवत किसी को नहीं पढ़ पाया। किसी के एक-दो उपन्यास, एक-दो कविता संग्रह या एक-दो अन्य विधाओं की कृति से ही गुज़र सका। यह पल्लवग्राहिता है। इच्छा तो पढ़ने की बहुत है, खासतौर से उन सभी कृतियों को जिन्हें नोबेल पुरस्कार मिला था या जो विशेष चर्चित रहीं या जिनका साहित्य पर व्यापक प्रभाव पड़ा, पर समय की सीमा है। अगर स्वास्थ्य ठीक रहा तो आगे यह इच्छा पूरी होनी चाहिए।

इधर आपकी बेतरतीब ढंग से लिखी डायरी पुस्तक 'दिन रैन' आई है, जिसकी आजकल खूब चर्चा है। इस डायरी में आपने अपने जीवन, समाज, परिवार, परिवेश, विश्वविद्यालय के साथ साहित्य अकादेमी से जुड़े अनुभवों को दर्ज किया है। मुझे आपके अध्यक्ष निर्वाचन के बाद इंडिया इंटरनेशनल सेंटर के अपने कमरे में आपके भावुक मन का एक अद्भुत दृश्य देखने को मिला, जो किसी पाठक को हिला सकता है। यह भावुकता आपकी आलोचना में तो कम लेकिन आपकी कविता, डायरी में जहां-तहां दिखती है। भावुकता को बौद्धिकता से आप किस तरह अलग करते हैं?

भावुकता और बौद्धिकता के बारे में मैं कई जगह लिख चुका हूं। कुछ कवि बंधुओं को पत्रों में। मेरा एक लेख ही है जिसका शीर्षक है-- 'साहित्य का केंद्र : संवेदना या विचारधारा'- जो कसौटी पत्रिका में छपा था। मैं 'भाव' को महत्त्वपूर्ण मानता हूं। भाव से ही विचार भी पैदा होता है। निरी बौद्धिकता से रचना संभव नहीं है, हां इतिहास, समाजशास्त्र और अर्थशास्त्र भी पुस्तकें लिखी जा सकती हैं। भाव ही रचना और कर्म के भी प्रेरक होते हैं। मेरी कविता, डायरी, यात्रा संस्मरण और आत्मकथा सभी में आपको भावुकता मिलेगी। भाव और बुद्धि का विवेचन आचार्य शुक्ल ने बहुत

अच्छी तरह किया है।

अभी-अभी आपकी आत्मकथा आई है। कहते हैं कि आत्मकथा, संस्मरण कोई लेखक अपने जीवन के उत्तरार्द्ध में लिखता है और आत्मकथा एक सफल आदमी ही लिखता है। यदि मैं गलत नहीं समझ रही तो मुझे लगता है कि अब शोहरत के इस मुकाम पर पहुंचकर आप अपने तमाम लेखन को समेटना चाह रहे हैं?

मैंने अपनी आत्मकथा 'अस्ति और भवति' 73 वर्ष की आयु में पूरी की। इसे आप मेरे जीवन का उत्तरार्द्ध ही समझिए। यह वह अवस्था है जब कोई व्यक्ति सफल या असफल-- जो होना होता है, हो गया होता है। आत्मकथा लिखना सबसे मुश्किल काम है। हर कोई आत्मकथा न तो लिखना चाहता है, न ही लिख सकता है। हां, यह सही है कि आत्मकथा प्रायः लेखन के आखिरी दौर में ही लिखी जानी चाहिए हालांकि अनेक लेखकों ने बहुत कम उम्र में भी अपनी आत्मकथाएं लिखी हैं। मेरी आत्मकथा अपने ढंग की अलग है। इसमें केवल मेरा 'मैं' नहीं, बल्कि बाहर का संसार भी है। केवल घटनाएं नहीं बल्कि मेरे विचार भी हैं। मेरी असमाधानीय जिज्ञासाएं भी हैं। मेरे साथ मेरे पूर्वजों का संसार भी है।

आप अपनी किसी एक प्रिय कविता का और प्रिय किताब का शीर्षक बताएं, साथ ही विश्व प्रसिद्ध किसी लेखक की कृति या रचना, जो आपको अच्छी लगती हो, नाम बताएं?

अपनी किसी एक कविता और एक किताब का नाम बताना तो बहुत मुश्किल है फिर भी शुरुआती दौर में मेरी जिस कविता को पाठकों ने महत्व दिया उसका शीर्षक है 'आरा मशीन'। जिस प्रिय पुस्तक का नाम मैं लेना चाहूंगा वह है मेरी आत्मकथा-- 'अस्ति और भवति'। विश्व प्रसिद्ध लेखकों की भी अनेक कृतियों के नाम उल्लेखनीय हैं पर एक ही कृति का नाम लेना है तो सोल्झेनित्सीन का 'गुलाग द्वीप समूह'।

समकालीन साहित्यिक परिदृश्य आपको कैसा लगता है और इसमें क्या संभावनाएं नजर आती हैं?

समकालीन साहित्यिक परिदृश्य संतोषप्रद तो नहीं लगता पर कुल मिलाकर ठीक ही है। संभावनाओं का रास्ता तो हमेशा खुला होता है। हमारे बीच से ही कोई भी निकल सकता है जो हमारी भाषा को नया प्रकाश और नई ऊर्जा दे दे।

●

लीलाधर मंडलोई

सतपुड़ा (एक)

रात भर उसकी सुरीली सरगोशियां
शाखों पर लेटकर उसकी वो दिलकश गायकी
कभी परिंदा, कभी हवा तो कभी चांद सा
ऊदी-ऊदी फिजा में उसका राग दरबारी
कभी बैजू तो कभी तानसेन

बरसते मेह में संगीत में बेखबर डूबा
धुला-धुला सा राग का मखमली चिलमन

इत्ती सी इल्तजा, बस इत्ती ही चाह
इस रेशमी आवाज में जी लूं
मैं इसके राग का आलाप हो जाऊं।

सतपुड़ा (दो)

पानियों में तैरतीं जलमुर्गियां
कितनी झक्क सुफेद
कितनी हसीन
खूब फबती हैं सिवारी कंपकपी में

तैरते-तैरते किस अदा में
झटकती हैं सिर
पंख नाचते हैं बूंदों में सजे-धजे
और उनका बोलना
किरिक रेक-रेक
किस आसमानी पानी की पुकार में डूबा

ऊंची गरदन किए ये जलपरियां
किसी से तो मुखातिब हैं
किस लगन में आसमान बांचती हैं।

सतपुड़ा (तीन)

लोग अकसर कहा करते थे
क्या तुझे सुर्खाब के पर लगे हैं?
इस ताने को सुनता हुआ मैं उसे खोज रहा था
नदी के किनारे रेतीले-कंकड़ीले इलाकों में
उसके पते-ठिकाने थे
मैं उससे मिलने के फेर में दूर जंगल में निकल आया

अआंग... अआंग की बोली से
उसे पहचान लिया
पानी से बहोत दूर वह रेत में बैठा था
नारंगी भूरे रंग की आब में चमकता
एक चित्र में उसके पंखों से सजी टोपी
मैंने एक किताब में देख रखी थी

यानि वो रईस के सिर पर ही पूरी शान में विराजता था
उसके गले में हल्के काले रंग का हार दिखाई पड़ा
पूंछ श्याम रंग लिए डोल रही थी
नारंगी पंखों में गजब की चमक थी

वह पानी की सिम्त आ रहा था
उसकी चाल में राजहंस जैसा अनोखा गौरव था
उन पंखों में अपना होना देखने के लिए मैं बेताब था
उसके पास इस दरख्वास्त के साथ
मैं उसके सामने था
मैं आंखें मूंदकर अआंग... अआंग बोलता मानो पंख मांग रहा था
मैं उसके पंखों को अनुभव किया अपने बाजुओं पर
और बोल लो अब देख लो सुर्खाब के खूबसूरत पंख।

●

दिनेश कुशवाह

प्राणों में बांसुरी

कितने दिन हुए
धूल में खेलते हुए किसी बालक को
उठाकर गोद में लिए हुए

मुद्दत हुई अपने हाथ से पकाकर
किसी को जी भर खिलाकर
अपनी आत्मा को तृप्त किए हुए

कितने दिन हुए
हाथ से बंदूक छुए
जबकि वह मुझे अच्छी लगती है

किसी जूड़े में फूल गूथे हुए
कितने दिन हुए
कितने दिन हुए
नदी में नहाए हुए

कितने दिन हुए
न रोमांच हुआ
न जी टीसा
न प्राणों में बांसुरी बजी

कितने दिन हुए
न खुलकर रोया
न खुलकर हँसा
न घोड़े बेचकर सोया।

अनुत्तरित

अनुबंधों की शर्त लगाकर
लौट गईं तुम घर तक आकर
तब तो बहुत अकेली थीं तुम
अब कैसे रह पाती होंगी?

कभी आंख भर आती होगी
मन की व्यथा सताती होगी
पहले तुम दौड़ी आती थीं
अब किससे कह पाती होंगी?

जब कोई मिलता है तुम सा
मन हो जाता है ये गुम सा
मेरे जैसा कभी किसी को
तुम भी तो पा जाती होंगी?

इतिहास में अभागे

इतिहास के नाम पर मुझे
सबसे पहले याद आते हैं वे अभागे
जिनके खून से
लिखा गया इतिहास
जो श्रीमंतों के हाथियों के पैरों तले
कुचल दिए गए
जिनके चीत्कार में
डूब गया हाथियों का चिघाड़ना

वे अभागे अब कहीं नहीं हैं इतिहास में
जिनके पसीने से जोड़ी गई
भव्य प्राचीरों की एक-एक ईंट
पर अभी भी हैं मिस्र के पिरामिड
चीन की दीवार और ताजमहल

सारे महायुद्धों के आयुध

जिनकी हड्डियों से बने
वे अभागे अब
कहीं भी नहीं हैं इतिहास में

सारे पुरातत्ववेत्ता जानते हैं कि
जिनकी पीठ पर बने बर्मिंघम पैलेस जैसे महल
वे अभागे भूत-प्रेत-जिन्न
कुछ भी नहीं हुए इतिहास के

इतिहास के नाम पर मुझे
याद आते हैं वे अभागे बच्चे
जो पाठशालाओं में पढ़ने गए
और इस जुर्म में
टांग दिए गए भालों की नोंक पर

इतिहास के नाम पर मुझे
याद आती हैं वे अभागी बच्चियां
जो राजे-रजवाड़ों के धायघरों में पाली गयीं
और जिनकी कोख को कूड़ेदान बना दिया गया

इतिहास के नाम पर मुझे
याद आती हैं वे अभागी
घसिआरिन तरुणियां
जिनसे राजकुमारों ने प्रेम किया
और बाद में उनके सिर के बाल
किसी तालाब में सेवार की भांति तैरते मिले

इतिहास नायकों का भरण-पोषण
करने वाले इनके अभागे पिताओं के नाम पर
नहीं रखा गया
हमारे देश का नाम भारतवर्ष

हमारी बहुएं और बेटियां
जिन्हें अपनी पहली सुहागिन-रात
किसी राजा-सामंत या मंदिर के पुजारी के
साथ बितानी पड़ी
इस धरती को
उनके लिए नहीं कहते भारत माता।

अंतिम इच्छा जैसा कुछ भी नहीं है जीवन में

जब हमें कुछ खोया-खोया सा लगता है
और पता नहीं चलता कि
क्या खो गया है
तो वे दिन तो बीत गए
दिल की देहरी पर
दस्तक दे रहे होते हैं।

वे दिन जो बीत गए
लगता है बीते नहीं
कहीं और चले गए
बहुत सारे अनन्यों की तरह
और अभी रह रहे हैं
इसी देश काल में।

जो बीत गया इस जीवन में
उसे एक बार और
छूने के लिए तरसते रहते हैं हम
बीते हुए कल की न जाने
कितनी चीजें हैं जिन्हें
हम पाना चाहते हैं उसी रूप में
बार-बार
नहीं तो सिर्फ एक बार और।

ललकते रहते हैं
उन्हें पाने के लिए हम
मरने से पहले
अंतिम इच्छा की तरह
और अंतिम इच्छा जैसा
कुछ भी नहीं है जीवन में।

एक दिन प्रेम

एक दिन जब
तुम किसी और से मिलने आईं
मैं तुम्हें जानता था
ठीक उसी तरह जैसे
अपने घर से बाहर
लहलहाती वन तुलसी को

एक दिन जब
एक चांदी की मछली तैर रही थी निर्झर में
मैंने अनायास छू लिया तुम्हें
और मुझसे पूछा तक नहीं
कि तुम्हें कैसा लगा

एक दिन तब
मैं हिसाब लगा रहा था
कितने बरस बीत गए तुम्हें छुए
तो चांदनी बरस रहीं थी
तुम्हारे घर के चारों ओर और
तुम मेरे बारे में ही सोच रही थीं

मुझे पता चला कई सारे राग
बनाए हैं तुमने उस छूने के बारे में
जिन्हें अपने एकांत में गांती हो तुम

एक बार छूने से कहीं ऐसा संगीत फूटता है
तुम्हारा नाम तो सितार होना चाहिए
इतने सुर छिपे हैं तुम्हारे भीतर
स्वर लहरियों का मेला है तुम्हारा गीत

अब छूना नहीं
डूबकर सुनना चाहता हूं
वह राग
जो सिर्फ तुम्हारी वीणा से फूटता है।

●

अविनाश मिश्र

अगर कोई और समय होता

मैं चीख पड़ता भय से
अगर अकेला होता

भर जाता घृणा से
अगर नाउम्मीद होता

लिथड़ा रहता आत्मदया के पंक में
अगर मेरा कोई इतिहास न होता

बन जाता और दुःखी
चाहता और सहानुभूति
अगर सामने संसार न होता

विस्मृति

उन्होंने मेरा हुलिया बदला
और मेरी हस्ती को तरतीब दी
मैं बहुत जल्दी-जल्दी खा रहा था
उन्होंने कहा कोई कमी और कोई जल्दी नहीं है
और भूख दोबारा भी लगेगी

मैं जब गंदा हुआ और लज्जा में धंसा
उन्होंने कहा कि फिक्र मत करो
सारी गंदगी साफ की जा सकती है

बहुत बाद में मैंने बहुत सारे सलीके और शऊर अपनाए
और यूं जाहिर किया
जैसे मैं इन्हें गर्भ से ही सीखकर आया था

मैं उन्हें लगभग भूल गया
जिन्होंने मेरी कमजोरियों और कमियों को बढ़ावा नहीं दिया
मैं जब-जब और जहां-जहां पंचर हुआ
उन्होंने मुझे दुरुस्त किया

मुझमें हवा भरी
और मुझे रवाना किया।

सभ्यता

शुद्ध उच्चारण से नहीं चलता व्यवसाय
गलतियां कभी भी सुधारी जा सकती हैं
इसलिए वे होती ही रहती हैं

मैं यहां तक पहुंचा हूं
इसमें किसी का कोई हाथ नहीं
हालांकि मैं उद्धृत करता हूं
बहुत जगहों पर बहुत सारे नाम
लेकिन कृतज्ञताबोध अब जाता रहा है।

नदियां

मैं उन्हें बिलकुल भी नहीं जानता
लेकिन वे मुझे बार-बार मिलती हैं
इस सृष्टि की व्यस्त, अव्यस्त और अस्त-व्यस्त जगहों पर रोती हुईं

मैं उनके विलाप की वजह बिलकुल भी नहीं जानता
लेकिन यह जानता हूं कि
उत्पीड़ितों के प्रति भी करुणा से भरी हुईं
वे इस सृष्टि में सबसे सुंदर हैं
उनमें आंसू बचे हुए हैं।

सबके लिए

घर, नगर, स्थानीयताएं, अध्यवसाय, साथी और प्यार
सब छोड़ते हैं साथ
साथ रहता है रोजगार,
उसे खो देने की फिक्र
और भागता हुआ समय
भविष्यवाणियां नहीं स्मृतियां बताती हैं
दाएं मुड़ना है या बाएं
या अभी कुछ रोज और यूं ही चलना है सीधे

'मैं बच पाऊंगा'
यह प्रश्न नहीं वायदा है
जो मैं खुद से करता हूं
जबकि कवि हूं मैं केवल तुम्हारा। ●

आलोचना

बाल साहित्य की हिंदी का विकसित होता रूप

दिविक रमेश

पिछले 25-30 वर्षों के हिंदी के बाल साहित्य पर निगाह डालें तो पता चलेगा कि उत्कृष्टता, विविधता और प्रयोग आदि की दृष्टि से वह न केवल उत्कृष्ट बाल साहित्य से सम्पन्न अन्य भारतीय भाषाओं के बालसाहित्य से टक्कर लेने में सक्षम है बल्कि अनेक विदेशी भाषाओं के उत्कृष्ट साहित्य से भी होड़ ले रहा है। यह बात अलग है कि आज भी ढर्रेदार बालसाहित्य कम नहीं लिखा जा रहा और उसकी विरुदावलियां गाने वाले भी काफी मिल जाएंगे। इसी के साथ यह भी कहना चाहूंगा कि जिस भी मात्रा में सही, हिंदी में उत्कृष्ट बालसाहित्य होने के बावजूद और एक सशक्त विधा के रूप में स्थापित होने की राह पर चलने के बावजूद, इसका अपना सौंदर्यशास्त्र अभी अपने बालपन में ही नजर आता है। संतोष यही देखकर होता है कि इस दिशा में कुछ सुगबुगाहट होती रहती है। आशा की जा सकती है कि आने वाले समय में बालसाहित्य को भी केंद्रीय विधा मानते हुए साहित्य के इतिहास में भी उचित स्थान मिलेगा और उसके अपने कायदे के आलोचना-शास्त्र और सौंदर्यशास्त्र होंगे। जितनी जल्दी ऐसा होगा उतनी जल्दी बाल साहित्य लेखन, मात्रा और गुणवत्ता की दृष्टि से अपनी सही दिशा की ओर अग्रसर होता रहेगा।

ऐसा नहीं है कि जिस अवधि की बात की जा रही है, उससे पहले का सारा बाल साहित्य औसत कोटि का है। स्वतंत्रता पूर्व के बालसाहित्य में भी (भले ही वह काफी कम हो) बहुत उस्तादाना बाल साहित्य मिलता है जो न केवल आज के बच्चे को भी लुभा सकता है बल्कि आज के बाल साहित्यकार को भी बाल साहित्य की बुनावट, उसकी भाषा, लय आदि की प्रेरणात्मक समझ दे सकता है। एक-दो उदाहरण देना चाहूंगा। श्रीधर पाठक की कविता 'देल छे आए' की कुछ पंक्तियां हैं--

बाबा आज देल छे आए,
चिज्जी-पिज्जी कुछ ना लाए!
बाबा, क्यों नहीं चिज्जी लाए,
इतनी देली छे क्यों आए?

विद्याभूषण विभू ने झूम हाथी, झूम हाथी,, तुन तुन तुन, हिल-मिल, भाई, आंधी, खेल रेल का आदि अनेक ऐसी बाल कविताएं लिखी हैं जिनमें भाषा का सहज खेल देखते ही बनता है। यहां 'आंधी' शीर्षक एक कविता की यह तान देखिए :

आंधी

सर-सर, सर-सर करती आई,
भर-भर, भर-भर करती आई,
हर-हर, हर-हर करती आई,
मर-मर, मर-मर करती आई,
आंधी-आंधी, आंधी-आंधी!
x x x
चर-चर गिरी पेड़ की डाली,
नीचे से भाग बंगाली,
ओहो उलटी बहती नाली,
उड़ता छप्पर, गिरती डाली,
आंधी-आंधी, आंधी-आंधी!

उदाहरण और भी मिल जाएंगे भले ही कम। कारण यह है कि बालसाहित्य के नाम पर एक अर्से तक 'बालक के लिए साहित्य' लिखा जाता रहा है (यूं आज भी लिखा जा रहा है) न कि 'बालक का साहित्य' लिखा गया है। पिछले वर्षों में यह समझ बहुत शिद्दत से आई है कि बालक का बालसाहित्य लिखा जाना चाहिए। जब हम बालक के लिए लिखने का प्रयत्न करते हैं तो वह बालक पर प्रायः लादे जाने वाले बालसाहित्य का अभ्यास होता है। बालसाहित्य से तात्पर्य ऐसे साहित्य से है जो बालोपयोगी साहित्य से भिन्न रचनात्मक साहित्य होता है अर्थात जो विषय निर्धारित करके शिक्षार्थ लिखा हुआ न होकर बालकों के बीच का अनुभव आधारित रचा गया बाल साहित्य होता है। वह कविता, कहानी नाटक आदि होता है न कि कविता, कहानी, नाटक आदि के चौखटे में भरी हुई विषय प्रधान जानकारी अथवा उपदेशपूर्ण सामग्री होता है। संक्षेप में कहूं तो आज का बालसाहित्यकार कमोबेश बालक का दोस्त बनकर उसके सुख-दुःख का, उसकी उत्सुकताओं और कठिनाइयों का यानी उसके सबकुछ का भागीदार होता है। अनुभव में उससे अधिक संपन्न होने के कारण वह अपने लेखन के माध्यम से एक ओर उसके मनोरंजन का सहज ध्यान रखता है तो दूसरी ओर उसकी समझ में सहज बढ़ोतरी करता चलता है। वस्तुतः बालसाहित्य सृजन बहुत ही चुनती का काम होता है। नामवर सिंह ने ठीक ही लिखा है, 'उनके लिए तो साहित्य वह है जो उन्हें हिलाए, डुलाए और दुलराए भी। यानी वे खुशी से झूम उठें। 'बालक का साहित्य बालक के मनोविज्ञान, जो स्थितियों आदि के बदलाव के साथ गतिशील होता है, की गहरी समझ रखते हुए लगभग बालक बनकर ही लिखा या रचा जा सकता है। हमें यह भी समझ लेना चाहिए कि विविधताओं से भरे भारत के संदर्भ में यह बालक बनना क्या है। यहां आर्थिक, सामाजिक, भौगोलिक, आयु आदि कारणों से बालक का भी विविधता भरा स्वरूप है। महानगरी बालक का स्वरूप वही नहीं है जो कस्बाई या ग्रामीण या जंगलों में रहने वाले बच्चे का है। आर्थिक दृष्टि से संपन्न बच्चे की मानसिकता वही नहीं है जो गरीबी में पल रहे बच्चे की है। आज के कितने ही बच्चों के सामने इंटरनेट, फिल्म तथा अन्य मीडिया की सुविधा के चलते एक नई दुनिया और उसके नए भाषा-रूप का भी विस्फोट हो रहा है और वे उससे प्रभावित हो रहे हैं। अतः आज का बाल साहित्यकार बालक के बारे में सामान्य

कुछ लिखकर अपने कार्य की इति नहीं कर सकता। सामान्य दृष्टि हो सकती है, अनुभव नहीं। यही कारण है कि पिछले कुछ वर्षो में हिंदी के बाल साहित्य में जहां भाव और भाव बोध की दृष्टि से बालक के नए-नए रूप उभरकर आए हैं वहीं भाषा-शैली में भी नए-नए अंदाज और प्रयोग सम्मिलित हुए हैं। बात को आगे बढ़ाने से पूर्व कुछ उदाहरण देना चाहूंगा। आज के बालसाहित्य ने ऐसे बालक को भी आवाज दी गई है जो बहुत ही गरीबी में पल रहा है और अपने घर में अपने निखट्टू बाप से अपनी पोंछा-झाड़ू करके घर चलाने वाली मां को पिटते हुए भी देखता है। ऐसी कविताओं की शब्दावली भी, स्पष्ट है, पहले की परिचित शब्दावली से कुछ न कुछ हट कर होती है। देखिए-

मैं तो सब को प्यार करूंगा

नहीं रहा मां इतना छोटा
समझ सकूं ना घर का टोटा
तुम खटती हो घर घर जाकर
पोंछा, झाड़ू, बर्तन कर कर।

पर मैं समझ नहीं पाता हूं
बापू काम नहीं करते क्यों
बात बात पर झगड़ा करते
दारू पी लेटे रहते क्यों।

क्यों बापू मां हमें पीटते
और पीटते तुमको भी मां?
क्यों तुम बस सहती रहती हो
क्यों चुप-चुप बस रह जाती मां?

क्या बापू को प्यार नहीं है
क्यों रूखे-रूखे से रहते?
कितना अच्छा लगता ना मां
प्यार हमें जो बापू करते।

सच कहता हूं मां नहीं मैं
ऐसा बापू कभी बनूंगा
जैसे मेरी टीचर करती
मैं तो सबसे प्यार करूंगा।

और इस कविता में हुए भाषा के लहजे का नया प्रयोग देखिए :

छाता

सड़क!
हो जाओ न थोड़ी ऊंची
बस मेरे नन्हे कद से थोड़ी ऊंची।

मैं आराम से निकल जाऊंगा तब
तुम्हारे नीचे-नीचे
घर से स्कूल तक

न मुझे धूप लगेगी, न बारिश

हमारे घर में
नहीं है न छाता, सड़क!

आज के बालसाहित्य में हम आसानी से भाषा के कई रूप देख सकते हैं। लोकभाषाओं के शब्द, उर्दू के शब्द, अंग्रेजी के शब्द, इत्यादि आज के बालसाहित्य में दुर्लभ नहीं है। लहजे की दृष्टि से भी आज का हिंदी बालसाहित्य बहुत विविधता सम्पन्न है। व्यंग्यात्मक, हँसीप्रधान, छेड़छाड़वाला, गंभीर, ध्वन्यात्मक, मुहावरेदार, बिंबात्मक, संवादात्मक आदि अनेक प्रकार का भाषा-लहजा आज के बालसाहित्य में चार-चांद लगाए हुए है। बालस्वरूप राही की एक कविता है 'दुनिया नई-पुरानी'। इस कविता में आइसक्रीम, चूइंगम, टोस्ट, बिस्कुट, टेनिस, क्रिकेट, टेलीफोन, टेलीविजन जैसे शब्दों का धडल्ले से प्रयोग किया गया है। अन्य कवियों में भी ऐसे शब्दों का परहेज नहीं मिलता। आज के भाव-बोध से सजी बालस्वरूप राही ही की एक अन्य कविता है 'कार' जो बालक के द्वारा अपने पापा का मजाक उड़ाने की भाषा-शैली में रची गई है, जिसमें पर्यावरण की समस्या बिना किसी शोर-शराबे के सहज रूप से, चुपके से आ समाई है :

कार

पापाजी की कार बड़ी है,
नन्हीं-मुन्नी मेरी कार
टांय टांय फिस उन की गाड़ी,
मेरी कार धमाकेदार

उनकी कार धुआं फैलाती
एक रोज होगा चालान,
मेरी कार साफ-सुथरी है,
सब करते इसका गुणगान।

भाषा की दृष्टि से दो और मजेदार बानगियां (जिनमें व्यंग्य और हास्य का बड़ा ही महकता छौंक लाजवाब है) जयप्रकाश भारती, दामोदर अग्रवाल और शेरजंग गर्ग की कविताओं के निम्न अंशों में देखिए :

एक था राजा, एक थी रानी
दोनों करते थे मनमानी
राजा का तो पेट बड़ा था
रानी का भी पेट घड़ा था

खूब वे खाते छक-छक-छक कर
फिर सो जाते थक-थक-थककर
काम यही था बक-बक, बक-बक
नौकर से बस झक-झक, झक-झक। (जयप्रकाश भारती)
x x x x
बड़ी शरम की बात है बिजली, बड़ी शरम की बात
जब देखो गुल हो जाती हो
ओढ़ के कंबल सो जाती हो
नहीं देखती हो यह दिन है
या यह काली रात है बिजली
बड़ी शरम की बात। (दामोदर अग्रवाल)
x x x x
कितनी अच्छी कितनी प्यारी
सब पशुओं में न्यारी गाय,
सारा दूध हमें दे देती
आओ इसे पिला दें चाय। (शेरजंग गर्ग)

डॉ. श्रीप्रसाद की एक कविता 'भक्काटे' में भक्काटे शब्द और एक अन्य कविता 'दुर्गा की नानी' में बड़नक्के शब्द का बड़ा ही मजेदार प्रयोग किया है। इस प्रसंग में बस एक और उदाहरण जो युवा बालसाहित्यकार मोहम्मद अरशद खान की एक कहानी के अंश के रूप में है, जिसके द्वारा एक ऐसी हिंदी के दर्शन होते हैं, जो सहज रूप में उन बच्चों के लिए विशेष रूप से है, जो उर्दू की शब्दावली से परिचित हैं-

'रात में जब वह पढ़ती रहती, अम्मी उसके पास बैठी ऊंघती रहती थीं। जब नतीजा निकला था तो सारा घर कितना खुश हुआ था। मुहल्ले भर मिठाई बंटी थी। रिश्तेदारों के घर जाकर अब्बू ने बड़े फख्र के साथ जानकारी दी थी। पूरे खानदान में हाईस्कूल पास करनेवाली वह अकेली लड़की थी। बाक़ी या तो छः-सात में पढ़ रही थीं या आठ दर्जा पढ़कर घर बैठ गई थीं। भला अब्बू का सीना क्यों न चौड़ा होता?'....

'अम्मी, रेहाना ने डरते-डरते फिर पूछा, मैं अब्बू की साइकिल लेकर सादिया के घर हो आऊं? तीन बज गए हैं। रिजल्ट आ गया होगा।'

आज एक बड़ी संख्या में हिंदी के बालसाहित्यकार रचनारत हैं। उनके साहित्य से कितने ही उदाहरण देकर आज के बालसाहित्य की हिंदी के बदलते हुए नानाविध रूप दिखाए जा सकते हैं।

हिंदी के बालसाहित्य की हिंदी को लेकर अपने लिखे लेख 'हिंदी बालसाहित्य की भाषा' में डॉ. ललित किशोर चतुर्वेदी की मान्यता है, 'बच्चों का भाषा-ज्ञान विकसित करने में बाल साहित्य का अपना महत्वपूर्ण योगदान है। कहानियों तथा सुंदर चित्रों के लोभ में, बच्चे पुस्तकें पढ़ने की ओर आकर्षित होते हैं किंतु यदि पुस्तक की भाषा कठिन अथवा बालक की समझ में न आने वाली हुई तो वह उसे नहीं पढ़ता। वास्तव में यह मनोवैज्ञानिक तथ्य ही इस बात का प्रमाण है कि बाल-साहित्य

में केवल ऐसी भाषा का महत्व है जो बच्चे सरलता से समझ सकें। स्कूल की किताबों की अपेक्षा बाल साहित्य की पुस्तकों में अधिक रूचि लेने का कारण यही है कि वह पहले की अपेक्षा अधिक सरल और मनोरंजक होता है। बालक बाल सहित्य को अकेले बैठकर पढ़ सकता है और उसे समझने के लिए अध्यापक या माता-पिता की सहायता की आवश्यकता नहीं पड़ती।' हरिकृष्ण तैलंग की भी मान्यता है कि 'साहित्य के लिए सरल भाषा में सहज ढंग से कोई भी बात कही जाना चाहिए। बच्चों की भाषा में लय का होना जरूरी है। एक बात और बच्चों की कविता और कहानी का केंद्र बच्चों की गतिविधियां होना चाहिए।.... कठिन शब्दों का प्रयोग न हो मृदुलता हो बच्चों की भावनाओं का, चित्रण सावधानीपूर्वक हो। थोड़ा और देख लें कि बालसहित्य की भाषा (हिंदी) के बारे में कुछ और विद्वानों के क्या-क्या मत हैं, भले ही ये अकस्मात या प्रसंगवश शैली में ही क्यों न व्यक्त हुए हों। विष्णु प्रभाकर का कहना है, 'भाषा का प्रश्न सबसे अधिक महत्वपूर्ण है क्योंकि वही अर्थ वहन और संप्रेषित करती है। बालसाहित्य की भाषा सरस, सरल और सहज होनी चाहिए। वाक्य रचना में जरा-सी जटिलता पूरे नाटक को व्यर्थ कर सकती है। छोटे बच्चों के लिए विशेष रूप से सहज चित्रांकन करने वाली भाषा चाहिए।' इस संदर्भ में नामवर सिंह का लेख 'आज का बाल-साहित्य कैसा हो?' भी पढ़ा जाना चाहिए। इस लेख के माध्यम से नामवर जी ने यह मानते हुए कि आज के जमाने में बच्चा खिचड़ी भाषा बोलता है, लेखक से अपेक्षा की है कि 'कम से कम लेखक बालोचित शुद्ध भाषा का प्रयोग करे।....शब्द जो भी लिखें- शुद्ध लिखें। हिंदी, उर्दू, संस्कृत सभी का उच्चारण शुद्ध होना चाहिए।'

असल में हिंदी बालसाहित्य की हिंदी का प्रश्न कम से कम दो आयामी है। एक तो यह कि पिछले कुछ वर्षो में श्रेष्ठ बालसाहित्य की हिंदी अपने सहज विविध रूप में विकसित हुई है और अपने समय के बच्चे के संग-साथ से भी संभव हुई है और दूसरी ओर बालसाहित्यकारों ने इस समझ का परिचय दिया है कि जैसे बालक पर खुद को लादना अनुचित है उसी प्रकार बालक पर कृत्रिम भाषा को लादना भी अनुचित है। उसका उद्देश्य अपने सीमित रूप में बालक के शब्दकोश में वृद्धि करना तो हो सकता है लेकिन वह होना चाहिए सहज रूप में ही, खेल-खेल की शैली में। भाषा की दृष्टि से भी बालसाहित्यकार का उद्देश्य बालक को बालसाहित्य का सहज भागीदार बनाना अधिक होता है बजाए उसे ज्ञानवान बनाने के। शब्दों का उपयोग खपता हुआ होना चाहिए। अंग्रेजी के जो शब्द प्रचलित होकर हमारे रोजमर्रा के उपयोग का हिस्सा बन चुके हैं अर्थात हिंदी के द्वारा गोद ले लिए जा चुके हैं उनके उपयोग को (खिचड़ी भाषा के नाम पर) जबरन हटाकर कुछ गढ़े हुए अप्रचलित तत्सम आदि शब्दों का लादना कहां तो उचित होगा इस पर गंभीरता के साथ विचार करने की जरूरत है। हां, इतना अवश्य माना जा सकता है कि बालसाहित्यकार की भाषा (हिंदी) संबंधी अपनी कमजोरी के कारण अंग्रेजी आदि अन्य भाषाओं के अशुद्ध शब्दों से बालसाहित्य को लाद देने की प्रवृत्ति से भी बचा जाना चाहिए। बालसाहित्यकार एक मार्गदर्शक भी होता ही है- अंततः और सच यह भी है कि आज हिंदी के बालसाहित्यकार भाषा-शैली की दृष्टि से भी अपने-अपने विशिष्ट पथ बनाने की ओर अग्रसर हैं- बड़ों के लिए लिखने वाले बालसाहित्यकारों की तरह।

अंग्रेजी की शब्दावली की बहुतायत कुछ उन बालसाहित्यकारों में विशेष रूप से देखने को मिल रही है जो विज्ञानपरक या 'विज्ञान लेखन' कर रहे हैं, क्योंकि उनके विषय की स्रोत सामग्री प्रायः

अंग्रेजी के माध्यम से उपलब्ध होती है और उनके तकनीकी नाम भी प्रायः अंग्रेजी में उपलब्ध होते हैं। ऐसे लेखन में उस अंश से तो साफ-साफ एतराज हो सकता है जो विज्ञान को कहानी या कविता की शैली में पढ़ाने के मकसद से लिख रहे हैं। जैसे किसी वस्तु का कविता की शैली में किया गया विज्ञापन कविता नहीं होता ऐसे ही विज्ञान के किसी विषय की जानकारी कविता आदि के ढांचे में भर देने से वह रोचक तो हो सकती है, कविता आदि रचना नहीं कही जा सकती। इसकी उपयोगिता शिक्षा जगत के लिए अधिक है। देवेन्द्र मेवाड़ी की इस बात से मैं भी सहमत हूं कि 'विज्ञान की केवल ठोस जानकारी या आंकड़े बच्चों को आकर्षित नहीं करते। लेकिन, कहने का अंदाज उन्हें आकर्षित करता है।.... कथा-कहानी पढ़ने में बच्चे बहुत रुचि लेते हैं। इसलिए अगर विज्ञान की कोई जानकारी कथा-कहानी के रूप में दी जाएगी तो उसे बच्चे मन लगाकर पढ़ते हैं।' स्पष्ट है यहां केंद्र में जानकारी देना है न कि कविता या कहानी रचना। बात मूलतः विज्ञान को सरस-सुबोध भाषा और रोचक शैली में प्रस्तुत करने की हो रही है। ऐसा नहीं है कि हिंदी का उत्कृष्ट बालसाहित्य वैज्ञानिक दृष्टि से वंचित है। साहित्य में, असल में वैज्ञानिक दृष्टि की भूमिका अधिक महत्त्व की होती है। इसीलिए आज के बालसाहित्य में कल्पना भी ऐसी शैली में उपस्थित होती है जो बालक को चमत्कृत करते हुए उसकी विश्वसनीयता अथवा उसके तर्क के दायरे में आती हो। मेरी अपनी एक कहानी 'आंखें मूंदों नानी' ऐसी ही कहानी है जिसमें परी के कारनामे हैं लेकिन अंततः वह पारंपरिक परी से परे की कहानी है। अमृतलाल नागर की कहानी 'अंतरिक्ष-सूट में बंदर' और मनोहर चमोली मनु की कहानी 'रखनी है साफ-सफाई' अच्छी वैज्ञानिक कहानियां हैं। वैज्ञानिक दृष्टि की एक बड़ी देन अंधविश्वासों से लेखन की मुक्ति के रूप में भी मिल रही है और इस कारण उस शब्दावली से मुक्ति मिल रही है जो अंधविश्वासों को व्यक्त करने के लिए अनिवार्य होती है।

अंत में इतना ही कहना चाहूंगा कि आज हिंदी के बालसाहित्यकार के सामने जिस तरह बालक से संबद्ध अनुभवों का खुला आकाश फैला हुआ है उसी प्रकार भाषा-रूपों की संभावनाओं का आकाश भी खुला है। इसका कारण है भूमंडलीकरण, विश्व की जानकारी का बालक और बालसाहित्यकार के दायरे में सिमटने की यथास्थिति। अतः हिंदी का बालसाहित्य एक ऐसी हिंदी की ओर सशक्त कदम बढ़ा चुका है जो वैश्विक होने की दिशा में संभावनाओं से भरा है- अपनी निजी विशिष्टताओं के साथ। बालसाहित्य में होने वाले निरंतर प्रयोग (भले ही कुछ पुरानी सोच के लोगों को अभी अटपटे भी लगते हों) भाषा के स्तर पर भी हो रहे हैं।

●

प्रकृति के पड़ोस में कविता

माधव हाड़ा

मनुष्य जीवन प्रकृति की रचना है इसलिए उसको देखने-समझने में प्रकृति को देखना-समझना शामिल है। कविता भी मनुष्य को देखने-समझने के दौरान ही प्रकृति से भी रूबरू होती है इसलिए कविता का प्रकृति से संबंध सदैव रहा है। यह अलग बात है कि यह संबंध बदलता रहा है। संबंध में होनेवाला यह बदलाव प्रकृति के कारण नहीं है। प्रकृति तो कविता में सदैव है, बदलाव का कारण कविता का स्वभाव है। वह निरंतर बदलती है-अकसर उसमें संबंध का एक स्वरूप बनता है और फिर धीरे-धीरे यह रूढ़ि बन जाता है। कवि का भी यह स्वभाव है कि वह रूढ़ि के विरोध में खड़ा होता है और धीरे-धीरे वह संबंध का फिर एक जीवंत स्वरूप गढ़ता है। कविता में प्रकृति का विरोध तो नहीं होता लेकिन इससे कवि संबंध की रूढ़ि का अकसर होता है। कविता के इतिहास में इसलिए इस संबंध का स्वरूप कई बार बना और बदला। हिंदी कविता को विरासत में इस संबंध के कई रूप मिले, जिसमें से कुछ को उसने अपनी जरूरतों के तहत बदल लिया और कुछ उसने खुद बनाए। हिंदी में गत सदी के छठे-सातवें दशक का समय इस संबंध में उठापटक का था। छायावाद में भी प्रकृति से कवि संबंध की कुछ रूढ़ियां बन गई थीं, इसलिए इनका विरोध शुरू हुआ। विरोध करने वालों में अज्ञेय प्रमुख थे। उनका मानना था कि प्रकृति से कवि संबंध का रूप बदल गया है। उन्होंने रूपांबरा की भूमिका में इस नए संबंध के बारे में लिखा कि 'कालिदास प्रकृति के चौखटे में मानवीय संवेदनाओं का चित्रण करते थे, आज का कवि समकालीन मानवीय संवेदना के चौखटे में प्रकृति को बैठाता है।' कुछ अतिरिक्त उत्साही लोग इस बात को पकड़कर बहुत आगे निकल गए। विरोध छायावाद में बने प्रकृति संबंधी कवि समय का होना चाहिए था, लेकिन वे प्रकृति के विरोध में जा खड़े हुए और उन्होंने अपने काव्य से प्रकृति को ही बाहर कर दिया।

प्रकृति से भवानी प्रसाद मिश्र का कवि संबंध बहुत सहज और नैसर्गिक है और खास बात यह है कि शुरू से लगाकर आखिर तक कमोबेश एक जैसा है। उनकी दीर्घकालीन कवि सक्रियता उत्तर छायावाद से शुरू होकर हमारे समय तक पहुंची, इस दौरान प्रकृति से कवि संबंध के कई स्वरूप बने-बिगड़े, लेकिन इनका उन पर कोई असर नहीं हुआ। छायावाद और उत्तर छायावाद के बाद की कविता में प्रकृति से कवि संबंध को लेकर जो धारणाएं और मान-प्रतिमान बने, भवानी प्रसाद मिश्र की कविता हमेशा उनके दायरे से बाहर की सिद्ध हुई। उन्होंने अपनी एक कविता में साफ-साफ कहा कि मैं तुम्हारे/किसी भी बांटे से बंटूं नहीं/तुम्हारे किसी भी नाप में अंटूं नहीं। खास बात यह है कि प्रकृति से अपने घनिष्ठ संबंध और लगाव को लेकर उनके मन में कभी कोई संदेह पैदा नहीं

हुआ। छठे-सातवें दशक में नई कविता के दौर में प्रकृति काव्य के विरुद्ध माहौल बनाया गया। अज्ञेय ने रूपांबरा की भूमिका प्रकृति काव्य की अंत्येष्टि की घोषणा कर दी। उन्होंने किंतु-परंतु के साथ लिखा कि 'नई काव्य प्रवृत्तियों को सामने रखकर एक अर्थ में कहा जा सकता है कि प्रकृति काव्य अब वास्तव में है ही नहीं। एक विशिष्ट अर्थ में यह भी कहा जा सकता है कि छायावाद का प्रकृति काव्य अपनी सीमाओं के बावजूद अंतिम प्रकृति काव्य था; यदि छायावादी काव्य मर गया है तो उसके साथ ही प्रकृति काव्य की भी अंत्येष्टि हो चुकी है।' भवानी प्रसाद मिश्र रूपांबरा में शामिल थे लेकिन उन पर इसका कोई असर नहीं हुआ। उन्होंने एक कविता लिख कर अज्ञेय की छायावाद की अंत्येष्टि संबंधी टिप्पणी का प्रत्याख्यान किया। उन्होंने लिखा-क्या कहा छायावाद है/और मरा हुआ/तब तो और भी जरूरी है इसे जिलाना/जंगल के फूलों को खिलाना/सिर्फ प्रकृति नहीं/कविता में भी/ये वसंत है भाई/वसंत है/क्या हर्ज/यह भवानी प्रसाद मिश्र नहीं है/सुमित्रानंदन पंत है।

भवानी प्रसाद मिश्र की कविता में प्रकृति 'मानवेतर' या 'मनुष्य का प्रतिपक्ष' नहीं है। उनके यहां प्रकृति मनुष्य के अस्तित्व का हिस्सा है। यहां यह मनुष्य के होने में उसके साथ है। यहां मनुष्य प्रकृति के दूसरे रूपों से अलग या उनके ऊपर नहीं है, वह उनके साथ और उनके बीच है। नदी, पहाड़, पेड़ आदि से उसका संबंध वही है जो किसी मित्र या रिश्तेदार से होता है। भवानी प्रसाद मिश्र विंध्य को पिता और नर्मदा को मां कहते थे और इनका स्मरण करके धार-धार रोते थे तो इसलिए इनसे उनका माता- पिता जैसा रागात्मक संबंध था। प्रभाष जोशी ने एक जगह इस संबंध पर टिप्पणी करते हुए लिखा है कि 'विंध्य और नर्मदा पहाड़ और नदी से बाप और मां तभी बन सकते हैं जब उनसे हमारे रागात्मक संबंध हो। आप आल्पस या पेरीनीज को देखकर क्यों हिमालय की तरह प्रणाम नहीं करते और टेम्स के पानी से क्या आचमन किया जा सकता है। क्या मेरे गांव की भूरीबाई रेल से राइन नदी पार करे तो उसी तरह हाथ जोड़कर पैसा फेंकेगी जैसा धन्न नर्मदा मैया हो कहते हुए करती है। आपको यह भान नहीं रहता कि आपका हाड़-मांस उस मिट्टी ने बनाया है जिसे विंध्य से नर्मदा बहाकर लाई है। आपका खून, आपका पानी नर्मदा का है। आप उनसे अपने मां-बाप, भाई-भौजाई, बहन-बहनोई, काका-काकी और अन्य तमाम रिश्तों के जरिए जुड़ते हैं। विंध्य और नर्मदा को याद करते हुए भवानी बाबू रोते थे तो इसलिए कि वे उन्हें अपने मां-बाप और सारे रागात्मक रिश्तों के प्रतीक लगते थे।' प्रकृति से प्रगाढ़ और मजबूत रागात्मक संबंध का यह रूप उनकी कविताओं में सब जगह मौजूद है। घास उन्हें सोते हुए आदमी का शरीर लगती है। एक कविता में वे कहते हैं-सुबह टहलते-टहलते हरी दूब पर पांव पड़े/तो लगा जैसे पड़ गया हो पांव किसी सोते हुए आदमी के शरीर पर। वे कई बार प्रकृति से अपना सुख-दुःख बांटते और बतियाते मिलते हैं। अपनी एक कविता प्यासी प्रकृति में वे तारे से बतिया रहे हैं और उसको अपनी कविता सुना रहे हैं। इस कविता के अंतिम अंश में वे कहते हैं- तब मैंने एक सितारे की तरफ मुंह किया/और अपनी कविता उसे सुनाई/साफ देखा मैंने/वह पहले से ज्यादा चमका और अपनी गर्दन/यों हिलाई/मानो कह रहा हो/और सुनाओ एक कविता/बहुत दिनों बाद/मैंने कुछ सुनने लायक सुना है/तुमने इसके लिए चुनकर मुझे/लगभग एक जरूरतमंद को चुना है। पेड़ उनके लिए आत्मज है। वे कहते हैं-मैं बिना कुछ सोचे/बैठा-बैठा निहारता रहा उसे छोटे से/हरे उस अपने आत्मज को। वृक्ष की काट-छांट उनको दुःखी करती है। वे कहते हैं- हर वृक्ष का अपना अपना व्यक्तित्व होता है/अलबत्ता हम जिन्हें अपनी रूचि से काटते--छांटते रहते हैं/उन्हें कर देते हैं लगभग एक सा अपने ही व्यक्तित्वहीन अस्तित्वों की तरह।

भवानी प्रसाद मिश्र के प्रकृति से गहरे और अटूट संबंध की जड़ें उनकी लोक संपृक्ति में है। हिंदी कविता में यह वह समय था जब लोग गांवों को छोड़कर शहरी हो रहे थे और उनकी कविता में शहरी सरोकार और मुहावरों की चकाचौंध चरम पर थी। भवानी प्रसाद मिश्र इस चकाचौंध से अप्रभावित और हमेशा दूर रहे। उनकी जड़ें अपने लोक में थी और उनका कवि वहीं से अपना खाद-पानी ले रहा था। दूसरा सप्तक का उनका आत्मकथ्य इसमें संकलित दूसरे कवियों से थोड़ा अलग है। यह इसके संपादक की नवाचारों की घोषणाओं से भी कम मेल खाता है। उन्होंने इसमें बहुत अकृत्रिम ढंग से अपने घर-गांव में अपनी जड़ों के बारे में टिप्पणी की है। वे कहते हैं- 'छोटी-सी जगह में रहता था, छोटी-सी नदी नर्मदा के किनारे, छोटे-से पहाड़ विंध्याचल के आंचल में, छोटे-छोटे साधारण लोगों के बीच। एकदम घटनाविहीन अविचित्र मेरे जीवन की कथा है।' यह सच्चाई है कि तमाम उलटफेर के बावजूद अभी भी हमारा लोक प्रकृति के पड़ोस में है और उसके दैनंदिन जीवन में अभी उससे आदिम संबंध के कई संस्कार और स्मृतियां हैं। भवानी प्रसाद मिश्र इस लोक में पूरी तरह डूबे और रमे हुए थे इसलिए इस लोक का प्रकृति का पड़ोस भी उनकी कविता का हिस्सा है। वे दिल्ली, मुंबई, हैदराबाद कहीं भी रहे हों, यह लोक और उसकी प्रकृति उनकी स्मृति से जाती नहीं है। उनकी एक कविता है 'दिल्ली दूरस्त', जिसमें वे फागुन और चैत में दिल्ली से दूर अपने लोक में रहना चाहते हैं। वे कहते हैं- जब फागुन और चैत में/रंग बरसेंगे/पहाड़ों और मैदानों में/जब खेतों में सुबह से रात तक/कंठों से निकलकर सुर गूंजेंगे/चैती के/उतरेंगे भीतर प्राणों में/तब हम/कुछ और/करें या न करें/दिल्ली से दूर रहेंगे/वहीं-कहीं/जहां बरसेंगे सुर गूंजेंगे/चैती के खेतों में/सुबह से रात तक। उनकी एक और कविता 'वसंत' दिल्ली में में भी लोक के सहज और नैसर्गिक जीवन के बरक्स महानगर के ठंडे और कृत्रिम जीवन का वर्णन है। इसमें वे कहते हैं- फागुन और चैत में रुके रहे दिल्ली में/तो सुनोगे आसपास इमारतें बनने- बनाने के/सिलसिले में/इस्पात की बड़ी मशीन की/इस्पात के/किसी छोटे-बड़े टुकड़े पर/चोट की आवाजें/देखोगे खिले और लटकते हुए/पलाश और अमलताश की/जगह/उड़ते हुए लोहे की चिनगारियां/जो लोहे को/झुकाने और जोड़ने में/छूटती हैं/फुलझड़ियों की तरह। भवानी प्रसाद मिश्र का मुहावरा और शब्दावली सीधे लोक से आती है। लोक ने सदियों के अभ्यास से प्रकृति को देखने-समझने और पहचानने का जो ढ़ंग ईजाद किया है, भवानी प्रसाद मिश्र उसी का इस्तेमाल करते हैं। उनका मुहावरा और शब्दावली शहरी और अभिजात आधुनिकों को अटपटी लग सकती हैं। जलकर सफेद काली राखड़ हो गया, सूखी पड़ी नदियां सो भदभदा गई रे, पहले झील का पानी जैसे अकास पानी जैसे प्रयोग उनके लिए प्रयोग नहीं हैं, यह वह मुहावरा है जिसे लोक ने गढ़ा-बनाया है।

जीवंत रागात्मक संबंध के कारण भवानी प्रसाद मिश्र कविता में मनुष्य जीवन की पहचान और समझ के लिए प्रकृति का पारंपरिक उपयोग भी सबसे अधिक करते हैं। खास तौर पर उनकी कविताओं में प्रकृति का रूपकीकरण खूब है। रूपकीकरण का उनका तरीका अलबत्ता अलग है। संस्कृत और बाद में हिंदी में छायावाद के दौरान कुछ कविताओं में रूपकीकरण इतना यांत्रिक हुआ कि प्रकृति की उनमें हैसियत केवल एक उपकरण की रह गई और इसके कई कवि समय भी बन गए। भवानी प्रसाद मिश्र की खूबी यह है कि वे अपने रूपकों में अप्रस्तुत को लगभग अदृश्य और सांकेतिक रखते हैं। इनमें प्रस्तुत इतना सघन और लगभग अपनी तरह का होता है कि कविता रूपक लगती ही नहीं है। उनकी दो कविताएं- 'नदी जीतेगी' और 'थूहर' इसका अच्छा उदाहरण हैं। नदी

जीतेगी का निहितार्थ मानवीय प्रयत्न जैसा कुछ मान सकते हैं जो कविता में नदी के रूपक में आता है। कविता में अप्रस्तुत का कोई संकेत नहीं है- इसमें केवल नदी है। कविता की अंतिम पंक्तियां इस तरह से हैं-नदी देखती रहेगी/शायद कांपते पांवों/धुंधली आंखों/हटते हुए किनारे को /देखती रहे शायद/वर्षा के आने तक/अब उसकी छाती में/तूफान के गाने तक/एक चुप्पी लगेगी /और आ जाने पर/वर्षा और तूफान के/किनारे की नहीं/नदी की चलेगी/जिसने/किनारे को बनाया था! थूहर में रूपक लंबा हो गया है लेकिन यहां भी कविता में केवल थूहर है, अप्रस्तुत का कोई संकेत नहीं है और पाठक अपनी तरफ से कोई अर्थ करने के लिए स्वतंत्र है। कवि थूहर के संबंध में कहता है- मैं रहा खीझता/पौधा गड़बड़ है/एड़ी से लगाकर चोटी तक जड़ है/गरमी आई, गरमी का क्या कहना/सारा प्रदेश भुंजकर पापड़ हो गया/हर एक हरेपन का हामी हल्का/जलकर सफेद-काली राखड़ हो गया/पर तुम जैसे के तैसे खड़े रहे/तुम सदा एकरस रूखे अड़े रहे। इसी तरह की एक और कविता है 'सूरज अभी निकला नहीं है'। इसमें अप्रस्तुत का उल्लेख अंत में है और यह बहुत सांकेतिक और इस तरह से है- रात मेरी भी खत्म हो गई है/अब और जरूरी नहीं लगता/वन्या के किनारे/रात काटने के खयाल से/पड़े रहना। भवानी प्रसाद मिश्र प्रकृति का मानवीकरण भी करते हैं लेकिन उनका मानवीकरण छायावादियों से बहुत अलग तरह का है। उनकी एक कविता है 'सन्नाटा', जिसमें वे सन्नाटे का मानवीकरण करते हैं। यह सन्नाटा छायावादियों के रूमानी और रहस्यवादी सन्नाटे से अलग है। यह सन्नाटा वह है जिससे अक्सर हम दैनंदिन जीवन में रूबरू होते रहते हैं। सन्नाटा इसमें खुद अपने संबंध में बताता है- मैं सूने में रहता हूं ऐसे सूना/जहां घास उगा रहता है ऊना;/और झाड़ कुछ इमली के, पीपल के,/अंधकार होता है जिनसे दूना।/तुम देख रहे हो मुझको जहां पड़ा हूं/मैं ऐसे ही खंडहर चुनता फिरता हूं/मैं ऐसी ही जगहों में पला, बढ़ा हूं।

भवानी प्रसाद मिश्र की कविता की प्रकृति सजी-संवरी और कटी-छंटी प्रकृति नहीं है। यह जैसी है वैसी ही उनकी कविता में आती है। प्रकृति संबंधी पारंपरिक कवि समयों के आदी लोगों को उनकी प्रकृति बहुत अटपटी और उबड़-खाबड़ लग सकती है। प्रकृति को आंकने-देखने में इसलिए भवानी प्रसाद मिश्र की निर्भरता पारंपरिक कवि समयों और अभिप्रायों पर लगभग नहीं है। वे कवि समयों के हिसाब से प्रकृति को छोटा-बड़ा या अच्छा-बुरा नहीं करते। वे उसके छोटे-बड़े या अच्छे-बुरे को एक साथ देखते-समझते हैं। उनकी विख्यात कविता 'सतपुड़ा के जंगल' में सड़े पत्ते, जले पत्ते, हरे पत्ते, जले पत्ते सब एक साथ हैं। ये नींद में डूबे हुए अनमने जंगल घिनौने भी हैं और पूत, पावन, पूर्ण रसमय भी हैं। उनकी कविता गांव इस लिहाज से बहुत महत्वपूर्ण है। इस कविता का गांव मैथिलीशरण गुप्त के अहा ग्राम्य जीवन भी क्या है और सुमित्रानंदन पंत के ग्राम्या के गांव से अलग हमारा असली गांव है। इस गांव में झोंपड़ी है, घर नहीं है। झोंपड़ी के फटकिया है, घर नहीं है। यहां धूल उड़ती है और धुंए से दम घुटता है। यहां स्त्रियां धूल, गोबर और कचरे में भरी हुई हैं। यहां की सुबह का चित्र भवानी प्रसाद मिश्र इस तरह खींचते हैं-गांव में पहली किरण के साथ जागे/चैन जगने पर नहीं जिनको, अभागे; /जोतना है खेत हल के साथ निकले/बीज बोना है कि दल के साथ निकले।/सुबह की ठंडी हवा कपड़े नहीं हैं/पांव रखते हैं कहीं, पड़ते कहीं हैं/पांव जिनमें गति नहीं कंपन बहुत है/प्राण में जीवन नहीं तड़पन बहुत है। खास बात यह है कि भवानी प्रसाद मिश्र के स्वर में यहां करुणा तो है लेकिन भावुकता बिलकुल नहीं है। गांव के पनघट का वर्णन करते हुए वे वहां एकत्रित स्त्रियों की हँसी को तो पकड़ते हैं लेकिन यह कहना नहीं भूलते कि यह हँसी दुःख

में सनी है, खोलती है। आशा के संकेतों में भी वे बहुत संयम बरतते हैं। उनके यहां आशा का अतिवाद नहीं है। वे इसको दुःख के बरक्स रखते हैं। गांव के चरवाहों के संबंध में वे लिखते हैं कि भले हैं तनिक गा-से रहे हैं,/और अपने दुःख पर छा-से रहे हैं। दो घड़ी सूरज उन्हें बहला सका है,/हम सुखी हैं जोश में कहला सका है।

प्रकृति में भी वर्षा भवानी प्रसाद मिश्र को सबसे अधिक प्रिय है। बादल और वर्षा से मनुष्य का आदिम संबंध है इसलिए यह उसके दैनंदिन जीवन और भाव संसार में आलंबन-उद्दीपन सब हैं। कवियों के यहां वर्षा के कई रूप हैं लेकिन जैसी वर्षा हिंदी में भवानी प्रसाद मिश्र की कविता में वैसी बहुत कम कवियों के यहां मिलती है। वर्षा और उससे संबंधित प्रकृति रूप उनकी हर चौथी-पांचवीं कविता में अपने लिए जगह निकाल लेते हैं। उनकी बहुत लोकप्रिय और विख्यात कविताएं संयोग सघन वर्षा और उसकी पड़ोसी मानवीय भावनाओं से संबंधित हैं। उनकी वर्षा लोक के साथ और लोक के बीच में है। लोक का वर्षा से निरंतर और आदिम संबंध है और वर्षा के साथ उसकी भावनाओं की उठापटक जुड़ी हुई है। खास बात यह है कि यहां प्रेम 'पीके' की तरह फूटता और प्रेम और 'पीका' दोनों बरसात आने पर ही फूटते हैं। पहिला पानी में लोक में वर्षा से होनेवाली हलचल का बहुत सरल और अकृत्रिम वर्णन है। यहां लोक के मुहावरे में बिना किसी अलंकरण और तामझाम के वर्षा और उससे लोक में होनेवाली उठापटक जीवंत हो उठती है। गांव में वर्षा का वर्णन कविता में इस तरह से आता है-गांवों की बात बदली, जंगल की कुछ ने पूछो,/हर-सू में नया मंगल, मंगल की कुछ न पूछो,/सौ साठ रंग वाली नभ न कमान पाई,/बादल गरज उठा तो सबने जबान पाई,/गाया हजार मन से, रस्ते पे चल-रहे ने,/आफत को भूल गया आफत के पल-रहे ने,/डालों पे पड़े झूले छपरी में जमे आल्हा,/ढोलक को कई दिन में, थापों से पड़ा पाला,/हर एक अधमरे को बदली नचा गई रे,/बरसात आ गई, बरसात आ गई रे। घर की याद बहुत मर्मस्पर्शी कविता है। इसमें वर्षा के पड़ोस में घरबार और परिजनों की स्मृतियों की उठापटक है। वर्षा यहां कवि को उसके घर-परिवार और परिजनों के बीच ले जाती है। कविता एक जगह कहा गया है-बहुत पानी गिर रहा है,/घर निजर में तिर रहा है,/घर कि मुझसे दूर है जो,/घर खुशी का पूर है जो,/घर कि घर में चार भाई/मायके में बहिन आई,/बहिन आई बाप के घर हाय रे परिताप के घर। वर्षा के दिल्ली पर प्रभाव पर भी भवानी प्रसाद मिश्र ने 'दरिद्र दृश्यों के बीच' नामक एक कविता लिखी। यहां प्रभाव लोक से उल्टा है। यहां वर्षा के आगमन से कोई खुश नहीं है। वे दिल्ली में पछुआ की पीठ पर बैठकर आए बादल के संबंध में कहते हैं- मन कहीं नहीं अटका इसका/और यहां आ गया/जहां मन अटकाने लायक कुछ नहीं है/मिली-जुली ऐश्वर्य/और दारिद्र की झांकियों के सिवा यहां इसे देखकर कोई खुश तक नहीं हुआ/जो घरों में हैं/उन्होंने खिड़कियां बंद कर ली हैं/कि भीतर न जाए इसकी ठंडी हवा/जो बाजार में खरीदे के लिए आए हैं/वे निबटा रहे हैं जैसे-तैसे खरीदी/और भाग रहे हैं सस्ते-महंगे वाहनों में/घर की ओर/सौदा बिगाडू इस शोभा को कोसते।

हिंदी में भवानी प्रसाद मिश्र अपने ढंग के अलग कवि हैं। उनकी कविताओं का अधिकांश उनके समय की दूसरे कवियों की कविताओं से कम मेल खाता है। प्रकृति के साथ उनका कवि संबंध भी खास और अलग तरह का है। उनके समय के अधिकांश कवि प्रकृति के दर्शक और कुछ उसमें पर्यटक हैं, जबकि भवानी प्रसाद मिश्र उसके रिश्तेदार और पड़ोसी हैं। कहते हैं कि रिश्तों की जड़ें बहुत गहरी होती हैं और पड़ोसी आप बदल नहीं सकते। ●

रेणु की कहानियों में आर्थिक समस्याएं

भारत यायावर

भारतीय ग्राम-समाज की आर्थिक गतिविधियों के मूल में है कृषि-व्यवस्था। कृषि पर आधारित लोक-जीवन के विविध पहलू हैं, विभिन्न पेशे से जुड़े हुए लोग हैं। कृषि-भूमि के असमान बँटवारे के कारण गांवों में विभिन्न वर्ग के लोग रहते हैं। संपन्न किसान से लेकर खेतिहर मजदूरों तक की अवस्था समान नहीं है। खेती कराने वालों को सम्मान की दृष्टि से देखा जाता है, पर मजदूरी करने वाले लोक-जीवन में सबसे निचले पायदान पर हैं। रेणु लोक-जीवन को चित्रित करने वाले एक जागरूक कथाकार थे, इसीलिए उनके कथा-साहित्य में ग्रामीण जीवन की सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक परिवेश के चित्रण के साथ-साथ आर्थिक अवस्था का भी चित्रण हुआ है। फणीश्वरनाथ रेणु ने युगों-युगों से शोषित किसान-मजदूरों की एक सही तस्वीर अपने कथा-साहित्य में प्रस्तुत की है। उन्होंने आर्थिक दुरावस्था से पीड़ित मनुष्य का अत्यंत ही कारुणिक चित्र प्रस्तुत किया है। जिस गहराई में उतरकर उनकी दृष्टि ग्रामीण जीवन के यथार्थ को मूर्त करती है, उनके समसामयिक अन्य कथाकारों की कृतियों में प्रायः उसका अभाव-सा पाया जाता है। वर्ग-विषमता की विभीषिका और ग्रामीण समाज व्यवस्था में घुटता हुआ जनजीवन, शोषण के परिप्रेक्ष्य में, इस प्रकार मूर्त हुआ है, कि उनकी कृतियां अपने समय और समाज की सही तस्वीर बन गई हैं। किसान-मजदूरों की आर्थिक परिस्थितियों के साथ-साथ उन्होंने विकास के नवीन चरणों के प्रति भी उत्साह व्यक्त किया है। किन्तु, यह भी सत्य है कि उनके दो वृहद् उपन्यासों - 'मैला आंचल' और 'परती-परिकथा' में जितना खुलकर और विस्तृत रूप में लोक-जीवन की आर्थिक अवस्था का चित्रण हुआ है, उतना उनकी कहानियों में नहीं। उनकी कहानियों में जन-जीवन का आर्थिक पक्ष प्रायः गौण है। फिर भी कुछ कहानियों में कहीं-कहीं पात्रों के आर्थिक पक्ष चित्रित हुए हैं।

'बटबाबा' कहानी में अनंत मंडर की पतोहू के बारे में रेणु बताते हैं कि उसके शरीर पर सिर्फ एक फटी साड़ी थी, जिसमें पांच-सात पैबंद लगे थे, चार-पांच साड़ी के टुकड़ों की पट्टियां तथा दो-ढाई हाथ कंट्रोल की साड़ी, सुहाग की साड़ी का एक टुकड़ा तथा अन्य साड़ियों के टुकड़ों की पट्टियों से बनी 'पंचरंगी' साड़ी से अपनी लाज ढंकते, आंसू पोंछते वह बोली थी, 'बाबा! अब इससे बढ़कर और कौन-सी सजा दोगे!' और वह फूट-फूटकर रो पड़ी थी। निर्धन साहू की बेटी लछमनिया भी रोने लगी थी- बाबा! गांव-मुहल्ला, टोला-पड़ोस तथा जाति-बिरादरी के लोग हँस रहे हैं। मैं इतनी बड़ी हो गई, कोई दूल्हे का बाप एक हजार से नीचे तिलक की बात ही नहीं करता है। बाबू और घर की दशा

तुमसे छिपी नहीं है।

यह है आर्थिक दुरावस्था का हृदय-विदारक दृश्य! रेणु की कहानियों में ऐसे निर्धन पात्र भरे पड़े हैं। आर्थिक बदहाली को चित्रित करते हुए 'बटबाबा' कहानी में ही आगे रेणु लिखते हैं- 'कलरू महतो पर जमींदार की कुर्की आनेवाली थी। टहलू पासवान का बेटा फौज में था, भजु धानुक की स्त्री बीमार थी। सब अपने-अपने धन-माल-जन के लिए 'मनौती' मना रहे थे।'

'पहलवान की ढोलक' कहानी में लुट्टन सिंह पहलवान की कहानी है, जिसे राजाश्रय मिला हुआ था लेकिन जब वृद्ध राजा साहब स्वर्ग सिधार गए तो राजकुमार ने राज्य-कार्य अपने हाथ में ले लिया और पहलवान के भोजन आदि पर खर्च आदि को देखकर, उसे फालतू समझकर निकाल दिया। वह अपने दोनों बेटों के साथ अपने गांव में रहने लगा और गांव के नौजवानों तथा चरवाहों को कुश्ती सिखाने लगा। खाने की व्यवस्था गांव वाले करते थे। रेणु आगे लिखते हैं - गांव के किसान और खेतिहर-मजदूर के बच्चे भला क्या खाकर कुश्ती सीखते! धीरे-धीरे पहलवान का स्कूल खाली पड़ने लगा। अंत में, अपने दोनों पुत्रों को ही वह ढोलक बजा-बजाकर लड़ाता रहा, सिखाता रहा। दोनों लड़के दिन-भर मजदूरी करके जो कुछ भी लाते उसी में गुजर होती रही। अकस्मात गांव पर वज्रपात हुआ। पहले अनावृष्टि, फिर अन्न की कमी, तब मलेरिया और हैजे ने मिलकर गांव को भुनना शुरू कर दिया। गांव प्रायः सूना हो चला था। घर के घर खाली पड़ गए थे।' इन थोड़ी पंक्तियों में रेणु बहुत-कुछ कह जाते हैं। गांव में आर्थिक विपन्नता के कारण लोगों को भरपेट भोजन भी नहीं मिल पाता। वैसे में सूखा-अकाल पड़ जाने पर यह अन्न-संकट और गहरा जाता है। भोजन के अभाव में शरीर कमजोर पड़ जाता है। कमजोर शरीर पर बीमारियों का असर जल्दी होता है। लोग अपनी निर्धनता में अपना इलाज नहीं करवा पाते और मरते जाते हैं। अंत में, पहलवान और उसके दोनों बेटे भी मृत्युग्रस्त हो जाते हैं। भूख और बीमारी से सबसे ज्यादा गरीब लोग ही मरते हैं। लोक-जीवन में जो ऐसे मारक दृश्य दिखाई पड़ते हैं, उसके पीछे एकमात्र कारण है निर्धनता। इस निर्धनता पर अर्थशास्त्रियों ने बड़े-बड़े शोधग्रंथ लिखे हैं। गुनार मिडल से लेकर अमर्त्य सेन ने काफी चिंतन किया है, परंतु रेणु ने जिस जीवंतता के साथ अपनी रचनाओं में लोक-जीवन की आर्थिक पीड़ा को प्रकट किया है, वह दुर्लभ है। 'विदापत नाच' नामक रचना में एक पात्र कहता है- 'दिन भर खटि के एक सेर धान, एकरा से कैसे बचत परान।' अर्थात् दिन भर मेहनत-मजदूरी करने के बाद एक सेर धान मिलता है, इससे अपने प्राणों की रक्षा कैसे की जा सकती है? यह एक मौलिक प्रश्न है। हिंदी के कुछ साहित्यकारों ने इस आर्थिक स्थिति पर लिखा है, जिसमें प्रमुख हैं, महावीर प्रसाद द्विवेदी। उन्होंने इस प्रश्न को सबसे पहले अपनी 'संपतिशास्त्र' नामक पुस्तक में उठाया। रेणु का एक पात्र गीतात्मक रूप में अपनी आर्थिक हालत का बयान करता है -

बाप रे कोन दुर्गति नहिं भेल!
सात साल हम सूद चुकाओल
तबहू उरिन नहिं भेल।
कोल्हुक बरद सन खटलौ रात-दिन
करज बाढ़त हि गेल।
थारी बेंच पटवारी के देलियेन्ह

लोटा बेंच चौकिदारी।
बकरी-बेंच सिपाही के देलियेन्ह
फटकनाथ गिरिधारी।

यह है भारतीय किसान की आर्थिक नियति-कथा, जो अपनी लोक-वाणी में अपनी दुर्दशा की कथा कह रहा है - मेरी कौन-सी दुर्गति नहीं हुई। जो मैंने कर्ज लिया था, सात वर्षों तक उसका सूद चुकाता रहा, फिर भी उरिन अर्थात् ऋणमुक्त नहीं हुआ। कोल्हू के बैल की तरह रात-दिन खटता रहा, फिर भी कर्ज बढ़ता ही गया। दूसरी ओर पटवारी को थाली बेचकर, चौकीदारी के लिए लोटा बेचकर और सिपाही को बकरी बेचकर पैसे दिए। अब फटकनाथ गिरधारी यानी पूरी तरह कंगाल बना जी रहा हूं।

यह है भारतीय किसान का आर्थिक जीवन। अभाव और दुःख से भरा। फिर वह सदियों से जीवित कैसे है? इतनी विपन्नता में भी उसकी संघर्षशीलता और जिजीविषा बची रहती है, इसका कारण है उसकी सांस्कृतिक चेतना। आर्थिक परिस्थितियां उसे तोड़कर रख देती हैं और मेला-ठेला, गीत-संगीत-उत्सव आदि उसकी मुरझाई जिंदगी में जीने का सहारा बनते हैं। रेणु किसान के इस मर्म को पहचानते हैं। मैनेजर पांडेय ने रेणु की कहानियों की इस विशेषता को रेखांकित करते हुए लिखा है - 'साधारण किसान परिवार गरीबी और चिंता में बारहों महीने जीने के बावजूद मेला-त्यौहार के मौके पर मिले सुख और उल्लास के क्षणों को हाथों से जाने नहीं देता। ऐसे क्षण उसे जीवन-संघर्ष को पार करने की शक्ति देते हैं। इन क्षणों को भी संभालने में हजार मुश्किलें सामने आती हैं लेकिन मुश्किलों में जीने और कठिनाइयों पर काबू पाने में भारतीय किसान का कोई जवाब नहीं। रेणु किसान-जीवन के ऐसे क्षणों को पूरी आत्मीयता और संवेदनशीलता के साथ चित्रित करते हैं।'

रेणु अपने प्रारंभिक दौर में लेखन के साथ-साथ समाजवादी आन्दोलन में सक्रिय रूप में भाग लेते थे। वे स्वाधीनता सेनानी भी थे। निरंतर किसानों और भूमिहीनों के लिए संघर्ष जारी रखा। अपनी ही जीवन-स्थिति को चित्रित करते हुए उन्होंने 1948 में एक छोटी-सी कहानी लिखी- 'खंडहर'। इस कहानी में उन्होंने अपने चरित्र का नाम दिया है गोपालकृष्ण। वह जब घर आता है तब उसके पिता उसे लंबा व्याख्यान दे डालते हैं, जिसमें उनके मन की पीड़ा भी है- 'बाबू गोपालकृष्ण, सोशलिस्ट लीडर, लेखक! इसके पीछे घर बरबाद हो गया। इसके कारण जमींदार से बैठे-बिठाए दुश्मनी हो गई, जमीन नीलाम हो गई, इज्जत मिट्टी में मिल गई।... मां की ऊंगलियों के छल्ले सेठजी के यहां बंधक पड़ गए और 'पूंजीवाद का नाश हो' का नारा लगाते हैं। घर के लोगों को तो एक शाम खिला नहीं सकते, दुनिया के मजदूरों की चिंता में दुबले हो रहे हैं। लेखक बने हैं, कहानियां लिखते हैं और अपने घर की कहानी पढ़ नहीं सकते। कमाना नहीं, सिर्फ खाना जानते हैं। पहले 'क' तब 'ख'। पहले 'कमाओ' तब 'खाओ'। सो नहीं...।' इसी कहानी में आगे रेणु लिखते हैं - 'पूंजीवादी समाज ने मध्यवर्ग, विशेषतया निम्नवर्ग और सर्वहारा वर्ग के जीवन में जैसी विकृति पैदा की है, उनका चित्रण तीव्र अनुभूति के माध्यम से हो। ये विकृतियां जीवन के हरेक पहलू में वर्तमान है- पारिवारिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, मनोवैज्ञानिक। संपूर्ण भावसत्ता विकृत हो गई है। क्या वह स्त्री पुरुष का प्रेम हो, संतान-प्रेम हो आदि। सारा जीवन विश्रृंखल है- व्यक्ति का हर भाग विघटित है। व्यक्ति का विश्लेषण कीजिए, पता चलेगा कि वे कितने 'डिसटॉर्टेड', 'एबनार्मल', 'न्यूरोटिक' है लेकिन इन

सबके बावजूद समाज में विद्रोहात्मकता जीवित है, वही आशा का केंद्र है।' यहां 'खंडहर' कहानी के उद्धृत पहले अंश को ध्यान में पढ़ें, तो रेणु का निजी जीवन उभरकर सामने आता है। किसानों और मजदूरों की आर्थिक बदहाली के विरुद्ध संघर्ष करने वाले सामाजिक कार्यकर्ता थे, समाजवादी आंदोलन से जुड़े हुए थे और लेखक भी थे। किंतु कुछ कमाते नहीं थे। आर्थिक उपार्जन न करने के कारण उनके घर की आर्थिक दशा भी खस्ताहाल थी। इसीलिए तो उनके पिताजी व्यंग्य कसते हैं- कहानियां लिखते हैं और अपने घर की कहानी पढ़ नहीं सकते। इसीलिए वे पूंजीवादी समाज का विश्लेषण करते हैं, जिसने विभिन्न वर्गीय समाज में अनेक तरह की विकृतियां पैदा कर दी हैं। रेणु की आशा का केंद्र है विद्रोहात्मकता, लेकिन वह भी धीरे-धीरे समाज में क्षीण होता चला गया। रेणु इसी कहानी में लिखते हैं- 'मुरली प्रसाद सब दिन से कांग्रेस के खिलाफ रहा, कांग्रेसियों को गाली देता रहा। '42 में पुलिसवालों के साथ घरों में आग लगवाता फिरा लेकिन उसका बेटा आज कांग्रेस का प्रेसीडेंट है, अफसरों के साथ मोटर में घूमता है, मिल के मालिक, करोड़पति सब उसके आगे हाथ बांधे खड़े रहते हैं।' यह है आजादी के ठीक बाद के भारत की तस्वीर। जो लोग अंग्रेजों का साथ देकर क्रांतिकारियों को पकड़वाते थे और पुरस्कृत होते थे, अब उनके बेटे कांग्रेसी होकर मिल मालिकों और अमीरों के खातिर काम कर रहे हैं और मालामाल हो रहे हैं। दूसरी तरफ देश भर में व्यापक भूख और महामारी से ग्रस्त गरीब लोगों का हाहाकार। यह स्थिति कोशी अंचल में और भी भयावह है। हर साल बाढ़ का आना। गांव के गांव का जलमग्न हो जाना। 'हड्डियों का पुल' का एक चित्र देखें :

'सामने जहां तक निगाहें पहुंचती है- पानी... पानी... शून्य...। मटमैली धरती... मटमैला आसमान।... झरबेर... बबूल और दूसरे किस्म के छोटी जाति के दरख्तों के ठूंठ... कहीं-कहीं नजर आते हैं। आसमान के मटमैले रंग में थोड़ी-सी लाली घोलकर सूरज उग आता है। हवा के झोंके में कीचड़ों, फसलों और घोंघों की सड़ाध मिली हुई हैं।... अन्न की खोज में- कोखजली धरती के लाल बढ़े जा रहे हैं। बिरौली बाजार! सेठ कुन्दनमल का भारी गोला। गोदाम है... अन्न नहीं, काम नहीं?. .. अन्न है, तुम्हारे पास कोई जेवर है?... नहीं। तुम्हारे पास जमीन है?... नहीं। तुम्हारे पास क्या है?... कुछ नहीं।.... सिर्फ देह में रोज क्रमशः घटती हुई ताकत!... भूखों की भीड़ बढ़ रहीं है। धरती की छाती चीर कर, पाताल से 'अन्न' निकालने वालों को आज अन्न नहीं मिल रहा है।' यह है लोक-जीवन की आर्थिक बदहाली, जहां लोग भूख से तड़प-तड़प कर मर रहे हैं। रेणु के आर्थिक चित्रण में दिल को दहला देनेवाली मार्मिकता है।

'रसप्रिया' में पंचकौड़ी मिरदंगिया एक लोक-कलाकार है, अब अपनी भूख मिटाने के लिए गांव-गांव घूमता फिरता है। पर उसकी कला की कोई कद्र नहीं। वह जाचक (याचक) है, फकीर है। उसने बहुत मुश्किल से चालीस रुपये बचा रखे हैं, जिसे वह मोहना को देते हुए कहता है- मोहना बेटा ! फारबिसगंज के डागडर बाबू को देकर बढ़िया दवा लिखवा लेना।... खट्टा-मीठा परहेज करना। ... गरम पानी जरूर पीना।' यह है एक गरीब कलाकार की मानवीय संवेदना। सुवास कुमार इस कहानी के संदर्भ में लिखते हैं- 'रेणु की नजर रंगीन या रोमांटिक नहीं है। वे गांव की भयंकर गरीबी को देखकर गहन सामाजिक व्यथा से भर उठते हैं। 'रसप्रिया' का पात्र मिरदंगिया जब मोहना को देखता है तो उसके पेट की तिल्ली की उसे हार्दिक चिंता होती है। एक गुणवान की तिल-तिल मरते

हुए देखने की कल्पना भी मिरदंगिया के लिए भयावह अनुभव है। मिरदंगिया जानता है, मोहना-जैसे लड़कों के पेट की तिल्ली चिता पर ही गलती है। क्या होगा पूछकर, कि दवा क्यों नहीं करवाते? मिरदंगिया खुद सीमाहीन गरीबी को भुगत रहा है और अतः उसे दूसरों की अभावग्रस्तता का गहरा एहसास है। रेणु में निर्मल वर्मा, मोहन राकेश जेसे लेखकों की प्रेमकहानियों की भांति व्यक्तिवादी अहम्मन्यता, अस्तित्ववादी अकेलापन और कुछ-कुछ देवदास-सरीखा शहीदाना भाव नहीं मिलेगा, क्योंकि प्रेम की आत्ममुग्धता से दूर, सामाजिक संदर्भों से युक्त करके देखते हैं। इसी से मिरदंगिया को अकेला, प्रेमहीन जीवन गले में लटके हुए मृदंग की भांति उधार का जीवन प्रतीत होता है।... 'रसप्रिया' कहानी में गांव की भयंकर गरीबी के रेगिस्तान में जीवनराग के छोटे शाद्वल की हरी छांह और पारदर्शी शीतल जल की खोज की छटपटाहट कविता के माधुर्य में तीव्रता से व्यंजित होती है।'

'लाल पान की बेगम' कहानी में रेणु ने दिखलाया है कि एक खेतिहर मजदूर से किसान बने बिरजू के बाप के घर की दशा किस तरह बदलती है। सर्वे सेट्लमेंट में उसे पांच बीघा जमीन मिली है। बिरजू की मां सोचती है- 'पांच बीघा जमीन क्या हासिल की है बिरजू के बप्पा ने, गांव की भाई भौजियों की आंखों में किरकिरी पड़ गई है। खेत में पाट लगा देखकर गांव के लोगों की छाती फटने लगी, धरती फोड़कर पाट लगा है, बैशाखी बादलों की तरह उमड़ते आ रहे हैं पाट के पौधे! तो अलान, तो फलान!... इसमें जलने की क्या बात है भला!... बिरजू के बप्पा ने तो पहले ही कुर्माटोली के एक-एक आदमी को समझा के कहा, 'जिंदगी-भर मजदूरी करके रह जाओगे। सर्वे का समय आ रहा है, लाठी कड़ी करो तो दो-चार बीघे जमीन हासिल कर सकते हो।' सो गांव की किसी पुतखौकी का भतार सर्वे के समय बाबू साहेब के खिलाफ खांसा भी नहीं।... बिरजू के बप्पा को कम सहना पड़ा है! बाबू साहेब गुस्से से सरकस नाच के बाघ की तरह हुमड़ते रह गए।' अब इस मजदूरों के गांव में सिर्फ बिरजू की मां के पास जमीन है, जिसमें धान लहलहा रहा है। पाट बेचकर उसके पति ने अपने बैल खरीदे हैं। वह किसी से बैलगाड़ी उधार मांगने गया है। उसे बैलगाड़ी पर बैठकर मेला देखने का शौक हुआ है। उसके घर में अनाज-दाना तो कुछ नहीं है, सिर्फ एक बांगड़ (बकरा) है, जिसकी रखवाली के लिए मखनी फुआ को अपने घर में छोड़कर वह सपरिवार, जलने वाली पड़ोसी औरतों को बैलगाड़ी में बिठाकर मेला देखने जाती है। यही लालपान की बेगम है। रेणु ने लोक-जीवन के अनेक भावों के ताने-बाने से यह कहानी बुनी है, पर आर्थिक अवस्था का यथार्थ चित्रण करने में भी वे नहीं चुके हैं।

'तॅबे ऍकला चलो रे' भूमि-संघर्ष पर आधारित रेणु की एक अद्‌भुत कहानी है, जिसका नायक किसन महाराज आदमी नहीं, एक पाड़ा है। इस कहानी में गांव के जमींदार और बटैयादारों में जमकर संघर्ष होता है। जमींदार बटैयादारों को अन्न का एक दाना भी देने को तैयार नहीं। दोनों ओर से भीषण-संघर्ष होता है। इस संघर्ष में किसन महाराज भूमिहीन किसानों की ओर से लड़ता हुआ शहीद होता है। उसके मरने के बाद गांव में शांति छा जाती है। रेणु लिखते हैं- 'गांव में सर्वत्र शांति विराज रही है- पवित्र शांति! गांव के छोटे-बड़े किसानों ने अपने बटाईदारों से कह दिया- जहां जी में आए ले जाओ फसल काटकर।' ग्रामीण जन-जीवन में खेतों का असमान बंटवारा है। कुछ लोगों के पास ही पूरी जमीन होती है, बाकी गांव के लोग उनकी जमीन को अधबटैया पर लेकर खेती-बारी करते हैं। बाकी के लोग सिर्फ खेतिहर मजदूर हैं। गांवों की यह आर्थिक कुव्यवस्था सदियों से कायम है।

विषमता से भरे लोक-जीवन की आर्थिक बदहाली को रेणु ने अपनी कई रचनाओं में चित्रित किया है। दूसरी ओर, उनके अंचल में बाढ़ की समस्या बरसों पुरानी थी। जिन इलाकों में बाढ़ का प्रकोप होता, वहां का जन-जीवन पूरी तरह तबाह हो जाता। लेकिन, उन इलाकों के व्यापारी और राजनीतिक वर्ग के लोग इसका पूरा लाभ उठाते। किसी भी प्रकार की आपदा हो, वह इस वर्ग को मालामाल कर देती है। इस बाढ़ आने पर, 'कस्बा रामपुर के व्यापारियों और बड़े महाजनों ने समझा लिया- 'शुभ-लाभ' का ऐसा अवसर बार-बार नहीं आता। चीनी आक्रमण के समय वे हाथ मलकर रह गए। ... तब अकाल का हल्ला चल ही रहा था कि भगवान ने बाढ़ भेज दिया। दरवाजे के पास तक आई हुई गंगा से कौन नहीं हाथ धोएगा भला! उनके गोदाम खाली हो गए, रातों-रात बही-खाते दुरुस्त! अकाल-पीड़ितों के लिए फंड में पैसे देने की सरकारी-गैरसरकारी अपील पर, उन्होंने दिल खोलकर पैसे दिए।... अनाज? अनाज? अनाज कहां?' यह है महाजनी सभ्यता, जो आजादी के बाद भी बदस्तूर जारी है। एक जागरूक कथाकार की तरह रेणु ने इस प्रथा के अभिशाप को प्रभावशाली तरीके से चित्रित किया है। इस वर्ग का गरीबों की दुर्दशा पर कभी मन नहीं पसीजता। बाढ़-पीड़ित लोग अब सर्वहारा हो गए हैं लेकिन बाढ़ का पानी हटते ही वे फिर अपने गांव की ओर लौटते हैं। रेणु लिखते हैं- 'सर्वहारा लोगों की टोली, सिर झुकाए हुए बचे-खुचे पशुओं को हांकते, बाल-बच्चों, मुर्गे-मुर्गियों, बकरे-बकरियों को गाड़ियों, बंहगियों और पीठ पर लादकर अपने-अपने गांव की ओर जा रही है, जहां न उसकी मड़ैया साबित है और न खेतों में एक चुटकी फसल किंतु उनके पैर तेजी से बढ़ रहे हैं। तीस-बत्तीस दिन के रौरववास के बाद उनके दिलों में अपने बेघर के गांव और कीचड़ से भरे खेतों के लिए प्यार की बाढ़ आ गई है।... कीचड़ पर उनके पैरों के छाप दूर-दूर तक अंकित हो रहे हैं।... गांव फिर बस रहे हैं।'

लेकिन बहुत-से गांव ऐसे हैं, जहां के युवकों में शहर का बेहद आकर्षण है। इसका कारण है- बेरोजगारी। 'उच्चाटन' कहानी में नगरोन्मुखता का मुख्य कारण आर्थिक ही है। इस कहानी में हलवाहा बिलसवा शहर में जाकर रिक्शा चलाता है और बिलसवा से रामविलास सिंह हो जाता है। शहर से गांव लौटकर नगर की चमक-दमक का वह ऐसा आकर्षक चित्र प्रस्तुत करता है कि अधिकांश ग्रामीण युवक उसके साथ शहर चलने को आकुल हो उठते हैं। शहर से वापस आकर वह 'मरकट महाजन' बूढ़े मिसिर को भी मात कर देता है। वह दिन-भर चाय, बीड़ी और ताश में डूबा रहता है और रात में अंग्रेजी दारू चलती है। रजिन्नर नगर की बात सुनते ही उसके साथी रोमांचित हो जाते हैं। हलवाहों का मन शहर में जाने को मचलने लगता है, उन्हें गांव से उच्चाटन हो जाता है। उन्हें अपना पेशा अत्यंत ही हीन और घृणित लगने लगता है और सभी शहर की ओर भागने को लालायित हो उठते हैं- 'भला कौन जवान रहना चाहेगा, इस मनहूस गांव में?'

रेणु ने 'विघटन के क्षण' कहानी में भी पलायन की इस पीड़ा की अभिव्यक्ति की है। गांव के कई संपन्न किसान भी गांव से नाता-रिश्ता तोड़ रहे हैं, क्योंकि शहर में उनकी आर्थिक स्थिति ज्यादा अच्छी है। इस कहानी के रामेश्वर चौधरी पिछले कई वर्षों से सपरिवार पटना में रह रहे हैं- 'छिटपुट जमीन यानी आधीदारी पर लगी हुई जमीन की हर साल बिक्री करके रामेश्वर बाबू अब 'निझंझट' हो गए हैं, खुदकाश्त में थोड़ी-सी जमीन है, पोखर और बाग-बगीचे हैं। जिस दिन कोई ग्राहक लग जाय, बेचकर छुट्टी! छुट्टी... माने, इस रानीडीह गांव से, अपनी 'जन्मभूमि' से कोई लगाव नहीं - किसी

तरह का संबंध नहीं रखना चाहते रामेश्वर बाबू।... पिछले पंद्रह साल से रामेश्वर बाबू पटना में रहते हैं- पटना के एम.एल.ए. क्वार्टर में। अब राजेंद्र नगर में घर बनवा रहे हैं। इस बार संभव है पार्टी-टिकट नहीं मिले। किंतु अब गांव रानीडीह लौटकर नहीं आ सकते। किसी गांव में नहीं रह सकते।' रामेश्वर बाबू का अब वर्ग-चरित्र बदल गया है। किसानी का पेशा उन्हें हीनता का लगता है। वे शहरी हो चुके हैं। गांव के प्रति उनका लगाव समाप्त हो चुका है। शिक्षित ग्रामीण लोग धीरे-धीरे शहरों में बस चुके हैं। लोक-जीवन के प्रति राग समाप्त हो गया है। इसका मुख्य कारण है गांवों से शहरों की बेहतर आर्थिक स्थिति। और, यह स्थिति तब तक नहीं बदल सकती, जब तक गांवों में भी वे सुख-सुविधाएं न बहाल की जाए, जो शहरों में हैं। भारतवर्ष में ग्रामीण लोगों का शहरों की ओर पलायन बदस्तूर जारी है। इससे शहरों पर जनसंख्या का अनियंत्रित बोझ पड़ा है और उससे अनेक तरह की समस्याएं उत्पन्न हुई हैं।

●

लेखकों से अनुरोध

- वैचारिक, आलोचनात्मक लेख, कहानी, संस्मरण, डायरी, यात्रा वृत्तांत आदि अधिकतम 3000 शब्दों में ही प्रेषित करें।
- लेख के अंत में अपना नाम, पता, फोन, ई-मेल आदि का उल्लेख करें।
- भेजी गई सामग्री स्पष्ट एवं पठनीय हो तथा पन्ने के एक तरफ लिखी गई हो। बेहतर होगा कि लेख यूनीकोड/मंगल फांट में ही टाइप कराकर भेजें।
- चित्र एवं अन्य कॉपीराइट-सुरक्षित सामग्री के संदर्भ में : लेख में उपयोग हेतु आवश्यक अनुमति लेना लेखक का उत्तरदायित्व होगा।
- रचनाओं की स्वीकृति व अस्वीकृति की सूचना एक माह के अंदर दे दी जाएगी। रचनाओं की वापसी के लिए लिफाफा संलग्न करें।
- लेख के साथ भेजे गए पत्र में इस बात का उल्लेख अवश्य हो कि यह लेखक की मौलिक, अप्रकाशित और अप्रसारित रचना है तथा इसको प्रकाशन हेतु अन्यत्र नहीं भेजा गया है।

आप लेख bahuvachan.wardha@gmail.com, amishrafaiz@gmail.com पर ई-मेल कर सकते हैं अथवा रजिस्ट्रीकृत डाक/स्पीड पोस्ट से निम्न पते पर भेज सकते हैं-

संपादक
बहुवचन
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय
पोस्ट- हिंदी विश्वविद्यालय, गांधी हिल्स, वर्धा-442001 (महाराष्ट्र)
मो. नं.- 09422386554

यथार्थ के भविष्य की आहट

भरत प्रसाद

कलम से कलाकार के जीवन का संबंध किसी फार्मूला, नियम या सिद्धांत के अनुसार नहीं होता। कलम से उत्पन्न तथ्य, सत्य, विचार और वेदना के आधार पर रचनाकार के व्यक्तित्व का संपूर्ण मूल्यांकन कर लेना मासूमियत भरी नादानी से भी ज्यादा घातक है। जीवन में रचनाकार हूबहू वही नहीं होता, जो रचनाओं में प्रकट करता है। यह जरूर है कि जो शब्द-शिल्पी कलम और जीवन के बीच कठिन फासले को पाटने का जितना ही-ईमानदार प्रयास करता है- वह उतना ही प्रामाणिक और विश्वसनीय सर्जक बनता है। सृजन के मैदान में स्त्री-पक्षधरता का प्रबल योद्धा, बहुत संभव है- व्यक्तिगत जीवन में स्त्री के प्रति असंवेदनशील और काफी हद तक स्त्री विरोधी हो। दरअसल साहित्य स्वप्न, आकांक्षा, उद्देश्य, और कल्पना का मोहक मानचित्र है, जबकि यथार्थ के कठोर धरातल पर जीवन चाहे लेखक का हो या आम व्यक्ति का सपनों के अनुसार नहीं जीया जा सकता। भरपूर उम्र जीना सांसारिक विसंगतियों से समझौता करने का दूसरा नाम है। कई बार लेखक अपने जीवन को, अपनी कलम से कही गुना ऊपर उठा लेता है और कई बार वह अपने जीवन को अपनी कलम की अपेक्षा कई गुना नीचे गिरा लेता है। दलित सत्ता का पक्षधर अपने जीवन में दलित विरोधी है। ब्राह्मणवाद की बखिया उधेड़ने वाला प्रगतिशील आलोचक बनियान के नीचे छः सूत वाला फंदा लटकाए हुए हैं।

संभव है जीवन में संकीर्णता का गुलाम और आत्मग्रस्तता का रोगी रचनाकार श्रेष्ठ सिद्ध हो जाय, कालजयी कहलाने लगे और युगप्रवर्तक का मुकुट धारण कर ले, किंतु इससे उसके व्यक्तित्व को बेमिसालियत साबित नहीं हो जाती। व्यक्तित्व की महानता कलम की महानता की मोहताज नहीं। यह अवश्य है कि व्यक्तित्व की विलक्षणता सृजन की अद्वितीयता में चमक भर देती है। पिछले 25-30 वर्षों के हिंदी-साहित्य में 'पापुलर' रचनाओं की भरमार है- किंतु सर्वप्रिय व्यक्तित्व का घनधोर अकाल है आजकल। प्रगतिशील दक्षिणपंथियों के साथ मुंह में मुंह डाले गप्पें लड़ा रहे हैं। जन पक्षधर लेखक जनता के दुश्मनों के साथ कॉकटेल पार्टियों का सुख लूटने में मग्न हैं। इसमें क्या दो मत कि समय की चाल-ढाल को नए सांचे में ढाल देने वाला सर्जक जीवन में अपनी कलम का मूर्तिमान व्यक्तित्व होता है- किंतु ऐसा सभी रचनाकारों के साथ लागू नहीं होता। टालस्टॉय चरित्र-संयमी व्यक्ति न थे और न ही अपनी पत्नी की कोमल आकांक्षाओं के प्रति संवेदनशील, किंतु 'अन्ना कारेनीना' पढ़कर आप टालस्टाय की कैसी मूर्ति गढ़ेंगे? राहुल सांकृत्यायन महापंडित कहलाए, किंतु

देश- विदेश जहां गए वहीं एक प्रेमिका। निराला वेदांती, भक्त हृदय के साथ गीतिका-अर्चना के गीत रचने वाले- ओज पूर्ण उदात्तता की प्रतिमूर्ति किंतु जीवन में मांस-मदिरा दोनों का जमकर सेवन करते थे। लिखते समय तकलीफ हो रही है- मगर सच्चाई आज की यही है कि क्या वरिष्ठ, क्या युवा दोनों पीढ़ियों में अधिकांश प्रतिष्ठित, स्थापित और स्टार टाइप रचनाकारों ने अपने जीवन में चारित्रिक पतन की सारी सीमाएं तोड़ डाली हैं। नामवरजी श्रेष्ठ आलोचक हैं न? लेकिन जसवंत सिंह, आनंदमोहन और पप्पू यादव की किताबों का लोकार्पण एवं उनकी तारीफों का पहाड़ खड़ा कर देना उनके साथ जुड़े हुए अकाट्य तथ्य हैं।

रचनात्मकता दरअसल एहसासों में निरंतर बहती रहने वाही- भाव धारा है, जो कभी- कभार ही अपना अबाध, अप्रतिहत, प्रचंड स्वरूप धारण करती है। अकसर यह अंतर्धारा चित्त में, बुद्धि-विवेक में अंतरात्मा और चेतना में बहती, सरकती, मचलती, घुमड़ती प्रशांत किंतु गहरी नदी की भांति सक्रिय रहती है। यह रचनात्मक अनुभूति एक बिंदु की तरह है, सूत्र की भांति या कहिए एक बीज जैसी, जो किसी घटना, दृश्य, प्रसंग, दबाव और परिस्थिति की प्रेरणा से वृहद् रूप धारण करती है। मुक्तिबोध ने जिसे फैंटेसी कहा वह तो प्रत्येक भाव साधक सर्जक में होती है जहां सृजन है वहां फैंटेसी होगी तय है यह। कलात्मक अनुभव खास क्षण में ही नहीं होता, बल्कि चलते- फिरते, बतियाते, व्यस्त रहते हुए भी होता रहता है। ऐसे न जाने कितने रचनात्मक एहसास यूं ही सांस लेते हुए बीत जाते हैं, जो कलात्मक शब्दों का ढांचा हासिल न कर पाने के कारण अभिव्यक्त नहीं हो पाते। हर रचनाकार दोहरा जीवन जीने के लिए अभिशप्त है। एक उसका सांसारिक जीवन जिसमें उसकी घर-गृहस्थी है, परिवार है, नाते-रिश्तेदार हैं, सामाजिकता है, उसके भारी-भरकम शिष्टाचार हैं और दूसरी ओर उसका स्वयंभू, उन्मुक्त स्वचेत, सर्वगामी, अबाध किंतु दमित अंतःव्यक्तित्व। जीवन की अंतिम सांसों तक लेखक अपने इन्हीं दोनों व्यक्तित्वों में पिसकर रह जाता है। अपने सांसारिक व्यक्तित्व की सफलता लेखक की पराजय है और अंतःव्यक्तित्व की सिद्धि उसकी जीत। अन्य मनुष्यों की तरह खाता-पीता, पहनता, व्यवहार और बातचीत करता हुआ लेखक बिलकुल साधारण मनुष्य की तरह नहीं होता। अर्थात् सामान्य मानव की तरह वह जीवन बिता ही नहीं सकता। उसके हर कद्म में उसका रचनाकार अड़ंगा लगा ही देता है। इसीलिए उसके द्वारा किया गया कोई भी कार्य लीक से, परंपरा से, चलन और परिपाटी से हटकर होता है। आम व्यक्ति के साधारण जीवन और एक रचनाकार के सामान्य जीवन में दिखाई पड़ता हुआ अंतर भले न हो, किंतु अंतर भारी पैमाने पर होता है।

रचनात्मकता का व्याकरण अंतिम रूप में अव्याख्येय, अपरिभाषेय है। चूंकि यह प्रकृति प्रदत्त उर्जा है, अंतर्दृष्टि और अंतः प्रज्ञा है इसीलिए प्रकृति की तरह यह रहस्यमय, शब्दातीत और असीम है। लगभग क्या शत-प्रतिशत प्रत्येक श्रेष्ठ रचनाकार के सृजन का अंतः व्याकरण अलग-अलग होता है। यह अवश्य है-सृजन के स्तर का निर्धरण करने में सर्जक का मानवीय संस्कार, जीवनमूल्य, संसार के प्रति दृष्टिकोण, आत्म संघर्ष इत्यादि निर्णायक भूमिका निभाते हैं। इसके अतिरिक्त सृजन की उम्र तय करने में कल्पना का बहुमुखीपन, अपराजेय भावप्रवणता, निर्माणकारी चेतना और यथार्थ के विश्लेषण की विलक्षण बौद्धिकता केंद्रीय महत्व की है। किंतु ये सब मिलकर भी रचना-प्रक्रिया को अंतिम रूप से परिभाषित नहीं कर सकते। यदि पर्वत, समुद्र, वृक्ष, आकाश और प्रातः काल पर दस

श्रेष्ठ कवयित्रियों को कविता लिखने को कह दिया जाए, तो आश्चर्यजनक रूप से दसों में दस प्रकार के मौलिक भावों की रश्मियां बिखरी हुई नजर आएगी। अर्थ निकला- एक ही विषय एक ही युग के असंख्य रचनाकारों में अनगिनत तरीके से अभिव्यक्त होने की संभावना रखता है। 'तीसरा क्षण' निबंध में मुक्तिबोध ने सृजन के तीन सोपानों की जो चर्चा की है- वह सभी कवियों पर कैसे लागू हो सकता है? इसमें क्या दो मत कि हजारों रचनाकारों की रचना प्रक्रिया की कुछ विशेषताएं समान रूप से पाई जाती हैं- चाहे वे रूसी, जापानी, फ्रांसीसी, अमेरिकन, भारतीय या किसी भी देश के क्यों न हों?

यह रचना प्रक्रिया अभाव के दर्द, न्याय के संकट, इच्छित की आकांक्षा और 'होना चाहिए' की पवित्र जिद से उपजती है। कल्पना प्रवणता प्राणतत्व है रचना प्रक्रिया का। सर्जक विषय के संपूर्ण अंतर्बाह्य से ज्यों-ज्यों एकाकार होता जाता है, त्यों-त्यों रचना प्रक्रिया आकाशी बिजली की भांति आलोकमय होकर कई दिशाओं में फैलने लगती है। विषय के स्वरूप को अमिट बनाने के लिए सर्जक जिस ढंग के ताकतवर और सटीक शब्दों, प्रतीकों, बिंबों और उपमाओं की खोज करता है, यदि वे सब मिल गए, तो समझिए कवि की सृजन-साधना पूरी हुई। यह रचना प्रक्रिया झाड़ियों, पत्तियों से ढंके हुए मार्गशून्य क्षेत्र में प्रशस्त और दिशापूर्ण मार्ग का निर्माण करना है। आत्म सजग रचनाकार ही अपने सृजन के जटिल कारणों की बारीकी से पकड़ पाता है और उसे सुचिंतित वाक्यों के बल पर दक्षतापूर्वक विश्लेषित कर पाता है।

सृजन की मनोदशा खुद को श्रमपूर्वक निचोड़ने, कसने, दुहने और रगड़ने की पीड़ा ही है। सृजन की पीड़ा आत्मविभोर भी करती है और अवसाद का तूफान भी रच देती है। वह एक तरफ भावविह्वल और कमजोर कर देती है तो दूसरी ओर कवि को चट्टान से कई गुना सशक्त मन वाला बना भी देती है। निश्चय ही सृजन के क्षणों में मन अपने विलक्षणतम स्वरूप में होता है- अप्रत्याशित चमक के साथ, अनोखे भावावेग के साथ, अलौकिक अनुभूतियों के उठते-गिरते ज्वारभाटा के साथ। यह क्षण आभ्यांतरिक प्रज्ञा की परम सजगता का, विवेक के उर्जस्वित तनाव का और खुद कवि द्वारा उठा लिए गए पृथ्वी, सृष्टि, जीवन संरचना के अनंत दबाव का क्षण होता है। ऐसे क्षण में शब्द सप्राण, साकार, और सक्रिय हो उठते हैं। अब तक अज्ञात शब्दों के अर्थों की ताकत ऐसे क्षण देखते ही बनती है। सृजन का यह क्षण अपने चरम प्रकाश के साथ कांपती हुई लौ का रूपक समझिए, अत्यंत अस्थिर, क्षणिक, समाप्तशील किंतु अद्वितीय मूल्यवत्ता से परिपूर्ण। नैसर्गिक विवेक, कल्पना की मौलिकता, विलक्षण विश्लेषणत्मक बुद्धि और भावावेग जब अपने श्रेष्ठ स्वरूप में एक साथ मिलते हैं तो सृजनात्मकता संभव होती है। भाव प्रवणता सृजन की महागुरु है। उसके बगैर अविस्मरणीय सृजन अपना पांव टिका ही नहीं सकता। संतोष, आत्मतुष्टि और समबुद्धि की मानसिकता में सृजन संभव नहीं। सृजन प्रश्न की पीड़ा है, दबाव की प्रतिक्रिया है, चाहिए को हासिल करने की जिद और सघन आलोचनात्मक बुद्धि का रचनात्मक प्रतिफल है। कविता सर्वाधिक नैसर्गिक विधा है जो लिखी नहीं जाती, बस घटित हो जाती है, उतर आती है, अचानक बरस जाती है- फट पड़ती है, न जाने किस अप्रत्याशित मनोदशा में लक-लक नाचती हुई कागज पर स्थिर हो जाती है। है तो यह कवि-व्यक्तित्व की चमक ही किंतु कुछ क्षणों के लिए कवि को अपने आगोश में समेट लेती है और कवि उस आभ्यांतरिक चमक के व्यामोह में डूबा हुआ देशकाल के एहसास को खो देता है।

मुक्तिबोध ने पहली बार फैंटेसी शिल्प को हिंदी कविता में संभव किया, किंतु वे इस शिल्प की आधारभूमि का मुकम्मल निर्माण न कर सके। इसे 'अनुभव की कन्या' मात्र कह देने से बात पूरी नहीं हो जाती। दरसल यह समकालीन हिंदी का भावी शिल्प है, कवि का चुनौतीपूर्ण शिल्प, जो कि किसी-किसी कवि के हाथों ही सध पाता है। मुक्तिबोध अब तक के सफलतम फैंटेसीकार। जटिलतर समय की दर भयावहता और रहस्यमयता से सफलतापूर्वक टकराने वाला ऐसा बेजोड़ शिल्पी हिंदी में आज तक खड़ा नहीं हुआ। अद्वितीय कल्पना शक्ति, बेजोड़ व्याकुलता और असाधारण बौद्धिकता के विलक्षण संतुलन से फैंटेसी संभव होती है। अतिशयोक्ति, चमत्कार या अतिरेक के रूप में दिखती हुई यह शैली दरअसल यथार्थ के ही चरम विस्तार की आहट है। वह विस्तार चाहे विकृत रूप में हो या सुगठित रूप में। फैंटेसी यथार्थ के भविष्य पर फोकस है। लगभग प्रत्येक कवि इच्छाओं के स्तर पर फैंटेसीधर्मी होता है किंतु अभिव्यक्ति वह उस दक्षता के साथ नहीं कर पाता, जो सधे हुए फैंटेसीकार के लिए जरूरी है।

बिंब, मिथक और प्रतीक सदियों से काव्यकला के मौलिक तत्व रहे हैं, किंतु इसकी भी सीमाएं हैं। कविता में वे ही बिंब और मिथक टिक पाए हैं, जो समय के अनुसार प्रासंगिक रहे हों, या फिर अपने पुरानेपन को झाड़कर नए, सामयिक अर्थों से लैस हो गए हों। इसमें क्या दो मत कि अर्थग्रहण के लिए बिंबग्रहण आवश्यक है। कविता में बिंबग्रहण कभी भावों के आकार में, कभी विचारों के आकार में, कभी अपने पूर्वानुभवों तो कभी व्यक्तिगत अनुभूतियों के रूप में ग्रहण होता है। समझ लिया गया बिंब जब हमारे अनुभवों के 'सम' पर बैठता है-तो मौलिक अर्थों का विस्फोट करता है, नए, मौलिक अर्थों की रश्मियां पैदा करता है। इतना ही नहीं, बिंब हृदय में कविता के जीवित व्यक्तित्व की स्थापना करता है। एक प्रकार से सार्थक कविता का अनिवार्य गुण है बिंब। कविता में बिंब स्वाभाविक, बोधगम्य और मौलिक होना चाहिए, बिल्कुल अछूता, जिसका इस्तेमाल कवि की जानकारी के दायरे में फिलहाल किसी भी कवि ने न किया हो। रवींद्रनाथ, जयशंकर प्रसाद या मुक्तिबोध इसलिए भी समय प्रवर्तक सर्जक सिद्ध हुए- क्योंकि उनके बिंब सिर्फ उन्हीं के बने रहे। न तो उनका प्रयोग पहले कभी हुआ था, न ही बाद में कभी हुआ।

अलक्षित, अव्यक्त और मौलिक सत्यों से भरे पड़े विषयों का चुनाव करना मेरी सृजन- प्रक्रिया की केंद्रीय प्रवृत्ति है। ऐसा सत्य या अर्थ जो साहित्य की किसी विधा में व्यक्त कर दिया गया हो और जिसे हमने पढ़ लिया हो, जान लिया हो उसे अपनी कलम द्वारा शब्दबद्ध करने से बचता हूं। यदि किसी दबाव में आकर बार-बार दुहराए गए विषयों पर लिखना ही पड़ जाए तो भीतर एक विनम्र जिद घुमड़ती रहती है कि कैसे इस 'रिपिटेड' विषय की नयी व्याख्या की जाए? कैसे तमाम व्याख्याओं की कतार से अलग निकाल लिया जाए? इस मंशा का एक कारण यह भी है कि दुनिया भर के सैकड़ों विलक्षण रचनाकार मिलकर भी किसी एक विषय की संपूर्ण व्याख्या, मूल्यांकन और दार्शनिकीरण नहीं कर सकते। मेरे सृजन का दूसरा पहलू वे सर्वसामान्य, चिर-परिचित, सर्वज्ञात मुद्दे भी हैं जो लगभग प्रतिदिन हमारे मानस को छूते हैं, उद्वेलित, प्रेरित और प्रभावित करते हैं। लगातार बदलते हुए अत्याधुनिक मनुष्य का अलक्षित मन हमारे सृजन का रुचिकर विषय रहा है। जटिल, गूढ़ और उलझे-पुलझे विषय के मर्म को नए, ओजपूर्ण और व्यवहारपूर्ण अंदाज में पेश कर देना मेरी कलम का लक्ष्य है। जटिल भाषा-शैली और गांठदार वाक्य संरचना में रचना को प्रस्तुत करना हमें

पाठकों पर साथ ज्यादाती लगती है। अनुछुई अनुभूतियों को बेलीक मौलिकता के साथ रचनाबद्ध करना मेरे रचनाकार का शौक है- प्रथम और अंतिम शौक।

कवि एक साथ सैकड़ों, बल्कि कहिए हजारों प्रेरणाओं से संचालित, नियंत्रित और सक्रिय होता है। समर्थन और विरोध, स्वीकार और इनकार, सम्मान और अपमान, प्रेम और घृणा, प्रसिद्धि और गुमनामी सभी से वह सृजन की ओर प्रेरित होता है। कई बार उसके प्रशंसक, समर्थक और हितैषी उसकी कलम में वह ऊर्जा नहीं भर पाते जितना कि उसके निंदक, घोर विरोधी और खिल्ली उड़ाने वाले भर देते हैं। सर्जन की क्षमता पर उठी हुई अंगुलियां एक न एक दिन उसे ऊंचाई देने का सबसे बड़ा कारण सिद्ध होती हैं क्योंकि अपनी क्षमता के खिलाफ उठा हुआ तूफान अनिवार्यतः उसे चट्टान बनने की जिद भरता है। प्रशंसा जहां कवि को आत्ममुग्धता की नींद में सुला देती है, निर्मम आलोचना वहीं सचेत करती हुई आगे बढ़ने की जागृति से भर देती है।

एक दूसरे स्तर पर अब तक मिले हुए संस्कार सृजन की प्रेरणा बनते हैं। जिस अतीत, जिस समाज, जमीन, आकाश, राग-रंग, दुःख-सुख, जय-पराजय को कवि ने जीया है- उसे ही कविता के बहाने दुबारा जी लेना, उसमें नहा लेना, चित्त को मल-मलकर धो लेना चाहता है। अपने ही शब्दों के मंत्र फूंक-फूंककर कवि अपने आपको जीवित करना चाहता है। जिस जमीन पर, जिस समाज में और जिस वातावरण में वह पला-बढ़ा है- वे सैकड़ों प्रकार से अभिव्यक्त होने के लिए कवि को बार-बार पुकारते हैं।

जिस तरह सोचना अनैच्छिक क्रिया है, उसी तरफ कल्पना करना। संवेदनशील मस्तिष्कधारी प्रत्येक मानव किसी न किसी रूप में कल्पना करता है। किंतु रचनाकार का मन-मस्तिष्क कल्पना का मालिक होता है। इसे हम निर्माणक, सर्जनात्मक या कलात्मक कल्पना भी कह सकते हैं। प्रत्येक भाषा के आलोचक और कवि ने सृजन में कल्पना की भूमिका को अनिवार्य माना है। मुक्तिबोध ने तो इसे 'जीवन की पुर्नरचना' (कामायनी : एक पुनर्विचार) के अर्थ में परिभाषित किया। दरअसल यह कल्पना कुछ और नहीं, नए अर्थ को कलात्मक ढंग से पेश करने के लिए उर्ध्वगामी चेतना की उड़ान है। विषयों में मौजूद, किंतु अदृश्य तथ्यों और सत्यों की खोज है और दृश्य को दर्शन में तब्दील करने की तरकीब है। कोरी बुद्धि से प्रेरित कल्पना सृजन की किसी भी विधा को गहरी क्षति पहुंचाती है, जबकि भावोद्वेलित कल्पना विषय के अर्थ में अद्वितीय आकर्षण का रस भर देती है। यही कल्पना अभिव्यक्ति के स्तर को दिशा देती है, अनुभूति को प्रामाणिक बनाने वाला शब्दों का चयन करती है और मृत पड़े हुए हजारों-लाखों विषयों को पुनर्जीवित करती है।

यह कल्पना ही है जो दुहराव के बासीपन से कवि को बचाती है और ऐसे-ऐसे वाक्यों को पेश करती है, जो अपने निहितार्थ में मौलिक न होते हुए भी प्रस्तुति के स्तर पर नयापन लिए होते हैं।

काव्य सृजन न तो आवेश-शून्य होता है, न ही आवेग पूर्ण; बल्कि यह नवोन्मेषशाली अंतःविवेक से नियंत्रित एक धीमा किंतु सतत भाव-प्रवाह है। यह अवश्य है कि सृजन की प्रक्रिया में यह प्रवाह कभी तरंग की तरह उछाल भरता है तो कभी बर्तन में लबालव ठहरे हुए पानी जैसा हो जाता है। 'spontaneous overflow' की अवस्था सृजन में बड़ी मुश्किल से, एकाध बार ही घटित होती है। आवेगमयता सहज साध्य नहीं, बल्कि परिश्रमपूर्वक हासिल की जाने वाली चुनौती है। कई बार विषयों के भीतर भरे हुए असाधारण मर्म सर्जना में आवेग भर देते हैं, और कई बार स्वयं कवि में ही इतना

रस, इतनी भावुकता, इतनी बेचैनी भरी रहती है कि मामूली से मामूली विषय में भी तरंगित अर्थों का वह नजारा खड़ा कर देता है। आवेग का निकष है, चरम है- अर्थों की मौलिकता, विलक्षणता। विषय की तहों में घुसते-उतरते हुए कवि जितनी ही ईमानदारी, प्रखर दृष्टि और सूक्ष्म बौद्धिकता का इस्तेमाल करता है, उसमें भावावेग उतना ही लहरदार होता चला जाता है। सच्ची आवेगमयता सृजन में चुंबकत्व लाने के साथ-साथ नायाब अर्थों की गरिमा से रचना को भर देती है। यह एक दुर्लभ भावदशा है, जो कि लहर के शिखर की भांति अत्यंत क्षणिक, अस्थायी किंतु बहुमूल्य होती है। ज्ञान, अनुभूति, संस्कार और आत्मप्रकृति एक साथ मिलकर सर्जनात्मक भावावेग को जन्म देते हैं। खालिस आवेगपूर्ण कविता सृजन के आकर्षण का खोखला भ्रम है और आवेगशून्य कविता भी सृजन का रेगिस्तान है। आवेग का स्तर कैसा और कितना हो- यह कवि के सिवा और कोई नहीं तय कर सकता।

सृजन ही नहीं, कला के किसी भी क्षेत्र में प्रतिभा का कोई जोड़, कोई विकल्प नहीं है। अभ्यास प्रतिभा की चमक को, उसकी ताजगी को बरकरार रखता है। प्रतिभा को असाधारण स्तर की पूर्णता अभ्यास से ही मिलती है। आचार्य भामह ने तो मात्र 'प्रतिभा' को ही काव्य हेतु के रूप में स्वीकार किया। दंडी के अनुसार प्रतिभा के साथ-साथ व्युत्पत्ति (शास्त्र ज्ञान) और अभ्यास भी काव्य सृजन के मौलिक कारण हैं। न सिर्फ संस्कृत के वैयाकरणों, बल्कि हिंदी के मर्मज्ञ आलोचकों ने भी काव्य सृजन में इन तीनों की महत्ता को स्वीकार किया है जबकि इनके अलावा काव्य-सृजन में एक अन्य तत्व का भी केंद्रीय महत्व है- वह है- कवि-व्यक्तित्व। कवि में प्रतिभा है, वह प्रचुर अभ्यास का मालिक है, साथ ही शास्त्रों का, काव्य-सिद्धांतों का ज्ञाता भी है, किंतु वह व्यक्तित्वहीन शून्य है- शर्तिया बड़ा रचनाकार नहीं हो सकता। इनमें मात्र 'प्रतिभा' ही वह अद्वितीय गुण है, जो अर्जित नहीं किया जा सकता। बाकी तीनों अर्थात् व्यक्तित्व, शास्त्र ज्ञान और अभ्यास कर्म साध्य हैं। कवि के जीवन की कोई दिशा नहीं है, वह रीढ़ का लुजलुज है, उसकी मुट्ठियां, बांधने की कला भूल चुकी हैं, वह मौका देखकर किधर भी लुढ़क जाता है, उसकी अपनी कोई प्रतिबद्धता, पक्षधरता और स्टैंडर्ड नहीं है- समझिए प्रतिभा का अवतार होते हुए भी दो क्या, एक कौड़ी का भी लेखक नहीं है। इसलिए व्यक्तिगत तौर पर मैं प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास की कीमत को स्वीकार करते हुए भी सर्वाधिक, बल्कि असीम महत्व 'व्यक्तित्व' को देता हूं। हजारों दिशाओं में अपनी चेतना की तरंगों को फेंकने वाले सर्वगामी व्यक्तित्व को।

सृजन कोई तनाव, पीड़ा या दबाव नहीं है- यदि कुछ हद तक है भी तो सृजन के प्रारंभिक चरण के रूप में। सृजन अपनी असली ऊंचाई में एक प्रवाह, विस्फोट और प्रस्फुटन है। सृजन में भाषा की केंद्रीय भूमिका को कौन अस्वीकार कर सकता है? किंतु बड़े से बड़ा कवि भी अपनी रचनात्मक अनुभूतियों को भाषा के द्वारा पूर्णतः प्रकट नहीं कर सकता। समुद्र से भी अधिक प्रचंड भावावेगों को पूर्णतः प्रकट करने वाली आज तक कोई भाषा बनी ही नहीं। प्रत्येक विषय अपनी प्रकृति के अनुसार, कवि से समर्थ भाषा की मांग करता है या यों कहें- योग्य शब्दों का पाना विषय का हक है। जो कवि अपने विषयों को सर्वाधिक योग्य भाषा दे दिया- वह अपने युग का सर्वाधिक सफल कवि बनता है। कविताएं रचने के दौरान मेरी भाषा का तनाव, समसामयिक बने रहने की तीव्र आकांक्षा है। अर्थात् अपने समय की प्रचलित, व्यावहारिक और सर्वमुखी भाषा ही हमारी रचनात्मकता

की प्रिय भाषा है। जो अपनी सहजता के बावजूद कलात्मकता के टटकेपन से लबरेज हो, और कलात्मक होने के बावजूद पाठक की अपनी भाष लगे। इसी कलात्मक सहजता को साधने की कशमकश ही तथाकथित शब्दों में हमारी रचनात्मकता का तनाव है। दुहराना जरूरी है कि सृजन के क्षणों में तनाव को जीने वाला कवि पहलवान हो सकता है- उस्ताद नहीं।

यहां बार-बार याद हो उठता है- एमर्सन का यह वाक्य- 'केवल प्रतिभा ही लेखक नहीं बना सकती, कृति के पीछे एक व्यक्तित्व भी होना चाहिए।' यह व्यक्तित्व न तो पूर्णतः अभ्यास साध्य है, न ही संस्कारगत- बल्कि संस्कार और अभ्यास दोनों मिलकर व्यक्तित्व का निर्माण करते हैं। काव्य-रचना में कवि का व्यक्तित्व रस की भूमिका निभाता है।

जिस प्रकार गन्ने में रस, पेड़ में पानी और शरीर में रक्त बाहर से न दिखाई पड़ते हुए भी अपनी संजीवनी भूमिका निभाते हैं- ठीक उसी प्रकार कविता की शरीर में प्राण फूंकने का कार्य कवि का व्यक्तित्व करता है। सांसारिक जीवन में कवि जहां नहीं दिखता- वहां अपनी रचनाओं के बहाने मौजूद होता है। सच्चाई यहां तक है कि दुनियावी सोच-विचार, प्रवृत्ति, आकांक्षा और सपनों वाला कवि साधारण काव्यात्मकता से ऊपर नहीं उठ सकता। व्यक्तित्व की कसौटी वाणी, व्यवहार और जीवनशैली तो हैं, किंतु अंतिम कसौटी नहीं। व्यक्तित्व की प्रामाणिक कसौटी हैं- प्रवृत्तियां, आदतें, हुनर, कौशल, सोच, विवेक, अंतर्दृष्टि, चेतना और संवेदनशीलता। स्वाभाविक रूप से ये सबकी सब आंतरिक होती हैं। इसीलिए बाह्य व्यक्तित्व के आधार पर किसी के स्थायी व्यक्तित्व का निर्धारण नहीं किया जा सकता। कविता के अर्थ में विलक्षणता इस रहस्य से तय होती है कि कवि अपनी सोच में कितना पारदर्शी, वैज्ञानिक और तर्कप्रेमी है। उसका अंतःविवेक कितने व्यापक स्तर पर जाग्रत है। उसकी बहुआयामी चेतना सृष्टि की असीमता में कितना घुसपैठ लगा सकती है।

तात्विक दृष्टि से गद्य और पद्य में कोई अंतर नहीं है। यह अवश्य है कि गद्य अपने शिखरत्व की दशा में पद्य बन जाता है- चाहे वह कहानी हो, उपन्यास हो, आत्मकथा हो या... इसके बावजूद दोनों को एक तराजू पर तौल देना न्यायसंगत नहीं। पद्य में अर्थ का अंतराल व्यंजना, ध्वनि या गूंज में होता है जबकि गद्य में अर्थ का अंतराल न दिखने वाले महीन तार के रूप में। गद्य, विषय में निहित अर्थ की पुनर्व्याख्या या अभिनव प्रस्तुति है, जबकि पद्य विषय के अलक्षित अर्थ की झंकार, प्रतिध्वनि या विस्फोट। इसीलिए पद्य में उक्ति-वैचिष्य जहां अमृत की तरह है- वही गद्य में महा घातक। गद्य और पद्य दोनों का लक्ष्य सृष्टि के अनंत सत्यों का उद्घाटन करके मनुष्य को सजग, ज्ञानपूर्ण और संवेदनशील बनाना। पद्य यह काम बहुत कम वक्त में बेहद गहराई के साथ संपन्न करता है, जबकि गद्य यही काम भरपूर वक्त लेकर संपन्न करता है। पद्य विषय के खास मर्मस्थलों का चुनाव है- जबकि गद्य विषय के एक-एक पक्ष पर गिरने वाली रोशनी है। यदि विषय के व्यक्तित्व को संपूर्णता में समझना हो तो गद्य का कोई विकल्प नहीं, किंतु विषयार्थ की गहनतम तासीर का एहसास करना हो तो पद्य का कोई जोड़ नहीं। इस प्रकार पद्य की ताकत अर्थ प्रकट करने की भंगिमा है और गद्य की ताकत चुंबकीय चित्रात्मकता। अपनी प्रकृति में भिन्न होने के कारण दोनों विधाएं रचनाकार से अलग-अलग मनोदशाओं की मांग भी करती हैं।

●

प्रेमचंद और लू शुन की कहानियों का तुलनात्मक अध्ययन

चाओ वाई

भारत और चीन में कहानी में यथार्थवादी होने की प्रक्रिया में बहुत साहित्यिक लोगों के प्रयास उल्लेख के लायक हैं, और इन लोगों में से सबसे महत्वपूर्ण वाले हैं भारत के प्रेमचंद और चीन के लू शुन। उन के साहित्य के ध्येय और उन की पूर्ति के लिए चुने जाने वाले साधन एक ही थे। ऐसी समानता ने उन को एक पथ के अनुयायी और साथी बनाए, उनको एक ही मंजिल की ओर आगे बढ़ने को प्रेरित भी किया।

प्रेमचंद और लू शुन की कुछ कहानियों में घटनाओं का अंतर्क्षेप रहता है। डॉ. सुरेंद्र चौधरी ने प्रेमचंद की कहानियों के बारे में ऐसा लिखा- 'किसी घटना को केंद्र में रखकर सामान्यतः प्रेमचंद जी किसी मनःस्थिति या व्यापक रूप से जीवन-स्थिति का उत्थापन करते हैं। चूंकि अधिकांश कहानियों में केंद्रीय घटना का संबंध-क्रम में विकास होता है, इसलिए उन की सामान्य कहानियों में कथानक के इस विकास के कारण रैखिकता आ जाती है।'[1] जैसे प्रेमचंद की कहानी 'कफन' में केंद्रीय घटना एक ही है, बुधिया की मृत्यु। इस कहानी का कथानक इसी घटना को जीवन की सामान्य, किंतु व्यापक, परिस्थिति के केंद्र में रखकर निर्मित है। प्रेमचंद की कहानियों में अक्सर एक केंद्रीय घटना है और लू शुन की कहानियां प्रेमचंद की तरह होने के बावजूद थोड़ी अलग हैं। चीनी आलोचक यान जिया यान ने लू शुन की कहानियों के बारे में लिखा है- 'मैं ऐसा नहीं कहना चाहता कि लू शुन की हर कहानी पॉलीफोनिक कहानी है।... फिर भी 'पॉलीफोनी' लू शुन की कहानियों की विशेषता है। यह लू शुन का बड़ा योगदान भी है।'[2] इस का मतलब यह है कि लू शुन की कहानियों में आम तौर पर अनेक मुख्य घटनाएं हैं, जैसे उन की कहानी 'आ क्यू की सच्ची कहानी' 'कफन' से अलग है। इस कहानी की सभी घटनाओं का केंद्रीय पात्र एक ही है- आ क्यू। यों तो देखने में इस कहानी का कथानक अव्यवस्थित है, फिर भी इस की सब घटनाओं का मूल उद्देश्य एक ही है यानी पाठकों को चीन का लेखक के समय का सामाजिक यथार्थ दिखाना।

'कफन' में लिखे हुए बाप-बेटे और 'आ क्यू की सच्ची कहानी' में लिखे हुए आ क्यू के बीच काफी समान तत्व हैं। इन दोनों कहानियों को पढ़ने के बाद हम भारत और चीन की सामंती भूमि-व्यवस्था स्पष्ट रूप से समझ सकते हैं। इतना ही नहीं, दोनों कहानियों की तुलना करने के माध्यम से हम दो कहानियों का मूल और अर्थ अधिक गहराई से समझ सकते हैं।

'कफन' में घीसू और माधव केवल भारत के सामान्य ग्रामीणों के प्रतिनिधि ही नहीं बल्कि

सामान्य ग्रामीणों से और नीचे हैं। उनकी जाति दलित है, पर वे जाति से जुड़ा काम कभी नहीं करते थे। इतना ही नहीं, खेती के बिना वे कोई काम भी नहीं करते थे। यों तो उनके घर में मिट्टी के दो-चार बर्तन के सिवा कोई संपत्ति नहीं थी, फिर भी वे बहुत आलसी थे। उनके आलसीपन के बारे में कहानी में ऐसा लिखा- 'घीसू एक दिन काम करता तो तीन दिन आराम करता। माधव इतना काम-चोर था कि आध घंटे काम करता तो घण्टे भर चिलम पीता।... घर में मुठ्ठी-भर भी अनाज मौजूद हो, तो उन के लिए काम करने की कसम थी।... जब तक वह पैसे रहते, दोनों इधर-उधर मारे-मारे फिरते।'[3] जब खाना नहीं था, वे काम भी नहीं करते थे, कभी-कभी वे चोरी करते थे। दोनों का आलसी व्यक्तित्व स्पष्ट रूप से अभिव्यक्ति किया गया है। वे समाज के परजीवी थे।

दोनों की आत्मा बहुत बुरी भी थी। उनके दिल में मानवता की भावना बिल्कुल नहीं थी। बुधिया माधव की पत्नी थी। जब बुधिया प्रसव-वेदना में पछाड़ खा रही थी, घीसू और माधव को उसकी कोई परवाह नहीं थी। वे झोंपड़े के द्वार पर अलाव के सामने बैठकर आलू भून रहे थे। यों तो वे जानते थे कि बुधिया को मौत का खतरा होगा, फिर भी दोनों दर जाकर देखभाल नहीं करना चाहते थे, क्योंकि वे चिंता करते थे कि अगर अपने आप दर जाए, तो एक अकेले सब आलू खा जाएगा। कहानी में माधव ने ऐसा कहा- 'मरना ही तो है जल्दी मर क्यों नहीं जाती? देखकर क्या करूं?'[4] यह बदमाश शायद इसी इंतजार में था कि पत्नी मर जाए, तो आराम से सोए। बाद में बुधिया मर गयी। घीसू और माधव ने कफन खरीदने के लिए गांव के निवासियों से कुछ-न-कुछ पैसे प्राप्त किए। इन पैसे से क्या करें? कहानी में उनकी इसी बातचीत को संवाद के द्वारा दिखाकर उनके विचार अभिव्यक्ति किए गए हैं। -

'कैसा बुरा रिवाज है कि जिसे जीते जी तन ढांकने को चीथड़ा भी न मिले, उसे मरने पर नया कफन चाहिए।'

'कफन लाश के साथ जल ही तो जाता है।'

'कफन लगाने से क्या मिलता? आखिर जल ही तो जाता। कुछ बहू के साथ तो न जाता।'[5]

इसके बाद इस कहानी की सबसे बुरी बात हुई कि बाजार जाकर दोनों ने कफन नहीं खरीदा, पर एक मधुशाला में सारे पैसे से खाना और पीना खरीदकर खा चुका है। कहानी की समाप्ति ऐसी स्थिति में हुई- 'दोनों नाचने लगे। उछले भी, कूदे भी। गिरे भी, मटके भी। भाव भी बताए, अभिनय भी किए।'[6] घीसू और माधव उनके नशे में होते रहते थे। यह कहानी भारत के सबसे निम्न जाति के लोगों की त्रासदी है। इस में कथानक को निर्मित करने वाले दो प्रमुख तत्त्व हैं, पहला है ग्रामीण परिवेश का जीवंत और घटनापूर्ण चित्र तथा दूसरा है आर्थिक शोषण की पृष्ठभूमि। घीसू और माधव के सब विचार अवैज्ञानिक और अयुक्तियुक्त हैं। वे जीवन भर तो दर्दनाक थे, पर बेवकूफ भी थे। हो सकता है कि उस समय के धार्मिक उत्पीड़न और वर्ग के शोषण के सामने वे कभी कभी शिकायत करते थे और निर्वाण भी मांगते थे, पर समाज के परिवर्तन के बिना उनकी इच्छा कभी पूरी नहीं हो सकती थी। इस को देखकर मेरे मन में आसानी से लू शुन और उनकी कहानी 'आ क्यू की सच्ची कहानी' और इस कहानी में आ क्यू और उसके 'मनोवैज्ञानिक विजय प्राप्त करने का तरीका' की याद आ जाती।

'आ क्यू की सच्ची कहानी' लू शुन की सबसे प्रसिद्ध रचनाओं में से एक है। इस कहानी में

पुराने चीन के एक पिछड़ा और अज्ञान ग्रामीण आ क्यू की त्रासदी अभिव्यक्त की गई है। आ क्यू लू शुन के रचे गए पात्रों में से सबसे प्रसिद्ध भी है। लू शुन ने कहानी में आ क्यू की पारिवारिक पृष्ठभूमि नहीं बताई, पर यह स्पष्ट है कि वह घीसू और माधव की भांति चीन के सामान्य ग्रामीणों का प्रतिनिधि ही नहीं बल्कि सामान्य ग्रामीणों से और नीचे है, क्योंकि आ क्यू के पास कुछ खेती नहीं थी, कोई उत्पादन उपकरण भी नहीं था। घीसू और माधव की तरह आ क्यू बहुत गरीब और निम्न वर्गीय है। उसके पास परिवार नहीं था, घर भी नहीं। वह वेइच्वांग गांव में एक संरक्षक-देवता के मंदिर में रहता था। उसके पास कोई नियमित रोजगार भी नहीं था। वह दूसरों के लिए छोटा-मोटा काम करके जीवन बिताता था। कभी-कभी वह चोरी भी करता था। जीवन बहुत मुश्किल से बिताता था। कहानी में उसकी हालत के बारे में ऐसा लिखा- 'जो भी काम मिल जाता, कर लेता। गेहूं काटना होता तो गेहूं काट देता, चावल पीसना होता तो चावल पीस देता, नाव चलाना होता तो नाव चला देता।'[7] इतनी बुरी स्थिति में होने के बावजूद भी जब कभी उसकी जेब में पैसा होता तो आ क्यू जुआ खेलने के लिए जाता। वह कुछ न कुछ पैसे के लिए जीतना चाहता था, मगर हमेशा नहीं जीत सकता था। उसका सारा पैसा धीरे-धीरे जुआ खेलने से अन्य जुआरियों की जेब में पहुंच जाता था। कुछ समय के बाद आ क्यू की हालत और भी बिगड़ गयी है। यहां तक तो यह कहानी प्रेमचंद की 'कफन' से बहुत समान है लेकिन अगर आगे पढ़ें तो पाठक आसानी से समझेंगे कि लू शुन ने इस कहानी में चीनी सामाजिक वास्तविकताओं की बहुत अधिक गहरी आलोचना कर ली।

इस कहानी की सबसे बड़ी सफलता यही है कि लू शुन ने इस में 'मनोवैज्ञानिक विजय प्राप्त करने का तरीका' बनाया और पाठकों को बताया। यह तरीका आ क्यू की सबसे मुख्य भावना है। इस भावना का मूल है आत्मकामी होना, कमजोरों को धमकाना, शक्तिशालियों को डरना और भुलक्कड़ होना। अपने बारे में आ क्यू बहुत ऊंची राय रखता था। गांव के सभी लोगों को वह अपने से नीचा समझता था। इतना ही नहीं, जब आ क्यू को कई बार शहर जाने का मौका मिला तो स्वभावतः उसका दिमाग पहले से ज्यादा चढ़ गया और वह शहर के लोगों के प्रति और वितृष्णा से भर जाता। वह ठीक तरह से वास्तविकता कभी नहीं समझता था और लगातार मायाजाल में डालता था। गांव के निठल्ले लोग हमेशा आ क्यू को पीटते थे। आम तौर पर वे आ क्यू की भूरी चुटिया खींचकर उसका सिर चार-पांच बार दीवार से टकरा लेते थे। जब आ क्यू बिलकुल परास्त हो जाता, तो उसका 'मनोवैज्ञानिक विजय प्राप्त करने का तरीका' आ जाता और वह मन-ही-मन सोचता- 'मालूम होता है मुझे मेरे बेटे ने पीटा है। आजकल कैसा जमाना आ गया है!'[8] इसके बाद वह अपनी विजय पर संतुष्ट होकर वहां से चला जाता। बाद में सभी लोग, जो उसकी खिल्ली उड़ाते थे, उसके तरीके को जान गए थे। इसलिए जब कोई आ क्यू की चुटिया को खींचता, वह कह देता- 'आ क्यू, बेटा बाप की पिटाई नहीं कर रहा, बल्कि इनसान जानवर की पिटाई कर रहा है। जरा कहो तो इनसान जानवर की पिटाई कर रहा है।'[9] आ क्यू के मुश्किल से बोलने के बावजूद ही वह अपनी आदत के मुताबिक आसपास की किसी चीज से कई बार आ क्यू का सिर टकरा लेता। क्या इस बार आ क्यू पूरी तरह हार गया है? नहीं! कहानी में ऐसा लिखा- 'दस सेकेंड बीतने से पहले ही आ क्यू भी अपनी विजय पर संतुष्ट होकर वहां से चल देता, यह सोचता हुआ कि वह 'सर्वप्रथम आत्म-अकिचनताकारी व्यक्ति' है, और अगर 'आत्म- अकिचनताकारी व्यक्ति' शब्द निकाल दिए

जाएं तो सिर्फ 'सर्वप्रथम' रह जाता है। क्या सर्वाधिक अंक लेकर सरकारी परीक्षा पास करने वाला उम्मीदवार भी 'सर्वप्रथम' नहीं है?'[10] आ क्यू अपने से अधिक शक्तिशाली लोगों के सामने हमेशा के लिए ऐसी चतुर चलने से विजय प्राप्त करता था। अगर वास्तविक विजय चाहता, तो आ क्यू को उससे और कमजोर लोगों के पास जाना पड़ता। वह उन लोगों को हँसता था और पीटता था। जैसे उसने छोटी भिक्षुणी के सामने जोर से खंखार किया और उसका गाल मसल डाला। उनके सभी व्यवहार 'मनोवैज्ञानिक विजय प्राप्त करने का तरीका' का परिणाम है।

आ क्यू का 'मनोवैज्ञानिक विजय प्राप्त करने का तरीका' अवैज्ञानिक तथा अयुक्तियुक्त है, जिससे देखा जा सकता है कि साम्राज्यवाद और सामंतवाद के उत्पीड़न में उस समय चीन के गांव के नीच वर्गीय आदमी कितने असहाय और दुःख थे। वे उत्पीड़न के सामने कुछ नहीं कर सकते थे, केवल मन में विजय प्राप्त करने की कल्पना कर सकते थे। इस भावना के द्वारा आ क्यू का सामाजिक वास्तविकता के प्रति असंतोष और रोष भी अभिव्यक्ति किया जाता है। लू शुन ने कहा है कि उनकी 'आ क्यू की सच्ची कहानी' का रचनात्मक उद्देश्य राष्ट्र की कमजोरियों को दिखाना है। इसके बाद चीन में इस तरह की भावना 'आ क्यू की भावना' के रूप में कही जाती है।

आ क्यू की ऐसी भावना बहुत नकारात्मक भी है और लू शुन ने इस कहानी के माध्यम से ऐसी भावना की आलोचना की है। समाज में ऐसी भावना कैसी और क्यों होती थी? इसके बारे में यान जिया यान ने ऐसा लिखा- 'विरोधाभासों से भरा आ क्यू का विचार और उसका व्यक्तित्व मुख्यतः आधुनिक चीन सामंती समाज से अर्द्ध-सामंती और अर्द्ध-औपनिवेशिक समाज तक बनने की प्रक्रिया में उभर गया है। आ क्यू के विशिष्ट व्यक्तित्व को बनाने का विशिष्ट परिवेश वेइच्वांग गांव ही है। हमें इस कहानी को छोड़कर आ क्यू के व्यक्तित्व के बनने के सामाजिक कारण पर चर्चा करने की जरूरत बिल्कुल नहीं है।'[11] वेइच्वांग एक कैसा समाज है। एक ओर वह अत्यंत असभ्य और अविकसित सामंती कस्बा है जिसमें हजारों सालों तक बड़ा परिवर्तन नहीं हुआ, दूसरी ओर विदेशी पूंजीवाद के आर्थिक शोषण के तहत चीन के सामंती समाज के धीर-धीरे दिवाला निकलने और संघर्ष करने का एक सूक्ष्म जगत वह भी है। इस कहानी में वेइच्वांग के सामाजिक परिवेश के बारे में मुख्यतः तीन हाथों पर लिखा जाता है। पहले हाथ पर वहां सख्त पदानुक्रम था। उच्च वर्गीय लोग मनमाने ढंग से नीच वर्गीय लोगों का शोषण कर सकते थे। इस कहानी में चाओ साहब और छ्येन साहब जैसे सामंती अभिजात लोग वेइच्वांग के केंद्र थे। कहानी में इसके बारे में ऐसा लिखा गया है- 'वेइच्वांग में दरअसल यह रिवाज था कि अगर सातवां बेटा आठवें बेटे को पीट दे अथवा अमुक ली अमुक छांग को पीट दे तो कोई खास बात नहीं समझी जाती थी, लेकिन जब पिटाई की घटना का संबंध चाओ साहब जैसे किसी महत्त्वपूर्ण व्यक्ति से होता तो गांववासी इसे चर्चा का विषय समझते थे और जहां एक बार उन्होंने इसे चर्चा का विषय समझ लिया तो पिटाई करने वाले के एक प्रसिद्ध व्यक्ति होने के कारण पिटने वाले को भी इस प्रसिद्धि का कुछ-न-कुछ भाग अवश्य प्राप्त हो जाता था। पक्के तौर पर कसूर तो आ क्यू का ही माना गया, क्योंकि लोग समझते थे कि चाओ साहब हरगिज गलती नहीं कर सकते।'[12] चाओ साहब का विचार वेइच्वांग का कानून था। इतना ही नहीं, जब वे कहते थे कि आ क्यू का कुलनाम चाओ नहीं हो सकता था, तो आ क्यू चाओ का इस्तेमाल कभी नहीं कर पाया। 'कफन' में ऐसी हालत भी थी और इस हालत के बारे में ऐसा लिखा गया

है- 'जब जमींदार साहब ने दो रुपये दिए, तो गांव के बनिए-महाजनों को इनकार का साहस कैसे होता?'[13] यहां जमींदार साहब के शब्द और उनका व्यवहार गांव का कानून भी था।

दूसरे हाथ पर वेइच्वांग में ग्रामीण अर्थव्यवस्था का दिवाला हो रहा था और सामाजिक व्यवस्था का बहुत बड़ा परिवर्तन हो रहा था। लू शुन के समय से पहले चीन एक पिछड़ा कृषि देश था। यों तो बड़ी संख्या में सामान्य गांववासियों के पास सारे समाज के धन का एक बहुत छोटा सा हिस्सा रहा, फिर भी ज्यादा लोगों की जीविका किसी तरह से हो सकती था। आधुनिक काल में चीन धीरे-धीरे सामंती समाज से एक अर्द्ध-सामंती और अर्द्ध-औपनिवेशिक समाज बन जाता है। उस समय भारत की हालत चीन की तरह थी। 'कफन' और 'आ क्यू की सच्ची कहानी' में भारत और चीन के सबसे निम्न जाति के लोगों के सामाजिक स्थिति और कठिन जीवन- सही रूप से अभिव्यक्त किए जाते हैं। ऐसी स्थिति क्यों हुई? एक हाथ पर शिक्षा और ज्ञान की कमी के कारण वे अज्ञानी हैं। दूसरे हाथ पर धार्मिक उत्पीड़न और वर्ग के शोषण के तहत उनकी भावनाएं बिगड़ गईं, उन के विश्वास खो गए और उन के साहस उड़ गए। एक और महत्वपूर्ण और सीधा कारण यह है कि वे नीच वर्ग के लोग हैं। उनके पास कुछ खेती या कोई उत्पादन उपकरण नहीं है। वे जमींदारों के वहां काम किए बिना जीवन नहीं बिता सकते। इस स्थिति के होने का एक मुख्य कारक है भारत और चीन की सामंती भूमि-व्यवस्था।

पश्चिमी यूरोप में रोमन साम्राज्य के विघटन के बाद एक नए प्रकार के समाज और एक नई शासन व्यवस्था का जन्म हुआ। इस नयी व्यवस्था को 'सामंतवाद' कहा जाता है। इस समाज में राजा सबसे बड़ा और शक्तिशाली सामंतवादी जमींदार ही था। राजा के अलावा देश का मुख्य स्थान उन जमींदारों का था जो अपनी सेनाओं की सहायता से भूमि के बड़े हिस्सों पर अपना अधिकार जमा कर रखते थे और प्रशासन में भी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते थे। समय के साथ-साथ दुनिया के विभिन्न क्षेत्रों में, जैसे चीन, तुर्कों द्वारा मध्य एशिया तथा राजपूतों द्वारा भारत में सामंतवादी शासन व्यवस्था भी निकल गयी। जैसे-जैसे इस व्यवस्था का विकास होता गया, हर क्षेत्र में वहां की स्थिति और परंपराओं के अनुरूप इसने विभिन्न रूप धारण कर लिया। यूरोप की भांति सबसे पहले भारत और चीन की सामंतवादी शासन व्यवस्था राजा के लिए सेवा करती थी। राजा सबसे बड़े और शक्तिशाली सामंतवादी जमींदार थे और विशिष्ट लोगों को भूमि इनाम के रूप में देते थे। जिन लोगों ने भूमि को लिया, वे जमींदार बन गए। राजा की शक्ति सबसे अधिक होती गई और छोटे जमींदारों की शक्ति को सीमित करने के प्रयत्न किए गए। राजा छोटे जमींदारों के द्वारा अधिकार में ली गई भूमि को मान्यता देता था और उसके बदले उनसे अपने प्रति निष्ठा और सेवा के वचन की मांग करता था। धीरे-धीरे स्थिति बदल गई है। कुछ जमींदार इसी प्रकार अपने से छोटे जमींदारों को भूमि के एक हिस्से पर अधिकार देते थे और उनसे निष्ठा का वचन लेते थे। सिद्धांत में राजा किसी भी ऐसे जमींदार की भूमि के वापस ले सकता था जो उसके प्रति वचनबद्ध नहीं रहा हो लेकिन वास्तविक तौर पर ऐसा शायद ही कभी किया जाता था। इस प्रकार सामंतवादी शासन व्यवस्था में भू-स्वामियों का मुख्य अधिकार था और वे पूरी चेष्टा करते थे कि कोई भी बाहरी आदमी इस व्यवस्था में शामिल न हो सके। यह सामंतवादी व्यवस्था की एक बहुत ही सामान्य रूपरेखा थी।

भारत और चीन की सामंतवादी व्यवस्था के बीच फर्क तो था। जब भारत में कठोर वर्ण व्यवस्था

हो रही थी और राजा ब्राह्मण पुजारियों को बहुत भूमि देता था, चीन में शयी शेन वर्ग की शक्ति बढ़ रही थी और राज्य की भूमि का एक बड़ा हिस्सा शयी शेन वर्ग के हाथ में था। फिर भी सामान्य दृश्य के रूप में दोनों की सामंतवादी व्यवस्था का स्वरूप, यानी सामंतवादी भूमि-व्यवस्था एक ही था। सामंती भूमि-व्यवस्था न केवल सामंतवाद का आर्थिक आधार था, बल्कि सामंती उत्पादन संबंध का आधार भी था। मार्क्स के अनुसार जमींदार पहले वर्ग के थे और किसान दूसरे वर्ग के। सामंती भूमि-किराया सामंती शोषण का मूल रूप था। सामंतवादी समाज में लगभग सारे देश की भूमि जमींदारों की थी। किसानों के पास कुछ भूमि न थी या बहुत कम भूमि थी। किसानों को जमींदारों की जमीन किराए पर लेना था। फिर उनको भूमि की फसल भूमि-किराया के रूप में जमींदारों को देनी थी। आम तौर पर जमींदार किसानों का भारी शोषण करते थे। सामंतवादी भूमि-व्यवस्था किसानों के आर्थिक रूप से शोषित और राजनैतिक रूप से पीड़ित होने का स्रोत थी, जो पहले वर्ग और दूसरे वर्ग के बीच वर्ग-अंतर्विरोध बढ़ा रही थी।

अपने हितों की रक्षा करने के लिए पहला वर्ग दूसरे वर्ग के लोगों के दिमाग में आज्ञापालन का विचार पैदा करते थे। इसलिए दूसरे वर्ग के लोगों ने वास्तविकता का सामना करने का साहस बिलकुल न छोड़ा। वे परेशान और घबड़ाए भी थे। 'आ क्यू की सच्ची कहानी' में आ क्यू की परेशानी के बारे में ऐसा लिखा- 'भोजन की खोज' में जब वह सड़क पर जा रहा था तो सामने चिरपरिचित मदिरालय और भाप से पकी रोटी पर नजर पड़ी लेकिन वहां एक क्षण के लिए भी रुके बिना, यहां तक कि उन्हें पाने के लिए लालायित हुए बिना वह आगे बढ़ गया। उसे इन चीजों की तलाश नहीं थी, हालांकि यह बात वह खुद भी नहीं जानता था कि उसे किस चीज की तलाश थी।'[14] बाद में उसने शहर जाने का फैसला किया। उसके लिए शहर जाने का कोई फायदा नहीं हुआ कि वह शहर में एक चोर बन गया। आ क्यू की चुरायी और वेइच्वांग में लायी चीजों में विदेशी छींट के कपड़े आदि माल थे। ये माल वेइच्वांग में बहुत लोकप्रिय हुए। इससे देखा जा सकता है कि उस समय विदेशी पूंजीपतियों का आर्थिक आक्रमण बहुत गहरा हुआ था। ऐसे आर्थिक आक्रमण के साथ चीन की खुद की ग्रामीण अर्थव्यवस्था नष्ट हो जाती थी। अधिक और अधिक आ क्यू के जैसे गांववासी ज्यादा गरीब हो जाते थे। वे आवारा बनकर शहर में जाते थे।

तीसरे हाथ पर वेइच्वांग में टुटपुंजियापन खूब चलता था। इस के बारे में यान जिया यान ने ऐसा लिखा- 'जब चीन एक अर्द्ध-सामंती और अर्द्ध-औपनिवेशिक समाज बन जाता था, संक्रामक रोग की तरह बहुत लोगों के बीच टुटपुंजियापन का विचार फैल जाता था। मजबूतों की प्रशंसा करना और कमजोरों को अवमानना आम मनोवृत्ति था।'[15] जब आ क्यू छोटी भिक्षुणी को पीटता था, लोग देखते थे और हँसते थे। 'कफन' में ऐसी स्थिति भी थी। ऐसी स्थिति होने का कारण क्या है? 'कफन' में इस के बारे में ऐसा लिखा गया है- 'जिस समाज में रात-दिन मेहनत करने वालों की हालत उन की हालत से कुछ बहुत अच्छी न थी, और किसानों के मुकाबले में वे लोग, जो किसानों की दुर्बलताओं से लाभ उठाना जानते थे, कहीं ज्यादा संपन्न थे, वहां इस तरह की मनोवृत्ति का पैदा हो जाना कोई अचरज की बात न थी।'[16] लू शुन ने ऐसी स्थिति को मजाक के रूप में लिखा। 'आ क्यू की सच्ची कहानी' में एक क्रांति के बारे में लिखा है। आ क्यू सही ढंग से क्रांति को नहीं समझ सकता था। सबसे पहले वह क्रांति के बारे में ऐसे सोचता था- 'क्रांतिकारी लोग विद्रोह करते हैं और

अगर विद्रोह पूरा हो जाए तो उसका जीवन और मुश्किल हो जाएगा। इसीलिए वह क्रांतिकारी लोग को हमेशा नापसंद करता था और अपने को उनसे दूर रखता था।'[17] बाद में आ क्यू क्यों क्रांति में शामिल हुआ? वह बड़े साहब को भयभीत करना और अपनी खुशी के लिए गांववासियों में आतंक फैलाना चाहता था लेकिन इस क्रांति में उसे अपना हिस्सा मिलने का मौका नसीब नहीं हुआ। यह क्रांति मजाक की तरह हुई कि आज ऐसी होने के बाद कल बिलकुल उलटी तरफ हो सकती थी। अराजकता में कुछ क्रांतिकारियों ने एक रात को चाओ परिवार के घर चोरी की। आ क्यू कुछ किए बिना अन्याय किए क्रांतिकारियों के साथी के रूप में गिरफ्तार किया गया है। बाद में आ क्यू बलि का बकरा बन गया और उसे गोली मार दी गयी थी। यह आ क्यू की त्रासदी का समाप्ति है।

दोनों कहानियों में नायकों का वर्णन करने के माध्यम से न केवल उस समय की सामाजिक समस्याओं की आलोचना की जाती है, बल्कि उन समस्याओं के पीछे छिपी हुई भारत और चीन की सामंती भूमि-व्यवस्था भी बतायी जाती है। आ क्यू, घीसू और माधव की समानता यह है कि उनके विचार में कोई नई, वैज्ञानिक, युक्तियुक्त या युगानुरूप चेतना नहीं थी। सामंती भूमि-व्यवस्था की वजह से वे कठिनाई से जीवन बिताते थे और उनको कोई आशा भी नहीं थी। वे भारत और चीन के निम्न वर्गीय लोगों के प्रतिनिधि हैं। इस तरह के लोगों को मालूम नहीं था कि वे क्यों इतने गरीब थे और उनको क्यों सभी तरह के शोषण, अपमान, अन्याय या उत्पीड़न के शिकार होना चाहिए। अत्यंत कठिन जीवन की वजह से उनकी मनोविज्ञान अपसामान्य बन गयी। वे आलसी होते हैं, चोरी करते हैं, झूठ बोलते हैं और पागल होते हैं। धीरे-धीरे उन के दिल में मनोविकारी व्यक्तित्वों और समाजविरोधी व्यक्तित्व बनने लगा। इस मनोविकारी व्यक्तित्व और समाजविरोधी व्यक्तित्व को लिखना दो कहानियों की लेखन शैली की विशेषता भी है। यह प्रतीत होता है कि सामाजिक समस्याओं की आलोचना करने और सामाजिक यथार्थ को बताने के अलावा प्रेमचंद की 'कफन' और लू शुन की 'आ क्यू की सच्ची कहानी' और दो कहानियों के पात्र मनोरंजक और हँसने-योग्य हैं। जैसे 'कफन' के अंत में घीसू और माधव अपने दिल से मस्त गाए जाते थे, फिर दोनों नाचने लगे। 'आ क्यू की सच्ची कहानी' के अंत में लोग आ क्यू के गोली मार दी जाने को देखकर भी हँसते थे।

संदर्भ

1. सत्यप्रकाश मिश्र : प्रेमचंद की कहानियों का महत्व, सुमित प्रकाशन, इलाहाबाद, 1998, पृ. 20
2. यान जिया यान : लू शुन की पॉलीफोनिक कहानियों की आलोचना, शंघाई शैक्षिक प्रकाशन, शंघाई, 2002, पृ. 135
3. प्रेमचंद की संपूर्ण कहानियां-2, सुमित्र प्रकाशन, इलाहाबाद, 2008, पृ. 799
4. प्रेमचंद की संपूर्ण कहानियां-2, सुमित्र प्रकाशन, इलाहाबाद, 2008, पृ. 799
5. वही, पृ. 802
6. वही, पृ. 804
7. लू शुन : लू शुन के संपूर्ण लेखन-1, जनवादी साहित्य प्रकाशन, बीजिंग, 2005, पृ. 515
8. लू शुन : लू शुन का संपूर्ण लेखन-1, जनवादी साहित्य प्रकाशन, बीजिंग, 2005, पृ. 517

9. लू शुन : लू शुन का संपूर्ण लेखन-1, जनवादी साहित्य प्रकाशन, बीजिंग, 2005, पृ. 517
10. वही, पृ. 517
11. यान जिया यान : लू शुन की पॉलीफोनिक कहानियों की आलोचना, शंघाई शैक्षिक प्रकाशन, शंघाई, 2002, पृ. 42
12. कर्ण सिंह चौहान (अनुवादक) : लू शुन की रचनाएं, साहित्य अकादेमी, नई दिल्ली, 1992, पृ. 76
13. प्रेमचंद की संपूर्ण कहानियां-2, सुमित्र प्रकाशन, इलाहाबाद, 2008, पृ. 802
14. कर्ण सिंह चौहान (अनुवादक) : लू शुन की रचनाएं, साहित्य अकादेमी, नई दिल्ली, 1992, पृ. 91
15. यान जिया यान : लू शुन की पॉलीफोनिक कहानियों की आलोचना, शंघाई शैक्षिक प्रकाशन, शंघाई, 2002, पृ. 44
16. प्रेमचंद की संपूर्ण कहानियां- 2, सुमित्र प्रकाशन, इलाहाबाद, 2008, पृ. 800
17. लू शुन का संपूर्ण लेखन-1, जनवादी साहित्य प्रकाशन, बीजिंग, 2005, पृ. 538

●

रेत की भाषा और राजस्थानी कविता का शिल्प

रूपा सिंह

हिंदी के प्रख्यात आलोचक नामवर सिंह ने कहीं लिखा है- 'एक श्रेष्ठ कविता दिल और दिमाग में एक साथ हलचल पैदा करती है।' वह सपाट, सरल और इकहरी नहीं होती बल्कि व्यापक लोकानुभवों से प्रेरित संश्लिष्ठ और बहुआयामी होती है। ज्ञान और संवेदना के बारीक ताने-बाने से बुनी हुई। कविता संवेदन, भाषा और शिल्प के स्तर पर कुछ नया रचती है। जिस कविता में लोक प्रचलित शब्दों से जितनी काव्यात्मकता जुड़ी होती है, वह कविता उतनी ही तेजस्वी और ऊर्जा संपन्न होती है। जहां लोक-परंपरा की जीवंत धड़कन होती है वहां रूढ़ि का बासीपन नहीं होता वरन् नए भावबोध की ताजगी होती है।

यह सच है। क्योंकि आज की अधिकांश कविताओं को पढ़कर अक्सर ऐसा लगता है कि वह मुखर और वाचाल ही नहीं फूहड़ भी होती जा रही है। सपाटबयानी के प्रतिमान वे कविता का बहुत अनिष्ट किया है। कविता को कविता बनाए रखना जरूरी है। दरअसल, वस्तु-जगत और भावजगत के प्रत्यक्षीकरण का नाम कविता है। कविता महज पढ़ने और सुनने की ही चीज नहीं वरन् उससे आगे बढ़कर देखने और अनुभव करने की वस्तु है। राजस्थान के महत्वपूर्ण कवि 'विजेंद्र' ने भी लिखा है-

'कविता के संदर्भ में 'सपाट' शब्द न केवल निरर्थक वरन् भ्रामक भी है। कविता के सूक्ष्म उपकरणों को अतिकरण की दिशा में ले जाने का आत्मघाती उपक्रम भी। काव्यभाषा कभी सपाट नहीं होती। हड्डियों का ढांचा मात्र जिस्म नहीं होता। संगीत के स्वरों में ताल और लय की सूक्ष्म स्फीति होती है।'

चित्रकला में कोई रेखा सीधी होकर भी सीधी नहीं होती। जीवन और प्रकृति के प्राचुर्य को हम सीधी सपाट भाषा में व्यक्त नहीं कर सकते। कविता को एक साथ शब्द संगीत और चित्र होती है, उसे कविता बनाने के लिए न केवल भाषा बल्कि शिल्प को भी साधना पड़ता है।

शिल्प एक ऐसी तकनीक है जिसका अर्थ है- ढंग, विधान या शैली। कला के क्षेत्र में शिल्प भावाभिव्यक्ति का एक प्रकार है। शिल्प का लक्ष्य अनुभूति को संप्रेषित करना है। कवि अपनी जीवनाभुति का मानसिक प्रत्यक्षीकरण करता है। जिस स्तर का उसका जीवनानुभव होगा, उसी कोटि की उसकी कला भी होगी। कवि अनुभूतियों को जैसा जीता है, शिल्प में वैसा ही व्यक्त करने के लिए सचेष्ट रहता है, परंतु उसकी अनुभूति अमूर्त्त होती है। डॉ. नगेंद्र ने लिखा है- 'अमूर्त अनुभूति को मूर्त बनाने में ही काव्य-शिल्प की सार्थकता है। वस्तुततः यह वह प्रभावात्मक पक्ष है जिसमें

काव्य-सामग्री के विनियोजन एवं प्रयोग की सूक्ष्म संयोजनाओं का विशेष मूल्य होता है। शिल्प वास्तव में कला के विभिन्न तत्वों अथवा उपकरणों की योजना का वह विधान है, वह ढंग है, जिसमें कलाकार की अनुभूति अमूर्त से मूर्त हो जाए।' 'यह मूर्तता अपनी सार्थकता के लिए पहले शब्द की मांग करती है फिर भाषा की मांग करती है और उसके बाद उपमान, प्रतीक, बिंब, छंद और शैली की मांग करती हुई अपनी प्रक्रिया को पूर्णता देना चाहती है।

राजस्थान के समकालीन कवियों की भाषा और शिल्प पर बात करने से पहले जरूरी है यह जान लेना कि उनकी भाषा समकालीनता को बरतते हुए भी पुराने शब्दों से संस्कारित किस प्रकार हुई है? उनकी मान्यताएं क्या हैं, व्यावहारिक जीवन ने उनका क्या संबंध है? उनकी भाषा बदले हुए परिवेश के दबाव और तनाव का शब्द देने में कितनी अधिक सक्षम है? नए शब्दों की नई तलाश कितनी है और मामूली शब्दों में गहरी व्यंजना भरने की प्रेरणा-क्षमता कितनी है?

हम सभी जानते हैं कि समकालीन कविता का दौर जिस विरोध, नकार, विद्रोह, आक्रोश एवं अस्वीकृति का दौर है उसकी भाषा है तो जन भाषा ही, जो लोकभाषा से भी जुड़ती है किंतु साथ ही वह गहरी अर्थवत्ता, गंभीर व्यंजनात्मकता, आक्रामकता, नाटकीयता आदि विशेषताओं को अपने में समेट लेता है। यह सब इसलिए हुआ कि नए परिवेश में कवि के समक्ष यह स्थिति उत्पन्न हो गई कि स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद पूरी जाति स्वार्थ-लिप्सा में लिप्त होकर प्रेम, त्याग, करुणा आदि मूल्यों से रहित हो गई। भाषा पर इसका प्रभाव पड़ना ही था, क्योंकि जैसा कि विजेंद्र नारायण सिंह लिखते हैं- 'भाषा ही वह बैरोमीटर है जिससे कवि की अनुभूति का दबाव नापा जा सकता है। भाषा और शिल्प ही वे कारगर हथियार हैं जिनके द्वारा हम जान सकते हैं कि कवि, चेहरे के शब्दों ने गढ़ा है या अनुभव की रचनामूलता ने। कविता का महत्वपूर्ण होना काव्य पर उतना निर्भर नहीं है कि जितना भाषा और शिल्प पर।'2

यहां चूंकि चर्चा का अभीष्ट समकालीन राजस्थानी कविता है, वह भी भाषा और शिल्प की दृष्टि से तो, वह अपनी विकास-यात्रा से हिंदी कविता के प्रभाव को कितनी व्यापक और वैविध्यमय बना पाई है- यह देखना जानना महत्वपूर्ण है। यहां यह अंकित करना मुझे जरूरी लगता है कि चूंकि अन्य अंचलों के बनिस्पत राजस्थान में खड़ी बोली का बड़े पैमाने पर व्यवहार थोड़ी देर में शुरू हुआ, पढ़े-लिखे तबके को छोड़कर आम जनता के लिए तो वह अब भी उतनी सरल ग्राह्य नहीं हो पाई, लेकिन शिक्षित और शहरी हलकों में वह आज जीवन-व्यवहार और अभिव्यक्ति का सशक्त माध्यम बन गई है।

यहां यह जानना ही महत्वपूर्ण है कि अब तक इस प्रदेश के रचनाकारों ने कविता के क्षेत्र में जो रचनात्मक उपलब्धियां हासिल की हैं, और जो प्रमुख रचनाकार इस दौर में उभरकर सामने आए हैं उन्होंने हिंदी कविता के प्रभाव को निश्चय ही व्यापक और वैविध्यमय बनाया। संभवतः कविता की इसी विरासत से उत्साहित होकर 'राजस्थान साहित्य अकादमी' ने अपनी स्थापना के तुरंत बाद प्रदेश के ऐसे रचनाकारों के कृतित्व को प्रकाशित करने और उनका सम्यक मूल्यांकन प्रस्तावित करने के उद्देश्य से जो प्रकाशन-योजनाएं आरंभ की- 'राजस्थान के कवि' नामक काव्य-शृंखला उसी योजना का प्रतिफल है। इस काव्य-शृंखला का पहला संकलन कवि-समीक्षक 'नंद चतुर्वेदी' के संपादन में सन 1965 में और दूसरा संकलन 'योगेंद्र किसलय' के संपादन में सन 1978 में प्रकाशित

हो चुका है। इन दोनों संकलनों में शामिल महत्वपूर्ण राजस्थानी समकालीन कवियों में से कुछ के नाम निम्नलिखित हैं। इनकी संख्या की अधिकता के कारण प्रत्येक कवियों के भाषा-शिल्प वैशिष्ट्य पर बात करना यहां संभव न हो सकेगा। अतः प्रयोजन पूरक कुछ समकालीन राजस्थानी कवियों के भाषा और शिल्प पर ही विस्तार से बात हो सकती है। यहां अवश्य यह दिखाने की कोशिश रहेगी कि कैसे अंचल विशेष की गमक और महक लिए प्रादेशिक कविता न केवल राष्ट्रीय स्तर पर बल्कि अंतरराष्ट्रीय मुद्दों को शामिल करती है बल्कि भाषा की ताजगी और बयानी के तेवर से मानवीयता के उच्च धरातल को स्पर्श करती है। प्रमुख नामों की शृंखला इस प्रकार देखी जा सकती है :

पं. गिरधर शर्म नवरत्न	सुधींद्र	कन्हैयालाल सहल
शंभूदयाल सक्सेना	रामानंद तिवारी	भरत व्यास
गणपति चंद्र भंडारी	रामगोपाल दिनेश	शलभ
ज्ञान भरल्ल	मुकुल	नंद चतुर्वेदी
कन्हैया लाल सेठिया	परमेश्वर द्विरेक	रामगोपाल विजयवर्गीय
रामनाथ कलमाकर	हरीश भादानी	तारा प्रकाश जोशी
गंगाराम पथिक	रणजीत	मणि मधुकर
विश्वंभर उपाध्याय	दयाकृष्ण विजय	प्रकाश आतुर
शकुंतला भार्गव अर्चना	राजकुमारी कौल	
रमा सिंह	बशीर अहमद मयूख	प्रकाश जैन
ऋतुराज	विजेंद्र	मरूधर मृदुल
शांतिभारद्वाज राकेश	तारा दत्त 'निर्विरोध'	शिवबाबा
बलबीर सिंह 'करुण'	रामावतार ड्रोलिया	रमेशशील
सुधा गुप्ता	भारत रत्न	मूल चंद्र पाठक
विजय सिंह नाहटा	हरिराम मीणा	कमर मेवाड़ी
वीर सक्सेना	कृष्णा बिहारी 'सहल'	हरीश शर्मा
अतुल कनक	विश्वेश्वर शर्मा	मंगल सक्सेना
मदन डागा	सावित्री डागा	अकिंचन शर्मा
आनंद कश्यप	ओंकार पारीक	महेंद्र भानावत
नंद भारद्वाज	अनिल गंगल	योगेंद्र किसलय
राघवेंद्र रावत	सुरेंद्र उपाध्याय	हरिराम आचार्य
कुमार शिव	रघुवर सिंह हाडा	प्रभा ठाकुर
प्रभा दाशोरा	नवल भामड़	जगदीश सोलंकी
विनीत चौहान	गोविंद माथुर	विनोद पदरज
हेमंत शेष	अंबिका दत्त	

कृष्ण कल्पित इत्यादि।

राजस्थान के कवियों का रचना-क्षेत्र काफी व्यापक रहा है। प्रांत के प्रमुख और उल्लेखनीय प्रतिनिधि हिंदी कवियों की काव्यधारा एक नहीं अनेक मोड़ों को पार करती हुई गतिमान रही है

लेकिन यहां एक अपेक्षा और आ जुड़ती है कि अंचल या प्रांत विशेष में लिखी जाने वाली कविता किस मायने से अपनी अलग और विशिष्ट पहचान बनाती है। वे कौन से विधायी तत्व हैं जो उसे वृहतर काव्य-संसार के बीच विशिष्ट या महत्वपूर्ण भले न बनाएं लेकिन अपनी एक निजी पहचान दे सकते हैं। यह अपेक्षा राजस्थानी में लिखी गई हिंदी कविता के संदर्भ में पहले भी की जाती रही है और आज भी यह मांग बराबर बनी हुई है। 'कविता-10' पत्रिका में राजस्थान की समकालीन कविता पर विचार करते हुए समीक्षक डॉ. हरदयाल ने इसी तरह की मांग करते हुए लिखा था कि 'मेरे मन में यह प्रश्न बराबर रहा है कि इन कविताओं में राजस्थानीपन कहां है और कितना है। जिन कविताओं में आंचलिक शब्दों का प्रयोग हुआ है या आंचलिक वातावरण निर्मित किया गया है, उसका भी कथ्य सार्वदेशिक है।' (कविता-10, राजस्थान अंक, पृ. 112)

मुझे लगता है, डॉ. हरदयाल की यह शिकायत तब निश्चित दूर हो जाती है जब वे अपने दायरे को भाषा और शिल्प संबंधी निष्कर्षो से भी जोड़ते। ये प्रश्न बड़े मानीखेज हैं कि कविता जहां से आ रही है उसकी संवेदना, भाषा और शिल्प के उत्स क्या हैं- किन मायनों में वह समकालीन हिंदी काव्य के संदर्भ में अपनी अलग पहचान रखती है। इस सिलसिले में यहां हम राजस्थान के कुछ चर्चित समकालीन कवियों के काव्य में भाषा और शिल्प की बनावट पर गौर करेंगे जिससे यह ज्ञात हो सके कि ये कवि और कविताएं किन स्तरों पर हिंदी समकालीन कवि और कविता की मूल्यांकन कसौटी पर खड़ी होती हैं और न केवल यही बल्कि वैश्विक स्तर पर भी मानवीय संवाद की तमाम आवश्यकताओं और अपेक्षाओं को किस सघनता और समग्रता के साथ पूरा कर पाती है...?

नंदकिशोर आचार्य राजस्थानी कवि होते हुए भी हिंदी समकालीन कविता में अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं। सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन अज्ञेय के शिल्प और भाषा में मौन साधने की कला का इन्हें खूब अभ्यास है। इनके छह-सात काव्यसंग्रह प्रकाशित हो चुके हैं और अपनी देशज महक को बरकरार रखते हुए हैं। इनकी कविताएं मरूस्थली लोकजीवन, जीवन-शैली, प्रवृत्ति, वहां की इमारतें, लोगों की बसावट, लोक व्यवहार और आपसी रिश्तों को आधार बनाकर रची गई हैं। यह देखना दिलचस्प है कि वे अपनी कविता में जो काव्य-भाषा प्रयोग में लेते हैं, वह मौनता के लिए अपने व्यक्त स्वरूप में स्मृति की ओस-भीनी आत्मीयता को कैसे धारण करती है :

'तलाई की बांहों में। बेसुध। होता जाता है चांद
घने झुरमुट में। मूंद जाती हैं पलकें। आकाश को
अब जहां जाना हो। जाए। (चला जाए, पृ. 104)

शब्दों के बीच की नीरवता, अंर्तलय के प्रति आग्रह, प्रश्नाकुल उक्तियां, अकेलापन, नदी, पहाड़, सागर, नदी और मरुस्थल के नीचे बहती स्मृतियों की अंतः सलिला का निनाद, शब्द-संयोजन और वाक्य-विन्यास की ऐसी महिमा लिए आते हैं जिससे स्मृति की सिहरन अद्‌भुत आर्थिक युक्ति लिए स्वयं को मानो प्रकट कर देती है :

'अँधेरा ओढ़कर। सोए हुए उसकी। ओचक उड़ाती नींद
कुरजां गुजर जाती है। अभी तक सिहरता है आकाश' (सिहरता है आकाश, पृ. 108)

हिंदी में आलोचना-कर्म से जुड़े लोगों में एक आदत सी बन गई है कि वे किसी भी रचनाकार के रचना-कर्म का विवेचन या मूल्यांकन करते हुए सबसे पहले उसे किसी विचार संवेदन के संदर्भ

या कौशल के बने-बनाए सांचे में उतार लेने के बाद ही उस पर अपनी राय देना पसंद करते हैं। उसी के अनुरूप वे उसकी कांट-छांट के उद्यम में भी जुट जाते हैं। वे इस बात को अकसर भूल जाते हैं कि एक संजीदा और संवेदनशील रचनाकार की मूल प्रकृति ही ऐसी होती है कि वह किसी बने बनाए सांचे में नहीं आ सकता।

नंद चतुर्वेदी जैसे वरिष्ठ कवि इसी आलोचना-कर्म या कहें दुष्कर्म के शिकार कवि हैं। उनके कवि-कर्म और वैचारिक रूख पर यदा-कदा दिए टिप्पणियों के बदौलत आलोचकों ने उन्हें प्रतिपक्षीय संवेदना के एक प्रमुख कवि के रूप में घोषित किया और यह निष्कर्ष निकाल लिया कि- 'अनवरत प्रतिपक्ष बनकर लिखने का आग्रह करते समय वे साम्यवादी राज्य सत्ताओं को भी उतना ही क्रूर, अमानवीय और मनुष्य की स्वतंत्रता अपहरण कर उसके लिए विकल्पों की दुनिया कम करने वाली मानते हैं, जितनी पूंजीवादी व्यवस्थाओं को।' जबकि नंद चतुर्वेदी का सच में मानना ऐसा है- 'मैं सिर्फ उन बदलते हुए सामाजिक संदर्भों की ओर संकेत करता हूं, जिनके चलते सारी राज्य-सत्ताएं, चाहे वे पूंजीवादी हो या साम्यवादी, एक या दूसरे तर्क का समर्थन करती हुई ऐसी व्यवस्थाओं को जन्म देंगी, जिनसे मुक्ति दिलाने वाला कोई नहीं होगा, और हम भी ऐसी मनःस्थिति में होंगे कि उनसे मुक्ति ही न मांगे।' यह एक ऐसा कवि है लोहिया, जयप्रकाश, गांधी, कृपालानी, रामानंदन मिश्र जैसे राजनीतिज्ञों से इस क्रांति को ग्रहण किया कि 'राजा एक अधिकारी के रूप में, एक विरासत के रूप में प्राप्त हुई राजशाही, जो कभी जनोन्मुखी नहीं होती, उससे हर किसी को लड़ना होता है। उनकी काव्य भाषा में राजनीतिक पदावली और जनतांत्रिक मूल्यों के प्रति प्रतिबद्धता का भाव स्पष्ट दिखता है :

'मधु के प्यालों में पलते हो, वैभव के मादक दीवानों
अरे, तुम्हारे कुत्ते-बिल्ली दूध-जलेबी पीते-खाते
मुर्गे-मुर्गी महलों की शोभा के साधन समझे जाते।'

प्रतिबद्धता और प्रतिरोध के इस स्वर को यदि राजस्थान की पृष्ठभूमि से जोड़े तो यह भूमि प्रारंभ से ही शौर्य के प्रतीक योद्धाओं की वीर-गाथाओं तथा ख्यातिप्राप्त मनीषी कवियों-मीरा, पृथ्वीराजरसिक, बिहारी, वृंद, मतिराम, सूर्यमल्ल मिश्रा की लीलाभूमि रही है। यहीं पद्माकर सरीखे रससिद्ध कवियों को आश्रय मिला, उस राजस्थान में बलबीर सिंह करूण, तारा प्रकाश जोशी, तारा दत्त निर्विरोध जैसे वीर रस के कवियों का जन्म लेना आश्चर्यजनक है क्या? तारा प्रकाश जोशी की वाणी कहती है :

'मेरा वतन ऐसा रानी। जैसे गरम तवे पर पानी
'भीतर से हम टूटे-टूटे। फिर भी बाहर जुड़े-हुए हैं
कभी दुबारा पढ़ लेना तुम। हम जो कागज मुड़े हुए है।'

स्वातंत्र्योत्तर भारत के द्वंद्व, भ्रम, छल, प्रहार और पीड़ा की जैसी सशक्त अभिव्यक्ति बलवीर सिंह 'करुण' के यहां हुई है, वहां एक साथ सुभद्रा कुमारी चौहान, माखनलाल चतुर्वेदी, गोपाल सिंह नेपाली, दिनकर एवं भवानी प्रसाद मिश्र के दर्शन होते हैं।

'नरभक्षी उपव्यास हो गया, धरती आदमखोर
हवा हुई खूंखार भयानक, त्राहि-त्राहि हर ओर।

आज जहां राजतंत्र प्रजा की सुरक्षा करने में असमर्थ है, सरेआम अस्मिता लूटी जाती है, भाषा

का यह वीर रस किस प्रकार प्रतीकों में ढलकर करुण रस कर उद्रेक कर जाती है, इन कवियों का यह शिल्प-सौष्ठव सराहनीय है :

'कफन चुराकर बदन ढांपती, दुखिया मजबूरी
भूख पूछती फिरे पुलिस से, चकलों की दूरी
अपनी सीता फिरे बेचैन-दबे कर्ज में राम...'

प्रतीकों का यह प्रयोग काव्य में नई अभिव्यंजना-शक्ति, अर्थ- सौष्ठव और लाक्षणिकता ला देता है। प्रतीक जीवन के सभी क्षेत्रों-इतिहास और पुराण, राजनीति और प्रकृति से ग्रहण किए जाते हैं। डॉ. कैलाश वाजपेयी ने प्रतीक के सात भेद बताए हैं और उन्हें कविता के शिल्प की प्रमुख गढ़न बताया है- पौराणिक, ऐतिहासिक, धार्मिक जड़, चेतन, वैज्ञानिक और राजनीतिक प्रतीक। डॉ. केदारनाथ सिंह ने प्रतीकों के निम्न प्रकार माने हैं- परंपरागत प्रतीक, सांप्रदायिक प्रतीक, आध्यात्मिक प्रतीक, रहस्यात्मक प्रतीक, वैयक्तिक और स्वप्नपरक प्रतीक। इन प्रतीकों में नवीन दृष्टियों के समावेश से समाविष्ट स्वयं समानिष्ट हो जाती है। हिंदी में कुंवरनारायण जब 'नासिकेतोपाख्यान' से 'आत्मजयी' का सफर तय करते हैं तो नचिकेता का प्रश्न आधुनिक मानव की आकुलता व्याकुलता से सीधे-सीधे आ जुड़ता है। 'गजानन माधव मुक्तिबोध' जब फैंटेसी के माध्यम से जिरह-बख्तर से वंचित आम आदमी की फटेहाली की कथा कहते हैं तब राजस्थान के सुप्रसिद्ध कवि 'रोया नहीं था यक्ष' में यक्षों के मिथक के भीतर से एक नई वर्ग-व्यवस्था के निर्माण की क्रांतिकारी संभावना को जन्म देते हैं :

'राफी, बसूला, हंसिया, हथोड़ा। थामो इन्हें हथियार की तरह, भूख नहीं भागती औजारों से बदनतोड़ मेहनत से समाधान है व्यवस्था से भिडंत...। यहां कौन बार-बार मुझसे कह रहा- तू बोल धावा!! बोल धावा!!

दलित चेतना का यह उत्तर आधुनिक स्वर 'अजय अनुरागी' के यहां पैनी व्यंग्यात्मक भाषा में बार करता है :

'जन-गण-मन करते हैं वंदन, फूलों से होता अभिनंदन
मानव के माथे पर घिसकर, सांपों को लगता है चंदन।'

प्रतिरोध के इस स्वर को क्रांतिकारी स्वर देने वाले अनेक महत्वपूर्ण कवि हैं- मरूधर, मृदुल। 'डॉ. जोसेफ का आत्मघात', 'युद्धखोरों से', 'मओत्से तुंग' से, 'अफ्रीका' आदि कविताओं में शोषण, युद्ध, सीमा-अतिक्रमण और उपनिवेशवाद के विरूद्ध बड़ी तल्खी इनके यहां मिलती है। मरूधर के पास अपनी दृष्टि है और भाषा को विषयानुकूल प्रयोग और नए काव्य के अनुरूप मुहावरे गढ़ने में उन्हें महारत हासिल है :

'यह गलत है कि जो कुछ घटता है
वह सभी कुछ कहना चाहिए
यह तो कुछ ऐसी बात हुई कि
सही, गलत जो कुछ भी होता है। उसे चुपचाप सहना चाहिए
जिधर भी धार ले जाए, उधर ही बहना चाहिए।

इसी प्रकार, मणि मुधकर, डॉ. रणजीत, बशीर अहमद मयूख, शुकंतला भार्गव 'अर्चना', कर्पूरचंद

कुलिश (राजस्थान पत्रिका के संपादक), नंद भारद्वाज, ऋतुराज, विजेंद्र प्रदेश के प्रगतिशील कवियों में अग्रणी हैं। देश की जनवादी सांस्कृतिक चेतना के प्रति इन कवियों का तीव्र रागात्मक संबंध है। ऋतुराज की भाषा की बानगी देखिए :

'ये लोग एक साथ अपना इरादा बदलते हैं
एक साथ मुक्ति भविष्य की तरफ बढ़ते हैं
एक साथ पोस्टर के आगे बैठ जय विनान करते हैं।'

समन्यवादी होने के फलस्वरूप सभी धर्मों के प्रति आदर और उग्रवाद के प्रति घोर वितृष्णा हैः

'क्यों रावी का तट सहमा है, क्यों घायल इतिहास यहां
लोहू ने कैसे कर डाला केसर का उपहास यहां
क्यों डल झेलम की लहरों पर राजहंस के पंख पड़े
क्यों गौतम की धरती पर भी उग्रवाद के दंश गड़े।'

कृष्ण कल्पित, विनोद पदरज और अंबिका दत्त के नाम भी इस दिशा में महत्वपूर्ण हैं।

एक अन्य बात, जो मुझे महत्वपूर्ण लगती है वह है सातवें और आठवें दशक की हिंदी कविता में सामाजिक विसंगतियों और बदलते मानवीय संबंधों के चित्रण में राजस्थान के उपेक्षित देहात का उभरता हुआ चित्र। राजस्थान की लोक, संस्कृति भाषा, पहनावे आदि को लेकिर विभिन्न दूरदर्शनी सीरियलों का भी भले इसमें कोई हाथ रहा हो, पर हिंदी जगत के लिए यह एक नई जिज्ञासा और नया अनुभव रहा है। अकाल की मार, रेत का अंतहीन विस्तार, उजड़ती ढानियां, चारे और पानी की तलाश में भटकते चरवाहे, भूख और अन्याय को बर्दाश्त करते सीधे-सादे लोग, कुनबे के कायदों में जकड़ी सिसकती स्त्रियों- एक ज्वलंत दृश्य हैं, जो इन वर्षों में इस प्रदेश के रचनाकारों के भाव-बोध और रचना-संसार का अटूट हिस्सा बन गए हैं। इस दौर के महत्वपूर्ण रचनाकारों का जो कृतित्व प्रकाश में आया है, उससे यह स्पष्ट होता है कि अपने संस्कारित नगरबोध के बावजूद यहां के रचनाकार इसे उपेक्षित देहात की विषमताओं और अन्याय-अत्याचार के विरुद्ध उतने ही जागरूक और संवेदनशील रहे हैं, जितने देहात की संवेदना के अग्रणी कवि निराला, नागार्जुन या केदारनाथ अग्रवाल, बिहार और बंगाल जैसे वर्षा प्रधान प्रदेशों में भी व्यवस्था के कारण हरेक वर्ष बाढ़ और अकाल आ ही जाते हैं। मरुभूमि के मरुस्थल के नीचे बहती शौर्य, उम्मीद और रस की अंतः सलिला कैसे उद्घोषणा करती है- 'यहां भी है जल'- यह अनुकरणीय है। विजय सिंह नाहटा प्रदेश के प्रशासनिक अधिकारी भी हैं इसलिए उन्हें जल-संग्रहण की आवश्यकता और विशेषत दोनों की जानकारी है। जब वे 'जल' की बात करते हैं तो निश्चित ही उनका कवि-हृदय रहीम के साथ हिचकोले खाता है- 'रहिमन पानी राखिए, बिन पानी सब सून...' तो उनका प्रशासनिक हृदय विश्व-पर्यावरण की उस चिंता से भी आकुल-व्याकुल होता है जिसकी घोषणा है- 'तीसरा विश्वयुद्ध होगा तो संभवतः जल के लिए ही होगा।' 'जल' के विभिन्न प्रतीकात्मक अवयवों को नदी की रवानगी और भाषा के ठहराव के साथ उनके यहां देखना बहुमूल्य अनुभव है।

जल की इसी प्रतीकात्मक छवि को जब एक स्त्री, स्त्री-भाषा में वर्णित कर रही होती है तो निःसंदेह वह पितृप्रधान समाज की क्रूरता के दंश का वर्णन भी कर रही होती है। उसके जीवन के अँधेरों को जिस रोशनी की जरूरत है और संवेदना के जिस जल से वह पूरे समाज को उदार बना

देना चाहती है भाषा का वह कोमल रूप 'सावित्री प्रांजल' की कविताओं में देखने को मिलता है :

'रोशनी की झील है कहां, हमको बताओ
आंख का खारा पानी पी रहा है आदमी
कहां से आए यहां हर मोड़ पर चिंता
घुन लगी वैसाखियों पर चल रहा है आदमी।'

कोटा निवासी 'प्रभा ठाकुर' भी एक ऐसी ही भावप्रवण संवेदनशील कवयित्री हैं जो आलोचकों के इस आरोप को कि राजस्थान के कवि मरूभूमियों जैसे रूखे-सूखे जमीन की बात उस रूखी-सूखी जबान में करते हैं। प्रभा ठाकुर की भाषा, माधुर्य भाव का अप्रतिम उदाहरण प्रस्तुत करती है :

'अलसायी किरणें ले, चंपा-सी भोर रिवली
नन्हीं-सी दोपहरी पर्वत की ओट चली
सांझ हुई, अब कैसे रात ढले?'

'कुमार शिव' का शिल्प-विधान भी कविता-निर्माण के जिन उपादानों से हुआ है उसमें व्यक्ति के ऐसे जीवनानुभव संचित हैं जिनसे निर्वेयक्तिकता के विस्तार की यात्रा संभव होती है। इसी प्रकार, 'रामनाथ कमलाकार' की कविताएं एक दार्शनिक चिंतन से युक्त होकर सामने आती है जिसमें प्रादेशिकता की सारी सीमाएं खत्म होनी हैं और जिंदगी के गहन राज सामने आते हैं :

'जिंदगी राजे हकीकत के सिवा कुछ भी नहीं
जिंदगी एक इबादत के सिवा कुछ भी नहीं
सच तो यह है कि मुहब्बत की बेखुदी की बिना
जिंदगी सांस की आदत के सिवा कुछ भी नहीं।'

इनकी भाषा मनुष्य की विशालता और व्यापकता का मानो जयघोष करती है। इंद्रधनुष की कल्पना और विचरण के लिए स्वप्नों के मुक्त आकाश की खोज एक अन्य महत्वपूर्ण कवि 'डॉ. रामगोपाल शर्मा 'दिनेश' का भी मंतव्य है :

'एक करे क्यों इतना संग्रह
जिससे सौ भूखों मर जाएं
धन से तो इनसान बड़ा है, आओ बांटे, मिलकर खाएं।

इनकी कुछ कविताएं 'जयशंकर प्रसाद' और 'पंत' जैसे छायावादी कवियों की याद दिलाती है और हमें भाव-भीने भाषिक कलशों का साक्षात्कार कराती है।

ग्राम्शी के अनुसार, समाज में बुद्धिजीवी दो प्रकार के होते हैं- पेशेवर और आवयविक। प्रायः ज्ञान की एकांत साधना करने वाले पेशेवर बुद्धिजीवी होते हैं, लेकिन जो किसी वर्ग, समुदाय और समाज की जिंदगी वास्तविकताओं और आकांक्षाओं की व्याख्या करते हुए उस वर्ग, समुदाय और समाज को इतिहास में अपनी स्थिति समझने और उसे बदलने के लिए संघर्ष करने की प्रेरणा देते हैं। वे आवयविक बुद्धिजीवियों की देन है। बीकानेर और अलवर के 'हरीश भादानी' और 'अनिल गंगल' ऐसे ही आवयविक बुद्धिजीवी हैं जिन्होंने न केवल अपनी कविताओं में दमन और शोषण का प्रतिरोध किया है वरन् अपनी संस्कृति गतिविधियों, नुक्कड़ नाटकों, गायन-मंडलियों, साक्षरता के प्रचार-प्रसार, जन-आंदोलनों में सक्रियता दिखाकर जमीनी हकीकत की कविता करते हैं। ऐसे में

उनकी भाषा का तापमान और शिल्प का गढ़न भी आवयविक ही हो उठता है :

'धरती भरकर चढ़े तगारी, बांस-बांस आकाश
फरनस को अगियाया रखती, सांसे दे दे घास
सूरज की साखी में बंटते, अंगुली जितने, आजकल
बोले कोई उम्र अगर तो, तीबे नई सुई-बजती हुई सुई। (खुले अलाव पराई धाटी, पृ. 13)

भाषा के इस देशज व्यवहार की निर्मिति में कवि की विचारधारा अद्भुत शैल्पिक वैशिष्ट्य के साथ अनुस्यूत हो जाती है। राजस्थानी आदमी का संघर्ष तब पूरी मानव जाति के संघर्ष में तब्दील हो जाता है, जब वह जोखिम उठाता है, पस्त होता है, टूटता जाता है लेकिन आत्मविश्वास से अनवरत संघर्ष-प्रक्रिया में जुड़ा ही रहता है :

'हद तोड़ अंधेरे जब आंखों तक धंस आए
जीवन के इरादों ने जंगल सुलगा जाएं।

इन 'इरादों' (विचारधारा) की स्थिति और कलात्मक संतुलन की आवश्यकता पर बल देते हुए कवि-समीक्षक 'ऋतुराज' ने बहुत सटीक बात कही है कि- 'कविता के शिल्प में विचार या विचारधारा की स्थिति पानी के भीतर जलती लालटेन की तरह होनी चाहिए, भीतर से आभासित होती हुई, लेकिन काव्य-रूप और मूल अंर्तवस्तु की परतों को अविच्छिन्न रखती हुई।' (मधुमती, सितंबर, 1983, पृ. 48)

कविता के शिल्प में विचारधारा की इस स्थिति और कलात्मक संतुलन के बेहतर निर्वाह को 'अनिल गंगल' की कविताओं में उदाहरण रूप से देखा जा सकता है, जिसकी भाषा ने अपने लाक्षणिक प्रयोग से उसे और अधिक मारक बना दिया है :

'मैं यू ही नहीं चला आया मुंह उठाए
खेत की मिट्टी से सब्जी के संग
यूं ही नहीं आ गया मुझमें
सब्जी के साथ उंगलियों चबा देने का जादू।' (स्वाद, पृ. 20)

हिंदी के वरिष्ठ आलोचक विश्वनाथ त्रिपाठी ने अनिल की कविताओं के बारे में लिखा है कि, 'अनिल गंगल' की कविताएं अनायास साम्राज्यवादी, बाजारू उपसंस्कृति का विरोध करती हैं। वे अतीत, वर्तमान और भविष्य को परस्पर जोड़ती ही नहीं, उन्हें अखंड इकाई के रूप में प्रस्तुत करती है :

'उनके रथ पर सवार। दोनों हाथों से लूट रहे थे
उद्योगपति बेतहाशा मुनाफा। व्यापारियों के अट्टाहास
और गुपचुप हँसी में थी वे शामिल। बच्चों के
खिलौने की तरह वे राजनीतिज्ञों के हाथों में
खेलती थीं खेल। उनकी मदद से कामयाब होते
अपराध और हत्याएं।' (सूचना समाज, पृ. 13)

हिंदी के 'रघुवीर सहाय' का यह स्वाद 'अनिल' के यहां अपने बेलौस अंदाज में है। इन्होंने जागरण (राजनीतिक शब्दावली) का खुलकर प्रयोग किया है और इसकी आड़ में सदियों से हीन और पराश्रयी समझे जाने वाल स्त्री की उपस्थिति को न केवल कला के लिए बल्कि जीवन के लिए भी आवश्यक धड़कन के रूप में स्वीकार दिया है। यह काबिले तारीफ है :

'इन स्त्रियों के कविता में होने से ही जीवित थे
मनुष्यों के भीतर छिपे हुए कवि उनके हीन से ही
धड़कती थी कविता की नब्ज बचाए रखती थी
यही स्त्रियां कवि को अकाल मृत्यु से।' (कविता में स्त्री, पृ. 13)

यह उसके शिल्प का अपूर्व कौशल है जिसमें वह इच्छा जाहिर करता है कि अगले जन्में में उसे भी स्त्री की देह मिले जिससे वह उन तमाम दुश्वारियों को झेल सके जिसे मर्द-समाज में एक स्त्री ने झेले हैं-

'अगर सही है यह कि इस जन्म के बाद होता है
कोई और जन्म तो पाना चाहूंगा मैं
अगले जन्म में एक स्त्री की देह भोगना चाहूंगा
एक स्त्री के जीवन की वे तमाम दुश्वारियां
जो ढाई मैंने एक पुरुष की देह में रहते।' (अगले जन्म में स्त्री होने की इच्छा है, पृ. 100)

इस प्रकार, हम कह सकते हैं कि पिछले बीस वर्षों में साहित्यिक पत्र-पत्रिकाओं और काव्य-संकलनों के माध्यम से राजस्थानी-कविता की रचनाधर्मिता का जो स्वरूप सामने आया है, वह समकालीन हिंदी कविता की मुख्यधारा से किसी मायने में कमजोर या पिछड़ा हुआ नहीं है। यह कतई जरूरी नहीं कि जिन राष्ट्रीय मुद्दों, प्रसंगों, विषयों या विमर्शों या नाटकीय घटनाओं पर जिस रंगत की कविताएं अन्यत्र लिखी गईं, वैसी यहां के कवि भी लिखते, या जिस तरह की काव्यभाषा और शिल्प तकनीक का प्रयोग शमशेर, श्रीकांत वर्मा या मुक्तिबोध ने किया वैसा विजय सिंह नाहटा, हरीश भादानी, नंद भारद्वाज, विजेंद्र या अंबिका दत्त भी करते, जबकि समकालीन हिंदी कविता के स्वरूप में इन सभी कवियों की अपनी समान भागीदारी है। हां यह एकाध बार अवश्य हुआ है कि प्रादेशिक भाषा-व्यवहार से बेहतर हिंदी-क्षेत्र के सामान्य पाठक को रचना के अर्थ-ग्रहण में कठिनाई हुई है लेकिन इस मामले में रचनाकार के अपने भी कुछ रचनात्मक आग्रह होते हैं और भाषा को लेकर यह छूट अन्य बड़े रचनाकारों ने भी बराबर की है, बल्कि उनके आंचलिक प्रयोगों का व्यापक रूप से स्वागत भी किया गया है। मात्रा और गुणात्मकता का अंतर तो सभी जगह होता है, होना भी चाहिए।

दरअसल इस प्रदेश में लेखन और प्रकाशन को लेकर बुनियादी सुविधाओं का जैसा अकाल और उजाड़ रहा है। स्वयं रचनाकार और उनकी कृतियां उनके जीवन काल में जिस कदर उदासीनता और उपेक्षा का शिकार रही हैं, ऐसे में हालत की मार से सताई हुई उसकी रेत पर नंगे पांव सफर करते हुए कामयाबी की मंजिल तक पहुंचने की मुराद किसी मरीचिका से कम नहीं है। यह तो यहां के रचनाकारों की दुर्दम्य जिजीविषा है जिसने रेतीले विस्तार और नंगे पांवों के सफर को अपनी नियति मानने से इनकार कर दिया है। हालाज जैसे भी हैं, उनके बीज आत्मसम्मान के साथ जीना और उन्हें बेहतर बनाने के लिए निरंतर जद्दोजहद करते रहना फिलहाल आज की कविता के सामने यही मुख्य कार्यभार है और इस अंचल की कविताएं अनायास ही अपने ढंग से उस जद्दोजहद में शामिल हैं, जिसके लिए विश्वकवि पाब्लो नेरूदा ने कहा था-

'सचमुच मैं हूं साझीदार
पृथ्वी पर प्रकाश फैलाने में

मैंने चाहा होना सामान्य रोटी की तरह
संघर्ष ने नहीं पाया मुझे अनुपस्थित'
और हरिराम मीणा कहते हैं-
'हम तो मरूस्थल के मरगोजों की तरह हैं
विकट परिस्थितियों में भी अकूत प्राण शक्ति
यही तो है जीवन के प्रति हमारी आस्था और आसक्ति।' (रोया नहीं था यक्ष)

संदर्भ :

1. कविता के नए प्रतिमान, डॉ. नामवर सिंह
2. साहित्य-परंपरा और नया रचना-कर्म, नंद भारद्वाज
3. कविता का स्वभाव, रमाकांत शर्मा
4. कविता का दूसरा पाठ और प्रसंग, भगवत रावत
5. आलोचना और आलोचना, देवीशंकर अवस्थी
6. राजस्थान के आधुनिक हिंदी काव्य की मुख्य प्रवृत्तियां- प्रकाश आतुर
7. आधुनिक हिंदी काव्य- निर्मला जैन
8. राजस्थान की हिंदी कविता- प्रकाश आतुर
9. राजस्थान साहित्य का इतिहास- मोतीलाल मेनारिया
10. आधुनिक कविता का मूल्यांकन, इंद्रनाथ मदान

विभिन्न राजस्थानी कवियों के मोनोग्राफ, जिसे राजस्थान साहित्य अकादमी ने प्रकाशित किए हैं।

सहायक पत्र-पत्रिकाएं

1. Encyclopaedia Britanica- Vil-xvii, ii&xiv
2. George Whelley- Poetic Process
3. F.B. Gummer- Hand Book of Poetics
4. New Dictionary of Thoughts- Elvlauls
5. F.T. Palgrave Golden Treasury

1. नागरी प्रचारिणी पत्रिका, भाग-2
2. कविता- 1964 का अंक
3. वातायन (पत्रिका)-12, 66 जुलाई- 1963
4. साहित्य अमृत 1963 के अंक
5. मधुमती- मई-जून अंक 2011
6. समय- माजरा के 2006, 2007 के कुछ अंक
7. ओर (पत्रिका), नवनीत, अक्षर-वर्ष, किंजल्क, मरू गुलशन- राष्ट्रीय सहारा, राजस्थान पत्रिका के रविवारीय अंक।

●

जीवन-दृष्टि और कला-दृष्टि का विलक्षण संयोग

संजय कुमार

रघुवीर सहाय की कहानी को अगर हिंदी कहानी की परंपरा में रखकर पढ़ें तो वह आश्चर्य-चकित करती है। वह इतनी 'नई' है कि सहसा विश्वास नहीं होता कि वह कहानी ही है। 'सीढ़ियों पर धूप में' की कहानियां जैसे हिंदी की पुरानी 'कहानी' की मृत्यु से आरंभ होती हैं। यह परंपरा का विकास नहीं बल्कि उससे सहसा एक विच्छेद है, इनकी बनावट और बुनावट इतनी नई है कि पहली नजर में पारंपरिक कहानियों के साथ इनका कोई संबंध बनता नहीं दिखता। आश्चर्य इस बात से भी होता है कि नई कहानी के दौर में जब कहानी के नएपन पर बहस चल रही थी और 'नई' कहानियों से ढूंढ़कर-ढूंढ़कर उनका नयापन निकाला जा रहा था-और इस प्रयास में विद्वानों को खासी मशक्कत करनी पड़ रही थी-तब भी आलोचकों को रघुवीर सहाय की इन कहानियों की याद तक नहीं आई, जो अ-कहानी की हद तक नई थीं। जब 'कथानक के ह्रास' और एडगर एलन पो द्वारा निर्धारित कहानी के आरंभ, मध्य और अंत के अंत की घोषणा के साथ इन्हें नई कहानी का सबसे प्रमुख लक्षण बताया जा रहा था, तब भी बहुत-सी नई कहानियां इन्हें ही एक दूसरे रूप में दुहराती नजर आ रही थीं; फिर भी विद्वानों को रघुवीर सहाय की कहानियों की याद नहीं आई-जिसे पढ़कर पुरानी कहानियों का अभ्यस्त पाठक यह विश्वास नहीं कर पाएगा कि यह कहानी ही है और अगर आप उससे कहेंगे कि यह कहानी ही है तो वह बरबस पूछ बैठेगा कि इसमें कथानक कहां है?

रघुवीर सहाय की कहानियों के इस आत्यंतिक नएपन के कारण ही संभवतः उन्हें नई कहानी के दौर के कहानीकारों और आलोचकों के बीच सहज-स्वाभाविक स्वीकृति नहीं मिल पाई और नई कहानी संबंधी पूरे विमर्श में वे हाशिए पर उपेक्षित छूट गयीं। नई कहानी के सबसे समर्थ आलोचक नामवर सिंह की दृष्टि जरूर रघुवीर सहाय की कहानियों पर पड़ी और उन्होंने उस पर बाकायदा एक छोटा-सा लेख भी लिखा, लेकिन वे भी इन कहानियों को 'कहानी' के रूप में स्वीकृति के लिए गुजारिश करते ही प्रतीत होते हैं कि 'छोटी है, मगर कहानी तो है'। इसलिए यह कोई अचरज की बात नहीं है कि जब वे नई कहानी की 'सफलता और सार्थकता' एवं 'ऐतिहासिक नवीनता और उपलब्धियां' निरूपित कर रहे थे तो उन्होंने रघुवीर सहाय की कहानियों का कहीं उल्लेख तक नहीं किया।[1] और जब नामवरजी ने नहीं किया तो हिंदी साहित्य के दूसरे लेखक ऐसा भला क्यों करते? राजेंद्र यादव और कमलेश्वर आदि तो अपनी ही कहानियों को लेकर मगन थे। और रामस्वरूप चतुर्वेदी जैसे 'कवितावादी' आलोचकों से क्या उम्मीद की जा सकती है, जो 'आधुनिक भाव-बोध' को वहन

करने में कहानी की विधा को ही अक्षम मानते हैं। विजय मोहन सिंह ने इसी संदर्भ पर टिप्पणी करते हुए ठीक ही लिखा है कि कुल मिलाकर 'नई' कहानी के इस 'विजेता' की 'भ्रूण-हत्या' तो हो ही गई थी।[2]

रघुवीर सहाय की कहानियों को पढ़ते हुए जो बात सबसे पहले हमारा ध्यान आकृष्ट करती है, वह है उनकी आत्मसजगता। नई कहानी के आलोचकों से रघुवीर सहाय की कहानियों की विशिष्टता और उसके महत्त्व को निरूपित करने में भले चूक हुई हो, स्वयं 'सीढ़ियों पर धूप में' के कृती संपादक सच्चिदानंद वात्स्यायन ने बहुत ठीक लक्षित किया था- 'कह सकते हैं कि रघुवीर सहाय एक आत्मचेता (सेल्फ-कांशस) कलाकार हैं; और यह आत्म-चेतना उनकी आधुनिकता की बुनियाद है।' फिर कहानियों के विशेष संदर्भ उन्होंने लिखा, 'तो नए हिंदी गद्य लेखकों में जिन्हें वास्तव में मॉडर्न कहा जा सकता है, उनमें रघुवीर सहाय अन्यतम हैं। आधुनिक हिंदी कहानी के विकास की चर्चा में, यदि 'आधुनिकता' पर बल दिया जा रहा हो, तो पहले दो-तीन नामों में अवश्यमेव उनका नाम लेना होगा। कदाचित पहला नाम ही उनका हो सकता है।'[3] अज्ञेय यहां 'आधुनिकता' शब्द का प्रयोग आधुनिकतावाद के अर्थ में कर रहे हैं। मंल यह मानता हूं कि जिस तरह से छायावाद हिंदी कविता का अपना रोमांटिक आंदोलन है, ठीक उसी तरह से नई कविता और नई कहानी हिंदी साहित्य का अपना आधुनिकतावादी आंदोलन है। यह यूरोप और अमेरिका के आधुनिकतावादी आंदोलनों से प्रभावित भी है, लेकिन इसकी अपनी विशिष्टताएं हैं; इसका अपना स्वतंत्र अस्तित्व है और अपना निजत्व भी। मैंने इसकी थोड़ी-सी आरंभिक चर्चा अपने एक लेख में की है- 'हिंदी कविता के संदर्भ में आधुनिकतावाद का प्रश्न'।[4] बहरहाल हिंदी कहानी में आधुनिकतावाद के संदर्भ में अज्ञेय की उपर्युक्त टिप्पणी का विशेष महत्त्व है। यह विवाद का विषय हो सकता है कि इस मामले में रघुवीर सहाय का नाम 'पहला' ही हो सकता है या नहीं। पर यह निःसंदेह कहा जा सकता है कि अगर हिंदी कहानी में आधुनिकतावाद की प्रवृत्ति को रेखांकित किया जाएगा तो रघुवीर सहाय की कहानियों के विशेष महत्त्व से इनकार नहीं किया जा सकता।

रघुवीर सहाय अपनी कहानियों में यथार्थ का चित्रण, वर्णन या प्रतिबिंबन नहीं करते बल्कि अपने अनुभव के यथार्थ को निर्मित करते हैं, रचते हैं। इसलिए पूर्व प्रचलित कथा-भाषा से उनका काम नहीं चलता। वे हिंदी गद्य को तोड़कर अपने कथ्य के अनुकूल कथा-भाषा निर्मित करते हैं। इस काम में उनका कविता रचने का अनुभव बड़े काम का सिद्ध होता है। पर यहां भी दिलचस्प यह कि वे जो नई कथा-भाषा निर्मित करते हैं, उसे भी अपने समय के प्रचलित अर्थ में काव्य-भाषा के निकट की भाषा नहीं कही जा सकती। क्योंकि वह न तो बिंब-बहुल और न ही प्रतीकात्मक। लेकिन रघुवीरजी के गद्य का अपना विशिष्ट लय-विधान है, और अपना सुर और ताल। इस मामले में वह किसी भी श्रेष्ठ काव्य-भाषा की प्रतिद्वंद्वी जान पड़ती है। उसे कोई भी संवेदनशील पाठक सपाटे में नहीं पढ़ सकता, क्योंकि वह धीरे-धीरे पढ़े जाने की मांग करती है। यह आत्मसजग भाषा पाठकों को भी सजग बनाती है। और एक सजग पाठक भाषा में धीरे-धीरे रचे जाते अनुभव के लोक को देख सकता है और उसका आनंद उठा सकता है।

आधुनिकतावादी कला अनिवार्यतः आत्मसजग कला है। पर अलग-अलग रचनाकारों में आत्मसजगता का स्तर भिन्न-भिन्न हो सकता है। रघुवीर सहाय की कहानियों में यह 'आत्मसजगता'

कथा-दृष्टि से लेकर भाषा-प्रयोग के स्तर तक सर्वत्र लक्षित किया जा सकता है।

मलयज ने रघुवीर सहाय के भाषा-व्यवहार की इस आत्मसजग प्रकृति को 'रास्ता इधर से है' संग्रह के संदर्भ में बहुत ही सूक्ष्मता और संवेदनशीलता के साथ पकड़ा है, जो 'सीढ़ियों पर धूप में' संग्रह के कथा-भाग 'जीता-जागता व्यक्ति' के संदर्भ में भी लागू होता है। इसलिए यहां लंबा उद्धरण देना आवश्यक जान पड़ता है, वे लिखते हैं- 'रास्ता इधर से है' की कहानियों को पढ़कर रघुवीर सहाय के मन की थाह पाना मुश्किल है। उनके अनुभव पर भाषा की कलई कुछ इतनी गाढ़ी और चमाचम है कि एक नजर में यदि यह कहा जा सके कि यह रहा वह शख्स- अपने प्रेम, नफरत, और गुस्से में नंगा, तो सचमुच ही बड़ी निराशा होगी। रघुवीर सहाय जितना कुछ वे अपना दिखाना चाहते हैं उतना ही दिखाते हैं न उससे ज्यादा न कम। यह काम वे अपनी भाषा से करते हैं। वह भाषा नहीं, जो भावों या विचारों की अनुगामिनी होती है, बल्कि वह जो अनुभव को रचती है। ऐसी भाषा निश्चय ही एक अत्यंत स्वचेतन भाषा होगी, एक जानदार और खतरनाक चीज।' फिर आगे उन्होंने लिखा, 'वे अपनी कहानियों के पात्रों और अपने बीच एक मुनासिब दूरी बनाये रखते हैं। इन पात्रों में, प्रायः सभी कहानियों में आया हुआ 'मैं' भी है। रघुवीर सहाय इस दूरी के अलगाव से ही व्यक्तियों को, चीजों को और इनके मिलने वाले संबंधों को जबकि वे- रघुवीर सहाय नहीं, संबंध- तनाव और उद्वेग की हालत में हो, पकड़ते हैं। एक उतनी ही गतिशील और छूते ही स्टॉप वॉच की तरह टिक-टिक करने लग जाने वाली भाषा से। बात कुछ ऐसी ही है कि इन कहानियों को पढ़ते समय भाषा की ये बेसाख्ता हरकतें ही पहले हमारा ध्यान खींचती हैं- किसी परिभाषित अर्थ की चिंता से परे, लगभग एक स्वतंत्र रचनात्मक अनुभव की तरह। भाषा की ये हरकतें पाठक के संवेदनशील मन में भी सिर्फ हरकतें ही पैदा करें ताकि वह उनके पीछे के अनुभव की तात्कालिक गरमाई को महसूस कर सके, अनुभव में आकार ले चुके नहीं, आकार ले रहे अर्थ की बेचैनी की झलक पा सके, लेखक की हरचंद कोशिश यही रहती है।'[5]

एक अन्य स्थान पर, 'यह भाषा कभी अनुभव को अर्थ के लिए सधे हाथों टटोलती है तो कभी औचक उसे दबोचकर उसका रस निचोड़ लेना चाहती है। कभी वह नश्तर की तरह अनुभव को चीरकर रख देती है और इतनी सफाई और दक्षता के साथ कि संवेदना का एक बूंद खून तक जाया नहीं होता। मुजस्सिम कटी हुई फांकों की तरह शब्दों की कतारें अपने बीच में, अपने कोनों-अंतरों में हमें करीने से झांकने की सहूलियत देती हैं। इस भाषा के इतने अंदाज हैं, इतने तेवर और सब इतने सूक्ष्म और तहदार रचनागत सौंदर्य से जुड़े कि इन्हें सराहने के लिए आपको को भी उतना ही भाषा-चेतृस होना पड़ता है जितना कि स्वयं लेखक है।'[6] मलयज ने आगे अपने समीक्षा-लेख में इस 'अत्यंत स्वचेतन' भाषा के जिन खतरों का शिकार रघुवीर सहाय की कहानियों को बताया है उस पर विवाद और बहस की गुंजाइश है, लेकिन यह बहस 'रास्ता इधर से है' कहानी संग्रह के संदर्भ में ही हो तो अधिक उचित होगा (क्योंकि मलयज ने इसी कहानी संग्रह की कहानियों के ठोस संदर्भ में अपनी मान्यताएं रखी हैं)। फिलहाल इतना कहना यथेष्ट होगा कि 'सीढ़ियों पर धूप में' की कहानियां इन खतरों का शिकार नहीं हुई हैं।

रघुवीर सहाय की आत्मसजगता भाषा ही नहीं कला-दृष्टि या रचना-दृष्टि के संदर्भ में भी स्पष्ट लक्षित की जा सकती है। यह अकारण नहीं है कि 'सीढ़ियों पर धूप में' की अधिकांश कहानियों

में पाठक को लेखक की कला-दृष्टि या रचना-प्रक्रिया के संबंध में कुछ सूत्र अनायास ही हाथ लगते चलते हैं। इन सबको अगर एक जगह इकट्ठा कर लिया जाए तो रघुवीर सहाय की रचना-दृष्टि या कथा-दृष्टि बहुत हद तक व्यवस्थित रूप में हमारे सामने आ जाएगी, हालांकि ऐसा करने में कहानी के साथ अन्याय का खतरा होगा और संभवतः ये विचार-सूत्र भी संदर्भहीन होकर अपना अर्थ एक हद तक खो देंगे। रघुवीरजी ने अपनी कहानियों में अपनी रचना-प्रक्रिया के संबंध में पूरी सजगता के साथ चर्चा की है- कहीं प्रत्यक्ष के रूप में कहीं परोक्ष संकेतों के माध्यम से- 'खेल','उमस के बाहर','मेरे और नंगी औरत के बीच' तथा 'कहानी की कला' आदि ऐसी ही कहानियां हैं। हिंदी कविता में यह वह समय था जब नई कविता के कवियों ने अपनी रचना-प्रक्रिया के संबंध में कुछ-न-कुछ लिखना अपने कवि-कर्म का आवश्यक हिस्सा मान लिया था। रघुवीर सहाय 'नए' कवि भी हैं और 'नए' कहानीकार भी, अगर वे अपनी कहानियों में कहानी की रचना-प्रक्रिया की चर्चा करते हैं तो यह कोई अचरज की बात नहीं। पर 'कहानी की कला' में कहानी के अंदर रचना-प्रक्रिया की उन्होंने जितनी सूक्ष्म और विस्तृत चर्चा की है, वह हिंदी कहानी में पहली बार घटित हुआ है। इसलिए उसका अपना ऐतिहासिक महत्त्व है। यहां यह दुहराने की आवश्यकता नहीं कि अपनी रचना-प्रक्रिया के प्रति सजगता आधुनिकतावाद का एक बुनियादी लक्षण है।

'कहानी की कला' शीर्षक कहानी में एक स्थान पर रघुवीर सहाय ने लिखा है- 'घटना में दो व्यक्ति हैं। दोनों में एक मानवीय संबंध है यानी एक संबंध है जिसको लेकर दोनों वहां एकत्र होते हैं, फिर उस संबंध में बाधा आती है, वह विकल होता है, बदलता है, अचानक दूसरा हो जाता है। यह संबंध का बनना ही घटना है, यह घटना ही कहानी है।'[7] कहानी की कला के बारे में यह दूसरे लेखकों के संदर्भ में भी सच हो सकता है, लेकिन स्वयं रघुवीर सहाय की कहानियों के संदर्भ में तो यह पूरी तरह घटित होता है। पर यह जरूरी नहीं कि घटना में दो ही व्यक्ति शामिल हों दो से अधिक भी हो सकते हैं- और व्यक्ति ही क्यों कोई जीव-जंतु भी तो हो सकता है या फिर दुनिया की कोई भी वस्तु हो सकती है। आखिर मनुष्य के जानने-समझने के दायरे में जो कुछ भी आता है उसके साथ उसका एक रिश्ता तो बनता ही है। और रघुवीर सहाय के अनुसार रिश्ते के बनने या बदलने की घटना ही तो कहानी है। रघुवीर सहाय 'घटना' को बिलकुल नंगे रूप में- ठीक वैसा-ही जैसा कि वह घटा है- अपनी कहानी में पकड़ना चाहते हैं। कोई अतिशयोक्ति नहीं कोई कलात्मक आडंबर नहीं। बिना वजह अलंकारों का रेलमपेल नहीं। सिर्फ 'घटना'- ठीक वैसा-ही जैसा कि वह घटा है। क्योंकि घटना को बिलकुल नंगे रूप में पकड़ने का अर्थ ही है 'सत्य' को तमाम आडंबरों को हटाकर ठीक-ठीक पहचान लेना। और पहचानने की इस प्रक्रिया में मानवीय मूल्यों की खोज भी निहित है। इसलिए लेखक पुरानी कहानी के अभ्यस्त पाठकों और लेखकों से यह पूछता है, 'क्यों हम यह दिखाने की कोशिश करते हैं कि वह संबंध तभी बनता है जब उसके बनने की संभावनाएं सबसे कम होती हैं? क्यों हम बिना किसी अतिरंजित दृष्टि के वह घटना पहचान ही नहीं पाते और उसे पहचानकर चौंकते क्यों हैं, वह तो मानवीय है, स्वाभाविक है और उसमें कौतूहल क्यों पाते हैं, आनंद क्यों नहीं?'[8] कहानी के लगभग अंत में निष्कर्ष रूप में लेखक यह वक्तव्य देता है- 'वास्तव में सभी आनंददायिनी मानवीय घटनाएं स्वाभाविक हैं; यदि एक व्यक्ति श्रेष्ठ है तो उसकी श्रेष्ठता स्वयं महत्त्वपूर्ण है, किसी की क्षुद्रता उसे महत्त्व नहीं देती। ...कला यह नहीं है कि किसी गुण को प्रदर्शित करने के लिए दुर्गुणों

को अतिरंजित कर दिया जाय- न कला यही है कि जब कोई स्वाभाविक घटना घटे तो उसका ऐसे वर्णन किया जाय कि हम चौंक उठें। कला तो यह है कि हम उसमें रत मानवों के पारस्परिक संबंध को तुरंत देख सकें; जहां कोई ऐसा नहीं कर पाता, वहां उसे तरह-तरह के प्रयोगों का आश्रय लेना पड़ता है, अर्थात जीवन की सहज मानवीयता को देख पाता है और उससे कौतूहल नहीं आनंद ग्रहण कर पाता है वहीं सच्ची कला का जन्म होता है। वहां अनुभव के स्तर पर ही प्रयोग का आरंभ हो जाता है। कला तो जीवन के लिए है ही,जीवन भी कला के लिए हो जाता है।'

रघुवीर सहाय ने उपर्युक्त आदर्श को अपनी कहानियों में बखूबी निभाया है। अपनी इसी कहानी ('कहानी की कला') में वे जिस सहज मानवीयता को रेखांकित करते हैं, वह यह है- '...एक यात्री ने दूसरे से कहा,'भाई, जरा हमको भी बैठने दो।' दूसरे ने कहा,'नहीं, मैं आराम करूंगा।' पहला आदमी खड़ा रहा। उसे जगह नहीं मिली पर वह चुपचाप खड़ा रहा।

दूसरा आदमी बैठा रहा और देखता रहा। बड़ी देर तक वह उसे खड़े हुए देखता रहा। अचानक उसने उठकर जगह कर दी और कहा, 'भाई, अब मुझसे बरदाश्त नहीं होता। आप यहां बैठ जाइये।'[9] एक व्यक्ति को कष्ट में देखकर दूसरे व्यक्ति के मन में सहानुभूति का उपजना सहज मानवीयता ही तो है- एक 'निरपेक्ष मानवीय' सत्य।

इसी तरह से 'कला तो जीवन के लिए है ही, जीवन भी कला के लिए हो जाता है', इस वक्तव्य का सर्वोत्तम उदाहरण 'खेल','उमस के बाहर','इंद्रधनुष' जैसी कहानियां हैं। इन कहानियों में जैसे जीवन और कला अविभाज्य हैं,दोनों को अलगाया जा ही नहीं सकता। और यह कहना मुश्किल है कि लेखक 'कला' को समझने के क्रम में इन कहानियों को रचता चला गया है या जीवन को समझने के क्रम में कला की भी व्याख्या खुद-ब-खुद होती चली गयी है। फिर यहां यह प्रश्न पूछना कि इन कहानियों की सार्थकता लेखक की रचना-प्रक्रिया को समझने के संदर्भ में है या जीवन के ये कुछ दृश्य अथवा घटना इसलिए इकट्ठे कर लिए गए हैं कि ये मोहक हैं, सुंदर हैं और इसीलिए लिखकर संजोने लायक हैं? यह एक फिजूल प्रश्न बन जाता है।

जीवन और कला का घना रिश्ता 'मेरे और नंगी औरत के बीच' कहानी में भी देखने को मिलता है। यहां कुछेक उद्धरण दिए जा सकते हैं- 'औरों की तरह मैं भी आम तौर से किसी असाधारण व्यक्ति को देखकर प्रभावित हो जाता हूं, पर कभी भी वह प्रभाव मुझे यह अनुमति नहीं देता कि उस व्यक्ति को एक चरित्र बनाकर प्रस्तुत कर सकूं। ऐसा करना मेरे मन को उस व्यक्ति का सरासर अपमान करना जान पड़ता है। ...हां, यह संभव है कि उसकी असाधारणता को मैं देखना ही न चाहूं यानी उस वैचित्र्य को जिसे दुनिया देखेगी। जैसे कोई लूला है तो मैं यह न देखूं कि उसके एक हाथ नहीं है बल्कि सिर्फ यह देखूं कि वह एक आदमी है जिसके एक हाथ का न होना ही उसके शरीर का एक अंग है और बाकी सब उस पर छोड़ दूं। ...यह तो हुई मेरे कलाकार की मान्यता, पर इससे भी अलग एक मेरी अपनी मान्यता भी है और वह यह कि असाधारण व्यक्ति को साधारण करते समय जिस पद्धति से मैं गुजरता हूं उसे अपने लिए असाधारण रूप से महत्त्वपूर्ण मानता हूं; इसलिए कभी-कभी उसे याद रखने की भी कोशिश कर लेता हूं। दुर्भाग्य कि बस वहीं से कहानी बननी आरंभ हो जाती है।'[10] एक अन्य स्थान पर, 'वह बिलकुल स्थिर थी, कांप नहीं रही थी, न आसन बदल रही थी। मुझे लगा कि उसका वस्त्र और उसकी पीठ मिलकर एक हो गयी है : गहरे तक वह एक

हो गयी है और उसका रूपाकार भी उसी की देह में घुलमिलकर उससे संपृक्त हो गया है।'[11] और कहानी के लगभग अंत में, 'औरत को कुछ न हुआ। दो क्षण बाद वह हिली और अपने को अच्छी तरह उसने लपेट लिया। फिर हिलकर वह पहले सी हो गयी।

लेकिन नहीं, कंबल ने अपनी तरह-तरह की सिलवटों से उसको ढककर वह रूपाकार बिलकुल मिटा दिया जो थोड़ी देर पहले मैंने अंतिम बार आंख भरकर देखा था।

पर इससे भी अद्‌भुत बात एक और हुई। मैंने यह कहानी भी लिख डाली और उसे कम्बल भी उढ़ा दिया।'

'मेरे और नंगी औरत के बीच' कहानी और इस कहानी में व्यक्त लेखक की कला संबंधी धारणाओं पर हिंदी के एक महत्वपूर्ण कथा-आलोचक विजय मोहन सिंह पूरी तरह मुग्ध हैं या यह कहें कि 'विस्मय-विमूढ़' हैं तो अतिशयोक्ति नहीं होगी। उन्हीं के शब्दों में, 'मैं इसके बारे में पहले भी लिख चुका हूं कि किस प्रकार यह मानवीय संबंधों को पहचानने की पैनी तथा अत्यंत निजी पद्धति के भीतर से ही कला मात्र में 'रूप' और 'वस्तु' के संबंधों को ऐसी सहजता से समझा जाती है कि प्रायः विस्मय-विमूढ़ कर देने की सीमा तक अचानक हम यह भी समझ जाते हैं कि 'विचार' और 'रचना' कैसे, और कहां और किस बिंदु पर एक हो जाते हैं। मैं उन पंक्तियों को एक बार फिर उद्धृत करने का लोभ संवरण नहीं कर पा रहा हूं : 'मुझे लगा कि उसका वस्त्र और उसकी पीठ मिलकर एक हो गयी है और उसका रूपाकार भी उसी देह में घुल-मिलकर उससे संपृक्त हो गया है।'

अब यह रूपाकार का देह में मिलकर 'संपृक्त' हो जाना 'वस्तु' और 'रूप' की संपृक्ति नहीं तो और क्या है? हालांकि यह कहानी में देखने या निरीक्षण करने के क्रम में अनायास आ गया है, लेकिन वस्तु तथा रूप के संबंध की इससे अद्‌भुत व्याख्या और क्या होगी?'[12]

रघुवीर सहाय की इस दौर की कहानियों का सबसे प्रमुख विषय है- किसी भी प्राणी पर किए जाने वाले दया का विरोध, इन्हें हम विजय मोहन सिंह के शब्दों में 'दया के विरुद्ध' की कहानियां कह सकते हैं। दया के इस विरोध का कारण है कि जो व्यक्ति किसी व्यक्ति या अन्य प्राणी पर दया करता है वह अपने को श्रेष्ठ मानता है और जिस पर वह दया कर रहा होता है उसे क्षुद्र और कमजोर समझता है। रघुवीर सहाय वास्तव में किसी को क्षुद्र और कमजोर समझे जाने के खिलाफ हैं। किसी का पराजित या हीन स्थिति में होना उसकी परिस्थितिगत वास्तविकता हो सकती है उसके अस्तित्व की मूल वास्तविकता नहीं। इसलिए किसी प्राणी पर दया करना उसके अस्तित्व का अनादर करना है। 'एक जीता जागता व्यक्ति' कहानी में लेखक कोलतार की कीचड़ में फंसी एक 'आधी घरेलू-चिड़िया' के बारे में सोचता है- 'पर क्या वह खुद कोशिश नहीं कर रही है, उसे अपने आप न करने दूं। मैं समझ सकता हूं कि खुद कोशिश करने क्या अर्थ होता है और सहानुभूति एक जगह अनादर भी बन जा सकती है। वह इस समय एक महत्वपूर्ण संघर्ष कर रही है जैसे उसने जरूरी समझा है और जैसे वह ही कर सकती है। उसे करने दूं? अंत तक ले जाने दूं?- जैसे उसे सुखकर होगा।'[13] किंतु यह समस्या इतनी सरल नहीं है, क्योंकि 'दुःखी जनों के प्रति आर्द्र होना' बचपन से ही सिखाया जाता है। और इसी से जुड़ी समस्या 'कहानी की कला' की भी है- 'मगर क्यों? मैं इस कहानी को इस तरह क्यों कहूं? क्या इसलिए कि इस बहाने आप से कुछ देर और बात करने का मौका मिल जाय, या इसलिए कि उस मुसाफिर की मुसीबत का पूरा-पूरा भान आपको हो जाए, या इसलिए कि

आप उस पर दया करने लगें, तरस खायें कि देखो तो बेचारा किस मुसीबत में फंस गया बैठे-बिठाये, हालांकि बैठने की जगह उसे अभी नहीं मिली। क्या आपको ऐसे आदमी से कोई मानवीय सहानुभूति नहीं होगी जो न दयनीय हो, न आर्त हो वरन जो केवल कष्ट में हो? क्या मेरे पात्र का अतिरिक्त भाव से क्लांत होना आपकी सामान्य स्वाभाविक संवेदना पाने के लिए जरूरी है? अच्छा, समझा, आप चाहते हैं कि मेरी भाषा कुछ और चमत्कारिक हो और उसमें ऐसी जान हो कि नायक के प्रति आपका हृदय द्रवित हो जाय।'[14] कहने की आवश्यकता नहीं कि काव्यशास्त्र में भी आरंभ से ही एक प्रमुख विधान यह किया गया है कि वर्णन कुछ ऐसा 'चमत्कारिक' होना चाहिए कि भावुक का हृदय द्रवित हो उठे, क्योंकि बिना द्रवित हुए तो रसोद्रेक संभव ही नहीं है। ध्यान दें कि कला की समस्या यहां फिर जीवन की समस्या से कितने गहरे जुड़ गई है, बल्कि इसे यों कहना अधिक ठीक होगा कि जीवन की ही समस्या कला की भी समस्या बन गई है।

रघुवीर सहाय को जीवन और कला को इस तरह जोड़कर देखने की अद्‌भुत अंतर्दृष्टि प्राप्त है। इसलिए रघुवीर सहाय का संघर्ष या विरोध भी दोहरे स्तर पर है- वे जीवन में ही नहीं कला के रूप में भी या कलात्मक प्रविधि के रूप में भी दया का विरोध करते हैं। नई कहानी के दौर में जबकि कहानी से 'भावुकता' को निकाल बाहर करने का संघर्ष चल रहा था उस समय रघुवीर सहाय की 'दया के विरुद्ध' की ये कहानियां (जो अपनी तार्किक परिणति में अनिवार्यतः भावुकता विरोधी होंगी) अपना विशेष महत्त्व और अर्थ रखती हैं। और 'कहानी की कला' में तो रघुवीर सहाय जैसे अति भावुकता विरोध का एक मुकम्मल सिद्धांत ही रच देते हैं। कहना न होगा कि अति भावुकता और अति आदर्शवाद छायावाद-युग के साहित्य का सबसे प्रमुख चरित्र-लक्षण है। गौर से देखें तो ये दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। अति भावुकता जीवन-दृष्टि को धुंधला कर देती है, और ठोस एवं जटिल यथार्थ के ग्रहण में बाधक बन जाती है। नए कहानीकारों ने वैज्ञानिक ढंग से जीवन को समझने और 'अनुभूति की सच्चाई' को 'ईमानदारी' से अभिव्यक्त करने का रास्ता अपनाया। रूमानी भावुकता को छोड़कर यथार्थ के ठोस और खुरदरी जमीन पर चलने का साहस किया। नतीजतन नई कहानी के दौर में यथार्थ आग्रही गैर रोमांटिक-दृष्टि का विकास संभव हो पाया। बाद में चलकर नई कहानी के सबसे प्रतिष्ठित आलोचक नामवर सिंह ने अति भावुकता से मुक्त जीवन-दृष्टि और कला-दृष्टि को नई कहानी की पहचान और उसकी सार्थकता की जांच के लिए एक प्रमुख कसौटी के रूप में प्रयुक्त किया। रघुवीर सहाय को इस बात का श्रेय मिलना चाहिए कि उन्होंने अपने कहानी लेखन के लगभग आरंभ से ही अति भावुकता के विरुद्ध एक सशक्त वैचारिक मोर्चा खोल दिया। उन्होंने जीवन-दृष्टि और रचना-दृष्टि दोनों ही स्तरों पर रूमानी भावुकता का विरोध करते हुए कहानी लेखन का एक नया रास्ता निर्मित किया। 'कहानी की कला' में तो उन्होंने जैसे अति भावुकता विरोध का एक नया काव्यशास्त्र ही रच दिया- नई कहानी का अपना काव्य शास्त्र। यहां महत्वपूर्ण तथ्य यह भी है कि नामवरजी नई कहानी का आरंभ 'कहानी' पत्रिका के पुनर्प्रकाशन से मानते हैं, अर्थात 1954 से। और 'कहानी की कला' उस दौर की प्रतिष्ठित पत्रिका 'कल्पना' में अप्रैल 1953 में ही प्रकाशित हो चुकी थी। इस दृष्टि से इस कहानी का अपना ऐतिहासिक महत्त्व है। पर विडंबना यह है कि रघुवीर सहाय की कहानियों के इस महत्व को नई कहानी के दौर में या उसके ठीक बाद स्वीकारा नहीं गया।

रघुवीर सहाय की अपनी रचना-दृष्टि के प्रति आत्यंतिक सजगता, कहानी के अंदर ही 'कहानी

की कला' के संबंध में व्यवस्थित चिंतन और इस चिंतन के ठीक अनुरूप नई कहानी के दौर में महत्वपूर्ण कहानियां रचने के बावजूद 'नयी कहानी रू संदर्भ और प्रकृति' (1966) की भूमिका में देवीशंकर अवस्थी अगर यह लिखते हैं- 'पर जैसा कि अपनी एक टिप्पणी में इन पंक्तियों के लेखक ने अन्यत्र (अणिमा : 1; जनवरी' 65) कहा है कि 'नयी कविता' के कवियों-समीक्षकों को इस बात का बराबर अहसास रहा कि वे पूर्ववर्ती काव्यरुढ़ियों को तोड़ रहे हैं- उनसे हट रहे हैं इसलिए जहां एक ओर नयी रचनाशीलता का उन्मेष प्रकट होता है वहीं तमाम छायावादी काव्य-सिद्धांतों पर आक्रमण करते हुए नयी कविता के काव्य-सिद्धांतों की स्थापना भी होती चलती है।' पर कहानी में चूंकि अपने को अलगाने की चेष्टा बहुत बाद में शुरू हुई है, परिणामस्वरूप इसका साहित्यशास्त्र भी बहुत-कुछ अविकसित रहा और कहानी में पुरानेपन की चौखट को पूरी तरह से तोड़ने का काम नए कहानीकारों के बाद आने वाली पीढ़ी कर रही है। उस समय केवल राजेंद्र यादव ने ही परंपरा को एक सीमा तक अस्वीकार करने का साहस दिखाया था- कम-से-कम कहानी-विचार की दृष्टि से।'[15] तो इसे क्या कहा जाए? अवस्थीजी की दृष्टि की सीमा या 'पूरे परिदृश्य को ध्यान में रखने के लिए जिस परिश्रम और योग्यता की आवश्यकता होती है' उसकी अपेक्षाकृत कमी? वैसे इस मामले में राजेंद्र यादव और रघुवीर सहाय की तुलना दिलचस्प हो सकती है। चाहे नामवर सिंह हों या देवीशंकर अवस्थी भले ही इन दोनों को राजेंद्र यादव की कहानियां बहुत पसंद न हो, लेकिन इनके कहानी संबंधी आलोचनात्मक लेखन के केंद्र में ये मौजूद हैं। नई कहानी संबंधी विमर्श के केंद्र में भी राजेंद्र यादव उपस्थित हैं, पर रघुवीर सहाय हाशिए पर छूट जाते हैं। इसे किस रूप में समझा जाए? यादवजी की गुटबाजी या आत्म-प्रचार संबंधी योजनाओं की सफलता या फिर कुछ और? 'सीढ़ियों पर धूप में' की समीक्षा लिखते हुए 1967 में नागेश्वर लाल ने लिखा था- 'इस समय कहानी को लेकर कई आंदोलन चल रहे हैं या चलाये जा रहे हैं। उन सबसे उदासीन रहकर कोई लिखे तो इसे उसका सामर्थ्य भी मान सकते हैं। रघुवीर सहाय ने ऐसा किया है।'[16] नागेश्वर लाल जिसे 'सामर्थ्य' कह रहे हैं कहीं वही तो रघुवीर सहाय की कमजोरी नहीं बन गई? पर यह रघुवीर सहाय की कमजोरी है या हिंदी के आलोचकों के आलोचकीय विवेक की?

इस लेख के समापन के पूर्व एक-दो अन्य बातों की चर्चा आवश्यक जान पड़ती है। अपने कहानी संग्रह 'रास्ता इधर से है' की भूमिका में रघुवीर सहाय लिखते हैं- 'आपके लिए निश्चय ही इनका कोई महत्त्व न है न होना चाहिए कि मैंने ये कहानियां क्यों और कैसे लिखीं। परंतु यह जानकर मुझे, एक रचनाकार को, संतोष मिलता है कि इनमें से प्रत्येक रचना एक न एक विधा का विकल्प है रू बहुत करके कविता का क्योंकि वही मैं लिखना चाहता रहा हूँ। ज्यादातर।'[17] रघुवीर सहाय मुख्य रूप से कवि हैं और कविता नहीं लिख पाने के विकल्प के रूप में ज्यादातर ये कहानियां लिखी गई हैं। इसलिए कविता के कई गुण भी इसमें आ गए हैं। मैं पहले ही इस बात का उल्लेख कर चुका हूं कि अपने विशिष्ट लय-विधान, सुर और ताल के कारण ये कहानियां कविता की प्रतिद्वंद्वी जान पड़ती हैं। पर भाषा ही नहीं विषय-वस्तु के प्रति व्यवहार के मामले में भी ये कहानियां कविता के निकट प्रतीत होती हैं। ये मुख्य रूप से अनुचिंतनात्मक शैली में लिखी गई हैं। रोजमर्रा की किसी मामूली घटना के इर्दगिर्द सोच-विचार करते हुए ये कहानियां निर्मित होती हैं। इनकी भाषा भी आत्मोन्मुखी है; इसलिए कुछेक कहानियां आत्मपरक कविता का आभास देती हैं।

यहां यह भी नोट करना आवश्यक है कि रघुवीर सहाय की कई कहानियों का मूल्यांकन नई कहानी के प्रचलित प्रतिमानों पर संभव नहीं है क्योंकि ये कहानियां न तो जीवन या समाज में व्याप्त 'अंतर्विरोध', 'द्वंद्व', 'संक्रांति' अथवा 'विडंबना' को पकड़ने की कोशिश करती हैं और न ही जीवन-मूल्यों का संघर्ष चित्रित करती हैं। कथाकार ने मानव जीवन में अकसर घटने वाली अत्यंत साधारण घटनाओं का वर्णन कुछ इस तरह से रुचि लेकर किया है कि उनमें एक विशिष्ट सौंदर्य उत्पन्न हो गया है और यह सौंदर्य ही उन घटनाओं और कहानियों को सार्थकता प्रदान करता है। स्वाभाविक है कि इन कहानियों को पढ़कर पाठकों को भी छोटी-छोटी घटनाओं वाला यह मानव जीवन अधिक सार्थक, सुंदर, गरिमामय और इसीलिए जीने लायक जान पड़ता है। जिस दौर में हिंदी के कुछेक कवि और कथाकार अस्तित्ववादी व्यर्थता-बोध से प्रभावित दिखाई पड़ते हैं उसी दौर में इन कहानियों की रचना अपना विशेष महत्त्व रखती हैं। ऐसी कहानियां हैं- 'खेल','लड़के','उमस के बाहर' और 'मुक्ति का एक क्षण'।

अंत में यह कहा जाना चाहिए कि रघुवीर सहाय की कहानियां नई कहानी के दौर में एक महत्वपूर्ण रचनात्मक हस्तक्षेप का काम करती हैं। इनसे हिंदी कहानी-लेखन का एक नया रास्ता निर्मित होता है। ये वास्तव में नई कहानियां हैं। इसलिए नई कहानी का इतिहास जब भी लिखा जाएगा रघुवीर सहाय की कहानियों की चर्चा के बिना अधूरा माना जाएगा।

संदर्भ :

1. देखें कहानी : नयी कहानी, नामवर सिंह, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, संस्करण : 1989
2. विजय मोहन सिंह,'दया के विरुद्ध'- रघुवीर सहाय, विष्णु नागर/असद जैदी (सं.), आधार प्रकाशन, पंचकूला (हरियाणा), प्रथम संस्करण : 1993, पृ. 34
3. सच्चिदानंद वात्स्यायन (सं.),'भूमिका'- 'सीढ़ियों पर धूप में', रघुवीर सहाय, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथम संस्करण : 1960, पृ. 8-9
4. देखें 'हिंदी कविता के संदर्भ में आधुनिकतावाद का प्रश्न', संजय कुमार, समकालीन जनमत, अक्टूबर, 2004
5. मलयज, 'संवाद और एकालाप', राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1984, पृ. 128-129
6. वही, पृ. 130
7. रघुवीर सहाय, 'सीढ़ियों पर धूप में', पृ. 81
8. वही, पृ. 81, 9. वही, पृ. 82, 10. वही, पृ. 62-63, 11. वही, पृ. 64
12. विजय मोहन सिंह,'दया के विरुद्ध'- रघुवीर सहाय, पृ. 40
13. रघुवीर सहाय, 'सीढ़ियों पर धूप में', पृ. 58-59
14. वही, पृ. 76-77
15. डॉ. देवीशंकर अवस्थी (सं.), 'नयी कहानी : संदर्भ और प्रकृति', राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1993, पृ. 15
16. नागेश्वर लाल, 'साधारणता में असाधारणता'- माध्यम (पत्रिका), जनवरी, 1967, पृ. 78
17. सुरेश शर्मा (सं.), रघुवीर सहाय रचनावली, खंड- 2, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पहला पेपरबैक संस्करण : 2013, पृ. 25

अंक के रचनाकार

- **शंभु गुप्त-** प्रोफेसर, स्त्री अध्ययन विभाग, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, गांधी हिल्स, वर्धा-442001, (महाराष्ट्र) 8600552663
- **चित्रा मुद्गल -** बी-105, वर्धमान अपार्टमेंट्स, मयूर विहार फेस-1, दिल्ली-110091, 9873123237
- **सत्यकेतु सांकृत-** एसोसिएट प्रोफेसर, हिंदी विभाग, अंबेडकर विश्वविद्यालय दिल्ली, लोथियन रोड, कश्मीरी गेट, दिल्ली-110006, 8826252403
- **शैलेंद्र चौहान-** 34/242, प्रताप नगर, सेक्टर-3, जयपुर (राज.), 7838897877
- **ज्योतिष जोशी-** डी-4/37, सेक्टर-15, रोहिणी, दिल्ली-110084, 9818603319
- **शशिकला त्रिपाठी-** सृजन, बी-31/41, ए-एस, भोगाबीर संकटमोचन, वाराणसी, (उ.प्र.), 9936439963
- **चंद्रकांता-** 3020, सेक्टर-23, गुडगांव-122017 (हरियाणा), 9810629950
- **महीप सिंह-** सी-1/407, पालम विहार, गुडगांव, (हरियाणा)
- **नासिरा शर्मा-** डी-37/754, छतरपुर पहाड़ी, नई दिल्ली-110030, 011-26303140
- **साधना अग्रवाल-** बी-19/एफ, दिल्ली पुलिस अपार्टमेंट्स, मयूर विहार, फेस-1, दिल्ली-110091, 9891349058
- **लीलाधर मंडलोई-** संपादक, नया ज्ञानोदय, भारतीय ज्ञानपीठ, 3 इंस्टीट्यूशनल एरिया, लोदी रोड, नई दिल्ली-110003
- **दिनेश कुशवाह-** आचार्य, हिंदी विभाग, अवधेश प्रताप सिंह विश्वविद्यालय, रीवा (म.प्र.), 9425847022
- **अविनाश मिश्र-** पाखी मासिक, बी-107, सेक्टर-63, नोएडा-201303,(उ.प्र.), 9818791434
- **दिविक रमेश-** बी-295, सैक्टर-20, नोएडा-201301 (उ.प्र.), 9910177099
- **माधव हाड़ा-** बी-404, सिल्वर स्क्वायर, न्यू विद्यानगर, हिरणमगरी, सेक्टर नं-4, उदयपुर (राज.), 9414325302
- **भारत यायावर-** यशवंत नगर, मार्खम कालेज के निकट, हजारीबाग-825301, (झारखंड), 9835312665
- **भरत प्रसाद-** सहायक प्रोफेसर, हिंदी विभाग, पूर्वोत्तर पर्वतीय विश्वविद्यालय, नेहू परिसर, शिलांग-793022, 9863076138
- **चाओ वाई-** हिंदी विभाग, ओरिएंटल लैंग्वेज स्कूल, बीजिंग इंटरनेशनल स्टडीज यूनिवर्सिटी, बीजिंग-166624 (चीन)
- **रूपा सिंह-** डी-10, ग्राउंड फ्लोर, बली नगर, राजौरी गार्डन, नई दिल्ली-110015, 7838491696
- **संजय कुमार-** एसोसिएट प्रोफेसर, हिंदी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली-110007, 9868465200

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा

सदस्यता आवेदन-पत्र

बिक्री एवं प्रसार कार्यालय
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा-442001 (महाराष्ट्र)

'बहुवचन' वार्षिक सदस्यता शुल्क	: बैंक ड्राफ्ट से	रु. 300/- व्यक्तिगत
		रु. 400/- संस्थाओं/पुस्तकालयों के लिए
'बहुवचन' द्विवार्षिक सदस्यता शुल्क	: बैंक ड्राफ्ट से	रु. 600/- व्यक्तिगत
		रु. 800/- संस्थाओं/पुस्तकालयों के लिए
'पुस्तक-वार्ता' वार्षिक सदस्यता शुल्क	: बैंक ड्राफ्ट से	रु. 120/- व्यक्तिगत
		रु. 180/- संस्थाओं/पुस्तकालयों के लिए
'पुस्तक-वार्ता' द्विवार्षिक सदस्यता शुल्क	: बैंक ड्राफ्ट से	रु. 240/- व्यक्तिगत
		रु. 360/- संस्थाओं/पुस्तकालयों के लिए
बहुवचन/पुस्तक वार्ता का संयुक्त एक वर्षीय शुल्क		रु. 420/- व्यक्तिगत
		रु. 580/- संस्थाओं/पुस्तकालयों के लिए

(कृपया मनीऑर्डर एवं चेक नहीं भेजें।)

ड्राफ्ट **'महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा'** के नाम देय होगा और उसे निम्नलिखित पते पर भेजने की कृपा करें। किसी भी राष्ट्रीयकृत बैंक का ड्राफ्ट स्वीकार्य होगा।

प्रकाशन प्रभारी
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा-442001 (महाराष्ट्र)
पोस्ट- हिंदी विश्वविद्यालय, गांधी हिल्स
वर्धा-442001 (महाराष्ट्र)
फोन नं. : 07152-232943

ज्ञान शांति मैत्री

'बहुवचन/पुस्तक-वार्ता' पत्रिका के एक वर्षीय/द्विवर्षीय/संयुक्त सदस्यता के लिए रुपये .... का बैंक ड्राफ्ट संख्या .... दिनांक .... संलग्न कर रहा हूं/कर रही हूं, कृपया मेरी प्रति निम्नलिखित पते पर भिजवाएं :

नाम : --

पता : --

---**पिन कोड :** ------------------------------------

दूरभाष : ---**ई-मेल :** ---

दिनांक : .... (सदस्य के हस्ताक्षर)